भूमिका

यह पुस्तक फुटकर साहित्यिक निबन्धो का सग्रह नही है। इसके सभी निबध एक ही ग्रन्थ के विभिन्न अध्याय है और वे विभिन्न दिशाओ से एक ही विषय पर प्रकाश डालते हैं।

कविता की चर्चा केवल कविता की चर्चा नही रहती, वह समस्त जीवन की चर्चा बन जाती है। ईश्वर, कविता और क्रान्ति, ये जीवन के समुच्चय मे प्रवेश किये बिना समझे नही जा सकते।

नयी कविता का आन्दोलन यूरोप मे लगभग सौ वर्षो से चल रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि वह अब भी पुराना नही पडा है। उसके भीतर से बराबर नये आयाम प्रकट होते जा रहे है, बराबर नयी चिनगारियाँ छिटकती जा रही हैं। रोमाटिक युग तक कविता किसी निश्चित चौखटे मे जडी देखी जा सकती थी। किन्तु, उसके बाद से वह दिनो-दिन हर प्रकार के चौखटे से घृणा करती आयी है। आज अन्तर्राष्ट्रीय काव्य जहाँ खडा है, वहाँ केवल आसमान ही आसमान है, कही कोई क्षितिज दिखायी नही देता। इसीलिए, पुरान आलोचको को नयी कविता को छूने मे अप्रियता और कुछ सकोच का भी अनुभव होता है।

वर्त्तमान पुस्तक इसी महान् आन्दोलन के समझने का विनम्र प्रयास है।

नयी कविता का प्रवर्तन पिछली शताब्दी मे फ्रास मे हुआ था। अगरेजी मे, क्रमबद्ध रूप मे, यह आन्दोलन प्रथम विश्वयुद्ध के आस-पास आरम्भ हुआ और भारतवर्ष मे यह द्वितीय विश्वयुद्ध के आस-पास पहुँचा है।

इस विलम्ब का मुख्य कारण यह रहा कि यूरोप की बौद्धिक विरासत तक पहुँचने का हमारा माध्यम अँगरेजी भाषा थी और खुद अँगरेजी भाषा मे यह आन्दोलन काफी देर से पहुँचा। अँगरेजी मे बोदलेयर, रेम्बू और मलार्मे के अनुवाद प्रथम विश्वयुद्ध के काफी बाद प्रकाशित होने लगे। जब तक अँगरेजी के कवियो की दृष्टि नवीन नही हुई, भारत के लेखको और कवियो को यह पता नही चला कि यूरोप मे काव्य के क्षेत्र मे बडी भारी क्रान्ति हो गयी है। हम लोगो की पीढ़ी तो रोमाटिक युग के साहित्य पर पली थी और कालेजो मे हम पर आखिरी छींटे विक्टोरिया-युगीन काव्य के पडे थे। यूरोपीय क्रान्ति के सन्देश हमे सीधे यूरोप से नही मिले। इस क्रान्ति की शिक्षा भी हमे अँगरेजी के कवियो, विशेषत, इलियट और एजरा पौड के द्वारा प्राप्त हुई।

यूरोप की साहित्यिक क्रान्ति इलियट मे आकर समाप्त नही होती है। इलियट पीछे छूट गये हैं और क्रान्ति आज भी आगे जा रही है। यह बात और है कि जिनका निर्माण रोमांटिक कविताओं के वातावरण मे हुआ था, वे लोग रिल्के और इलियट के पास तो प्रेम से बैठने हैं, मगर उनके बाद वाली धारा को वे सहजता से स्वीकार नहीं कर सकते।

फिर भी, नया काव्य हमारी शान्ति भंग करने में समर्थ है. वह हमारी आत्मा के सरोवर में हिलकोर उठा सकता है। आत्मा के निस्पन्द सरोवर मे जब हल्की-सी भी हिलकोर उठती है, आदमी बडे ही सूक्ष्म आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा आनन्द मैंने देश और विदेश के कितने ही नये कवियो में पाया है और मन-ही-मन मैं उन सबका कृतज्ञ रहा हूँ।

नयी कविता हमेशा शुद्ध कविता नही होती, न सभी श्रेष्ठ काव्य शुद्ध काव्य के उदाहरण होते हैं। फिर भी, मुझे यही दिखाई पडा कि शुद्धता को लक्ष्य मान कर चलने से काव्य का नया आन्दोलन समझ में कुछ ज्यादा आता है। इसीलिए मैंने जहाँ-तहाँ से सामग्रियाँ बटोर कर शुद्धतावादी आन्दोलन का इतिहास खडा किया है और कविता की अनेक समस्याओं पर उसी दृष्टिकोण से विचार किया है। कविता लिखने की बनिस्बत कविता के बारे मे लिखना कहीं मुश्किल काम है। उस पर भी कविता के नये आन्दोलन की व्याप्तियाँ इतनी पिच्छल, दूरगामी और दुरूह है कि उन्हे एक पुस्तक के भीतर समेटने का काम असम्भव पाया गया है। अतएव, यह पुस्तक भी विद्वानों को अधूरी प्रतीत हो, तो यह कोई अचरज की बात नही होगी।

कविता अगर यह व्रत ले ले कि वह केवल शुद्ध होकर जियेगी, तो उस व्रत का प्रभाव कविता के अर्थ पर भी पडेगा, कवि की सामाजिक स्थिति पर भी पडेगा, साहित्य के प्रयोजन पर भी पडेगा। ऐसे जो भी प्रश्न मुझे सूझ सके, उनका विवेचन, अपने जानते, मैंने स्पष्टता से किया है। अप्रीतिकर बात यह है कि दो-चार तर्कों का उपयोग कई प्रसगों मे मुझे बार-बार करना पडा है। आशा है, पाठकों को यह बात उतनी नही अखरेगी, जितनी मुझे आशंका है।

हिन्दी के जो लेखक, कवि और पाठक अँगरेजी अथवा किसी अन्य विदेशी भाषा के द्वारा पाश्चात्य साहित्य के सीधे सम्पर्क में नहीं है, इस पुस्तक का उद्देश्य विशेषत उन्हीं के साथ वार्तालाप करना है।

२, साउथ एवेन्यू लेन,
नई दिल्ली
८ सितम्बर १९६६ ई०

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

विषय-सूची

शुद्ध कविता की खोज

कविता और शुद्ध कविता

जिसे हम शुद्ध कविता कहते है, वह साहित्य की कोई सर्वथा नवीन विधा नहीं है। जब से मनुष्य ने काव्यकला का आविष्कार किया, शुद्ध कविता की रचना वह तभी से करता आ रहा है। किन्तु, पहले उसे यह पता नही था कि जो कुछ वह लिखता है, उसमे दो प्रकार की कविताएं होती हैं। एक वे, जिनका उद्देश्य केवल आनन्द-दान होता है और दूसरी वे, जिनमे आनन्द के साथ कुछ ज्ञान भी रहता है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कुछ उपदेश भी रहते हैं तथा, दूर पर कही, किसी कर्तव्य की प्रेरणा भी रहती है। शुद्ध कविता को अब शुद्ध कविता कहने का रिवाज है, किन्तु, जो कविताएँ परिभाषा के अनुसार ठीक ठीक शुद्ध नही है, उन्हे क्या कहा जाना चाहिए ? उनका एक ढील ढाला सामान्य नाम सोद्देश्य काव्य चलता है।

जब कविता का आविष्कार हुआ था, विद्या का विभाजन शाखाओ मे नहीं हो पाया था, न आदमी को यही मालूम था कि ज्ञान और भाव के बीच भी भेद है। किन्तु, कुछ समय बीतने पर साहित्य शास्त्र के आचार्यों का आविर्भाव हुआ और उन्होने यह अनुभव किया कि कविता का काम ज्ञान का कथन नही, केवल भावो का आख्यान है। इसलिए उन्होंने भावो की छानबीन की, उनका नौ जातियो में वर्गीकरण किया (जो साहित्य के नौ मूल भावो के रूप मे प्रसिद्ध हैं) और कितने ही ऐसे क्षणस्थायी भावो को भी स्वीकार किया, जो साहित्य के सचारी भाव कहलाते हैं।

यदि आचार्यों का बस चलता तो साहित्य मे केवल भाव-ही-भाव होते, उसमे उपदेश अथवा ज्ञान की बातें कभी आती ही नही। किन्तु, यह सभव नहीं हुआ। कुछ कवि तो मुख्यत भावो तक ही सीमित रहे (जैसे हाल, गोवर्धन, अमरुक, जयदेव बिहारीलाल, गालिब आदि), किन्तु, बाकी कवियो ने भावो के साथ ज्ञान को भी मिला दिया और आचार्यों के बनाये हुए नियमो के विरुद्ध वे ही अधिक शक्तिशाली भी निकले। फिर आचार्यों ने उनकी महिमा को भी स्वीकार किया और साहित्य मे एक मान्यता चल पड़ी कि कविता का प्रयोजन सद्य आनन्द दान भी है और वह उपदेश भी देती है।

कविता का ध्येय ज्ञान है या आनन्द, इस विषय मे प्राचीन आचार्यों का मत

एकांगी नही था। चूंकि शिवत्व पर उनका बहुत जोर था, इसलिए, ज्ञान और नैतिकता का काव्य मे प्रवेश वे स्वाभाविक मानते थे। किन्तु, सब मिलाकर भारत मे भी काव्य मे ज्ञान की अपेक्षा आनन्द का पलडा भारी रहा था। कविता का एक ध्येय, अप्रत्यक्ष रूप से, ज्ञान का भी दान है, इस मत का काफी जोर से प्रतिपादन भामह और मम्मट ने किया है। भामह ने लिखा है कि साहित्य मे 'स्वादु काव्य के रस से युक्त शास्त्र का भी उपयोग किया जाता है। पहले लोग शहद चाट कर पीछे कड़वी दवाई पीते है।' और मम्मट ने शहद से लिपटे शास्त्रीय ज्ञान को कान्ता-सम्मित उपदेश कहा है। किन्तु, वामन ने ऐसी कोई बात नही कही। वे काव्य का प्रयोजन प्रीति और कीर्त्ति को मानते हैं। किन्तु, अभिनव गुप्त ने कीर्त्ति को भी कवि का अतिरिक्त प्रयोजन माना है। उनका विश्वास है कि काव्य का सर्वप्रधान प्रयोजन आनन्द की साधना है। "आनन्द एव पार्यन्तिक मुख्य फलम्।" और हमारा खयाल है कि पण्डितराज जगन्नाथ भी आनन्दवादी ही हैं। रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्, इस परिभाषा मे रमणीयता से तात्पर्य उस विषय से है जो (शास्त्रीय नही) अलौकिक ज्ञान से सपृक्त है। पण्डितराज के मत में अलौकिकत्व चमत्कारत्व का ही पर्याय है। "वह एक विशेष प्रकार की आनन्ददायिनी अनुभूति है।"

प्राचीन और मध्यकालीन युगों मे सोद्देश्यता काव्य का दोष नही मानी जाती थी, किन्तु, आधुनिकता की निगूढ व्याप्तियां जैसे जैसे खुलती जाती हैं सोद्देश्यता काव्य का दुर्गुण बनती जाती है। सदेशवाही कवि पहले के समाज मे आदरणीय व्यक्ति था और लोग चर्चा के दौर मे उसके विचारो का हवाला देते थे, उसकी पक्तियो को उद्धृत करते थे। किन्तु, अब जो कविताएँ जितनी ही अधिक आधुनिक होती हैं, वे उतनी ही जीवन और कर्म से अधिक दूर होती हैं। उनका उद्देश्य मनुष्य को ज्ञान देना नही, उसकी चेतना को चौंकाना होता है। अतएव, कर्मरत समाज उनके भीतर अपने लिए कोई प्रेरणा नहीं पा सकता, न वह इन कविताओ के प्रति कोई श्रद्धा रखता है।

जैसे पहले के साहित्य मे शुद्ध और सोद्देश्य के बीच भेद नही था, उसी प्रकार पुरानी कविताओ मे भाव और विचार के बीच भी विभाजन नही चलता था। साहित्य विचारो नहीं, भावो से उत्पन्न होता है, यह मान्यता पहले भी चलती थी, किन्तु, जो विचार भावो की सहायता करने को अथवा उनकी लपेट मे आते हैं, उनका वर्जन या बहिष्कार पहले नही किया जाता था। कविता का प्रतिलोम गद्य नही, विज्ञान है और जो बातें वैज्ञानिक तर्कों के साथ कही जाती है, वे छन्दयुक्त होने पर भी काव्य नही हो सकतीं, इस सिद्धान्त मे लोग दृढता के साथ विश्वास करते थे। इसका प्रमाण यह है कि छन्दोबद्ध होने पर भी आयुर्वेद और ज्योतिष भारत मे काव्य नहीं, विज्ञान ही माने जाते थे।

आधुनिक काव्यशास्त्र में भाव और विचार का द्वन्द्व अत्यन्त प्रखर हो उठा है, किन्तु, सिद्धान्त के स्तर पर आज तक भी उस फारमूले का पता नहीं लगाया जा सका, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि यह भाव है और यह विचार, अतएव, इसे कविता में रहना चाहिए और इसे नहीं रहना चाहिए। इलियट ने इस समस्या का समाधान यह कहकर किया है कि कविता विचार के भाव-पक्ष (एमोशनल इक्विवेलेंट आव् थाट) को लेकर काम करती है। किन्तु, मनोविज्ञान कहता है कि दुनिया में जितने भी विचार हैं, वे, आरंभ में, भावों के रूप में ही उत्पन्न हुए थे और वे, शनैः-शनैः, स्वच्छ होकर विचारों के स्तर पर पहुँचे हैं। विचार और कुछ नहीं, भाव का स्फटिक-रूप है।

लेकिन सिद्धान्त के स्तर पर भाव और विचार का विभाजन चाहे जितना कठिन हो, व्यवहार में वह उतना कठिन नहीं है।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई,
छविगृह दीपसिखा जनु बरई।

यह कविता केवल भाव की कविता है, क्योंकि उसमें ज्ञान-दान का प्रयास नहीं है, उपदेश की महक और सोद्देश्यता की गन्ध नहीं है। वह केवल सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न हुई है और सौन्दर्य का दर्शन कराने के बाद ये पंक्तियाँ और कुछ कहना नहीं चाहती।

किन्तु,

ज्ञान को पन्थ कृपान को धारा,
परत खगेस न लावइ बारा।
जो निर्विघ्न पन्थ निरबहई,
सो कैवल्य परम पद लहई।

यह कविता भाव नहीं, विचार की कविता है। वह सोद्देश्य है। वह एक नैतिकता का प्रचार करती है, एक प्रकार के कर्तव्य की प्रेरणा देती है।

इसी प्रकार,

अलक मुबारक तिय वदन लटकि परी यों साफ,
खुशनवीस मुंशी मदन लिख्यो कांच पर काफ।

मुबारक के इस दोहे में कोई भी विचार नहीं है। वह केवल सौन्दर्यानुभूति की कविता है। यह दोहा शुद्ध कविता का उदाहरण है, क्योंकि कवि यहाँ कोई ज्ञान-कथन न करके केवल एक चित्र दिखाना चाहता है। किन्तु,

रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ?

रहीम का यह दोहा शुद्ध कवित्व का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि आँसुओं के वर्णन के साथ-साथ कवि ने यहाँ मनुष्यों को उपदेश दिया है। और इस उपदेश

का लक्ष्य एक कर्तव्य है अर्थात् जो व्यक्ति तुम्हारे रहस्य को जानता है, उसे घर से मत निकालो। यह कविता भाव नहीं, विचार की कविता मानी जायेगी।

कविता में ज्ञान जहाँ भी प्रवेश करता है, वह किसी-न-किसी कर्म की प्रेरणा से सपृक्त होता है। किन्तु, तब भी ऐसे कवि हुए हैं, जो यह मानते थे कि कविता चाहे सोद्देश्य ही हो, किन्तु, रचना उसकी स्वान्त सुखाय ही की जाती है। ऐसे कवि गोस्वामी तुलसीदास थे, जिनके यहाँ विचारों का बहिष्कार नहीं है, यद्यपि गान वे अपने ही अन्त सुख के लिए करते हैं। और यही लक्षण उन सभी महाकवियों पर घटता है, जिन्हें हम शताब्दियों से पूजते आये हैं।

जो कवि स्वांत सुखाय रचना करता है, उसकी कविताओं में यदि विचारों का प्राचुर्य दिखायी पड़े, तब भी यह कहने का कोई आधार नहीं है कि यह कवि स्वान्त सुख की बात व्यर्थ करता है, असल में, वह जीवन पर अपना प्रभाव डालने को बेचैन है। क्योंकि जीवन को प्रभावित करने की उमग भी यद्यपि अन्त सुख देनेवाली उमग हो सकती है, लेकिन, कवि के आत्मानन्द का कारण यह कभी नहीं होता कि ससार को वह अपनी कल्पना से प्रभावित होते देखता है, बल्कि, उसका आनन्द रचना की प्रक्रिया से आता है, अपने भावों को ठीक से समझने और उन्हें मूर्त्त रूप देने से उत्पन्न होता है। 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त बार-बार खडित किये जाने पर भी सत्य है। कवि को यदि रचना की प्रक्रिया से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं हो, तो उसकी कविता से पाठकों को भी आनन्द नहीं मिलेगा। कला की सारी कृतियाँ पहले अपने आप के लिए रची जाती हैं। अगर कदम कदम पर वे कलाकार को आनन्दमग्न करके उसे अपने ऊपर आसक्त न रख सकें, तो उन कृतियों का निर्माण ही असभव हो जाये। अतएव, इस सत्य से इनकार सभव नहीं है कि जिन सत्कवियों में विचारों का आधिक्य रहता है, वे भी अपने काव्य की रचना, सबसे पहले, आनन्द के लिए ही करते हैं। समाज पर उनकी कविताओं का जो प्रभाव पडता है, वह रचना की प्रेरणा नहीं, उसका परिणाम है।

जो कवि ज्ञान का उपयोग करता है, उसकी कविताएँ, कहीं न-कहीं जाकर, कर्तव्य को प्रेरित करती हैं। किन्तु, जो केवल भावनाओं को लेकर चलता है, वह सौन्दर्य दिखाने के बाद और कोई काम नहीं करता। तुलसीदास में भावना और ज्ञान, दोनों का प्राचुर्य है, किन्तु, गोस्वामी जी इस बात से लज्जित नहीं थे कि उन्होंने अपने को भावनाओं तक ही सीमित क्यों नहीं रखा। लेकिन, रवीन्द्रनाथ में हम इस सकोच का किंचित् आभास पाते हैं। 'जब मैं कर्म करता हूँ, भगवान मेरा आदर करते हैं। जब मैं गान करता हूँ, वे मुझे प्यार करते हैं।' इस उक्ति में कर्म से तात्पर्य कर्तव्य की कविता से भी है, जिसे हम सोद्देश्य काव्य कहते हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर सभी कवि हमें दो श्रेणियों में विभक्त दिखायी

देते हैं। एक श्रेणी उन कवियों की बनती है, जो अपनी आनन्ददायिनी कला का उपयोग मुख्यत जीवन को प्रभावित करने के लिए करते हैं, सभ्यता को परिवर्तित करने अथवा उसके मूल्यो की रक्षा करने को कहते हैं। और दूसरी श्रेणी मे वे कवि आते हैं, जिनका ध्येय मुख्यत भावो का निरूपण, सौन्दर्य का चित्रण और अनुभूतियों का आख्यान है। वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास, टालस्टाय, इकबाल और काजी नजरुल इस्लाम को हम पहली श्रेणी मे रखेंगे और दूसरी श्रेणी मे कालिदास, बाण भट्ट, अमरुक, हाल, जयदेव, रहस्यवादी कबीर, सूरदास, विद्यापति, बिहारीलाल, गालिब और महादेवी आदि का स्थान होगा। यदि हम चाहे तो यह भी कह सकते हैं कि पहली श्रेणी के कवि कवि हैं, और दूसरी श्रेणी के कवि कलाकार हैं। काव्यकला का विलक्षण उपयोग तो दोनो श्रेणियो के मनीषी करते है, किन्तु, जिसके भीतर कर्तव्य की चेतना होती है, उसकी रचना मे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, कोई उद्देश्य भी होता है। किन्तु, जो कवि केवल सौन्दर्य का प्रेमी है, वह शुद्ध कलाकार बन जाता है।

कवि और कलाकार का यह विभाजन वैध नहीं है, फिर भी, इस काल्पनिक विभाजन से समस्या पर थोडा प्रकाश पडता है। कवि और कलाकार मे से किसका काम बडा है? दोनो म से कौन है जो कविता के लिए अधिक अनिवार्य है? हमारा ख्याल है, सिद्धान्त के धरातल पर इस प्रश्न का जो उत्तर निकलेगा, वह कवियो के खिलाफ जायेगा, क्योकि कवि शब्द के भीतर यहाँ हमने जो अर्थ रखा है, उसे देखते हुए कहा यही जा सकता है कि कवि की सहायता के बिना कलाकार का काम तो चल सकता है, किन्तु, कलाकार का गुण अपनाये बिना कोई भी कवि कवि नही रह सकता। कलाकार कवि पर अवलबित नही है, किन्तु, कवि की निर्भरता कलाकार पर है। कविता जिन विशिष्ट गुणो के कारण शास्त्र से भिन्न समझी जाती है, वे गुण कलाकार के गुण हैं। अगर कवि इन गुणो को नही अपनाये तो फिर उसके उपदेशो का भी वही हाल होगा जो हाल धर्माचार्यों, दार्शनिकों और राजनीतिज्ञो के उपदेशों का होता है। अतएव कवि की भी प्रभविष्णुता का उत्स उसके ज्ञान और अनुभव मे नही, बल्कि, उसकी कलाकारिता मे होता है। आनन्द उत्पन्न करने की शक्ति कला की शक्ति है। ज्ञान आनन्ददायी इसलिए बन जाता है कि कला उसका साथ देती है। अतएव, कवि की महत्ता उसके ज्ञान नहीं, कला के कारण होती है।

अब तक के साहित्य मे महिमा उनकी रही थी, जो ज्ञान को उचित मात्रा मे आनन्द से मिलाकर अपने काव्य की रचना करते थे। किन्तु, अब कविता चाहती है कि प्रभविष्णु होने के लिए वह ज्ञान से मैत्री नही करेगी। जैसे प्रत्येक विद्या केवल अपनी शक्ति से जीती है उसी प्रकार कविता भी केवल अपनी ही शक्ति से जियेगी। इसीलिए, वह सपूर्ण शुद्धता की तलाश मे है। और शुद्धता से तात्पर्य इस बात से

है कि कविता की पूजा इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वह समाज के लिए किसी स्थूल उपयोग की वस्तु है, बल्कि, इसलिए कि वह मनुष्य की एक शक्ति है, चीजों को देखने की एक दृष्टि है, वह एक ऐसा यन्त्र है जिससे मनुष्य का वह रूप पकड़ा जाता है, जिस रूप को ग्रहण करने अथवा समझने मे अन्य सभी विद्याएँ असमर्थ हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि साहित्य के इतिहास मे जो भी लोग कवि के पक्षपाती रहे हैं (टालस्टाय, इकबाल, रामचन्द्र शुक्ल), वे मानते थे कि साहित्य स[illegible]
च[illegible]
नाथ) पक्षपात कलाकार के साथ था, वे उपयोगिता मे विश्वास नहीं करते थे। क्रोसे का कहना था कि कला उपयोग का यन्त्र नहीं, केवल आनन्द जगानेवाली वस्तु है। यदि कला की कृतियों से समाज मे कदाचार फैलता हो, तो भी कलाकार पर प्रतिबन्ध लगाना गलत काम है। वैसी हालत मे सरकार को चाहिए कि वह पुलिस की सख्या मे वृद्धि कर दे।

और रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को कहते हैं। किन्तु, मनुष्य जब तक उपयोगिता के घेरे मे है, तब तक उसे व्यक्तित्व नहीं है। व्यक्तित्व हमारा तब आरभ होता है, जब हम उपयोगिता के घेरो को लाँघने लगते हैं, जब हम ऐसे कार्य आरभ करते हैं, जिनका हमारी जैविक आवश्यकताओं से कोई सबध नहीं है। माता, बहन, सखी और देशसेविका के रूप मे नारियों का अपरिमित उपयोग है, किन्तु, यह उनका व्यक्तित्व नहीं है। नारी का व्यक्तित्व उसकी भगिमा मे है, चलने-फिरने की अदाओं और नाना प्रकार के हाव-भाव मे है। सिपाही का उपयोग युद्ध-भूमि मे जाकर मारने और मरने मे है। किन्तु, यह उसका व्यक्तित्व नहीं है। व्यक्तित्व उसका तब उभरता है, जब वह वर्दी पहनकर बाजो के ताल पर कवायद की चाल मे चलता है।

उपयोगिता का धरातल वह धरातल है, जिस पर मनुष्य और पशु, दोनों समान हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशुओं का भी धर्म है और मनुष्य का भी। मनुष्य और पशु मे मुख्य भेद यह है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों सुसस्कृत होता है, त्यों त्यों वह अनुपयोगी कार्य अधिक करता जाता है। महलों मे उसे खिड़कियाँ चाहिए और खिड़कियो मे खूब महीन पर्दे जो स्वप्न के समान झूलते हों। इनका शायद कुछ उपयोग माना भी जा सके, किन्तु, दीवार पर चित्र टाँगने का क्या उपयोग है? नाचने, गाने, मूर्त्ति बनाने और शरीर को प्रसाधन से सज्जित करने का क्या उपयोग है? यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रेम की निराशा से आहत होकर पशु आत्महत्या नहीं करते। आत्महत्या केवल मनुष्य करता है। पशु केवल उतने ही कर्म करते हैं, जितने से उनकी जैविक आवश्यकता की पूर्ति हो जाये। किन्तु,

मनुष्य की मनुष्यता तो तब तक आरंभ ही नहीं होती, जब तक वह केवल अपनी जैविक आवश्यकता की पूर्ति मे सलग्न है।

अर्थात् श्रेष्ठ साहित्य वह नही है, जिसका जीवन में कोई प्रत्यक्ष उपयोग है। श्रेष्ठ साहित्य हम उसे कहेंगे, जो सभी उपयोगो की सीमा के पार जन्म लेता है, जिसकी आवाज़ हम शिखर की उस ऊँचाई से सुनते है, जो कर्म की तलहटी से दूर है, जा उपयोग की सभी सीमाओ से परे है और जहाँ पहुँचने के लिए तर्कों के सोपान नही बनाये जा सकते।

इसीलिए रहस्यवाद की सारी कविताएँ शुद्ध कवित्व की कोटि मे आती है।

हम बासी उस देश के जहँ पार ब्रह्म का खेल,
दीपक जरै अगम्य का बिन बाती, बिन तेल।
हद्द छाड़ि बेहद गया, रहा निरन्तर होय,
बेहद के मैदान में रहा कबीरा सोय।

ये कविताएँ शुद्ध इसलिए है कि उनके भीतर कोई उपदेश नही है, कर्म की कोई प्रेरणा नही है, न मनुष्य के सुधार अथवा समाज की रक्षा की कोई चिन्ता है।

लेकिन, जब कबीर साहब कहते हैं कि

हद में रहै सो मानवी, बेहद रहै सो साध,
हद-बेहद दोनों तजै ताके मता अगाध।

तब इस दोहे को हम शुद्ध कवित्व की कोटि मे नही रख सकते, क्योकि यहाँ एक स्पष्ट उपदेश है कि निर्गुण और सगुण के पचडे से ऊपर उठे बिना मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति नही हो सकती।

किन्तु,

जिन मरने थें जग डरै, सो मेरो आनन्द,
कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानन्द।

यह दोहा शुद्ध कवित्व का दोहा है, क्योकि कबीर साहब यहाँ कोई उपदेश नही देकर अपनी एक निजी भावना की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। अगर यह कहा जाय कि कबीर साहब यहाँ भी उपदेशक है और वे इस ज्ञान का प्रचार कर रहे है कि जब तक मृत्यु नही आती, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार नही हो सकता, तो वह खीच तान की बात होगी। ऐसे प्रचार को हम उपदेश नहीं, मूल्य का प्रचार कह सकते है किन्तु, वह कबीर साहब का उद्देश्य नहीं, उनकी कविता का परिणाम है। यह सत्य है कि शुद्धता के अतिवादी कवि अब मूल्यों के प्रचार से भी भागते हैं। किन्तु, वह आज की बात है। आज से पूर्व की कविता मे भावो और अनुभूतियो का वर्णन शुद्धता की कोटि मे ही समझा जाता था। और मूल्य की बात कहें तो सामान्य नियम यही हो सकता है कि प्रत्येक कविता से किसी न किसी मूल्य का

प्रचार होता है।

कबीरदास जी धर्म के नेता थे, अतएव, समाज को बदलने के लिए उन्होंने बहुत सी ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जो सोद्देश्य हैं। और वे शुद्धता की कोटि में न आने पर भी ऊँची कविताएँ हैं। लेकिन, आधुनिक युग की रहस्यवादिनी श्रीमती महादेवी वर्मा ने, शायद ही, ऐसी कोई कविता लिखी हो, जो शुद्ध कवित्व की कोटि में न रखी जा सके। इसी प्रकार पंत जी और निराला जी की ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जो सौन्दर्य तथा आनन्द की अभिव्यक्ति के बाद और कुछ भी कहना नहीं चाहती। निरालाजी की 'जुही की कली' और 'शेफालिका' शुद्ध कवित्व के उदाहरण हैं। पल्लव की सारी की सारी कविताएँ शुद्ध हैं। हाँ, परिवर्तन में से उद्देश्य की कुछ गन्ध अवश्य आती है।

रहस्यवाद के बाद शुद्ध काव्य की सर्वाधिक रचना प्रकृति को लेकर की गयी है, यद्यपि इसके अपवाद भी हैं। सबसे बड़े अपवाद गोस्वामी तुलसीदास हैं, जिन्होंने प्रकृति के रूपों का वर्णन मनुष्य को उपदेश सुनाने के लिए किया है।

पुरइन सघन ओट जल, बेग न पाइअ मर्म,
मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म।
फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि नियराइ,
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ।
हरित भूमि तृनसंकुल समुझि परइ नहिं पन्थ,
जिमि पाषण्ड विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रन्थ।

इन दोहों में प्रकृति के रूपों का वर्णन बहुत ही सुन्दर हुआ है, किन्तु, वह शुद्धता की कोटि में इसलिए नहीं माना जायेगा क्योंकि प्रकृति के रूपों का उपयोग यहाँ ज्ञान-दान के निमित्त किया गया है।

और दूसरे अपवाद वे शृंगाराचार्य हैं, जिन्हें प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में करना पड़ा है।

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदायी देखो,
आयी ऋतु पावस, न पायी प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुन धरकी, है
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।
आयी सुधि बर की, हिये में आनि खरकी, तू
मेरी प्रानप्यारी यह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भयी बावन की सावन की रतियाँ।

पावस का यह वर्णन शुद्धता की कोटि में इस कारण नहीं माना जायेगा क्योंकि वह सोद्देश्य है। प्रकृति के एक रूप का वर्णन यहाँ प्रकृति के सौन्दर्य-अंकन के लिए

नहीं, प्रत्युत, विरहिणी की व्याकुलता दिखाने को किया गया है।

किन्तु, अब यह परिपाटी समाप्त हो गयी है। आधुनिक कवि प्रकृति का वर्णन केवल उसके रूपांकन के लिए करते हैं, उससे कोई उपदेश निकालना उनका ध्येय नहीं है।

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे,
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
अभी गीला पड़ा है।

—शमशेर बहादुर सिंह

सूप-सूप भर धूप कनक
यह सूने नभ में गयी बिखर,
चौंधाया बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।

—अज्ञेय

अपने हल्के-फुल्के उड़ते स्पर्शों से
मुझको छू जाती है
जार्जेट के पीले पल्लो-सी
यह दोपहर नवम्बर की।

—धर्मवीर भारती

प्रकृति के रूपो के ऐसे तटस्थ वर्णन कभी-कभी रीतियुग में भी मिलते हैं और खड़ी बोली के उन कवियों में भी जो रीति-परंपरा का जब तक कुछ उपयोग कर लेते थे।

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै।
द्यौस की छुटाई की बडाई बरनी न जाइ,
सेनापति पायी कछू सोचि कै, सुमरि कै।
सीत तें सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी को मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अध-बीच ही तें आवत है फिरि कै।

—सेनापति

सेनापति का यह कवित्त शुद्ध कविता का उदाहरण है, क्योंकि उसमें जाड़े के दिन के अत्यंत छोटे होने का वर्णन तटस्थ भाव से किया गया है। उसके भीतर से कोई उपदेश देना अथवा उसके बहाने नायिका की दशा का वर्णन करना कवि का

उद्देश्य नहीं है।

इसी प्रकार नीचे का वर्षा वर्णन भी शुद्ध कवित्व का उदाहरण है।

तान वितान दिया नभ ने,
हरियाली ने चादर चारु बिछायी,
हाथ में ली चपला ने मशाल है,
झिल्लियों ने मिल बीन बजायी।
वारिदों ने है मृदंग पै थाप दी,
चातकियों ने मलार है गायी।
विश्व के प्रांगण में सज के
ऋतु पावस नर्तकी नाचती आयी।

—हितैषी

प्रकृति-वर्णन की यह परंपरा बहुत दिनों तक संस्कृत में खूब समृद्ध रही थी। वाल्मीकि और कालिदास में यह शक्ति थी कि, अपनी ओर से कुछ भी जोड़े बिना, वे प्रकृति के अद्भुत रूपों का वर्णन तटस्थ भाव से कर सकते थे।

बाष्पसंच्छन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसा
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्।

—वाल्मीकि

अर्थात् नदियों का जल वाष्प से ढँका हुआ है। उसमें विचरनेवाले सारस केवल अपने कलरवों से पहचाने जाते हैं तथा ये सरिताएँ भी ओस से भीगे हुए बालू वाले अपने तटों से ही पहचानी जाती हैं। (वाष्प के मारे जल दिखायी नहीं पड़ता है।)

इसी प्रकार कालिदास ने निम्नलिखित श्लोक में प्रकृति का जो चित्र खींचा है, वह लेखनी से नहीं, तूलिका से निर्मित जान पड़ता है।

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रंजयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुंचत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखितादुत्थितश्चैवसद्य
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वांगमायच्छमानः।

यह प्रात काल का दृश्य है। कर्कन्धू के पौधों पर पड़े हुए ओसकणों को ऊषा रंगीन बना रही है। नींद से जागा हुआ मयूर दर्भ निर्मित कुटीर से बाहर निकल रहा है। यज्ञशाला की भूमि हरिण के खुर से चिह्नित है (क्योंकि हरिण ने रात भर वहीं विश्राम किया था)। अब उस हरिण की नींद खुल गयी है। वह अँगड़ाई लेता हुआ खड़ा हो रहा है। (हरिण जब उठने लगते हैं तब पहले वे अपनी पिछली टाँगों को उठाते हैं। इसलिए) लगता है, जैसे उसका पिछला भाग ऊँचा और लंबा हो गया हो।

प्राकृतिक छटा के तटस्थ वर्णन की यह परम्परा भवभूति के समय तक भी शेष थी। ऋषि शम्बूक जहाँ तपस्या कर रहे थे, उस वन में बहनेवाली एक नदी का वर्णन करते हुए भवभूति ने लिखा है :

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुंज—
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरण्यः।

अर्थात् यहाँ मदमाते पक्षियों के झुण्डों से आक्रान्त, बेतलताओं से गिरते हुए पुष्पों से सुगन्धित जलवाले झरने बहते हैं। उन झरनों के जल में वृक्षों से टप-टप गिरते हुए काले-काले जामुन एक अनोखे संगीत की सृष्टि कर रहे हैं।

किन्तु, जब संस्कृत में रीतिवाद की परम्परा चली, यह वर्णन उतना तटस्थ नहीं रहा। इस विकार की चरम परिणति हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में हुई। किन्तु, चीनी और जापानी कवियों का प्रकृति-वर्णन इस दोष से दूषित नहीं हुआ। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का उपयोग चीनी कवियों ने भी किया था, किन्तु, चीन और जापान में, तब भी, प्रकृति बराबर स्वाधीन रही और मनुष्य के व्यक्तित्व की तुलना में उसका व्यक्तित्व बराबर अधिक विशाल बना रहा। चीनी कवियों में प्राकृतिक शोभा का वर्णन केवल तटस्थ ही नहीं है, बल्कि, उन कविताओं में कवि यह भी संकेत दे देते हैं कि प्राकृतिक शोभा से मिलनेवाला सुख बिलकुल वैयक्तिक सुख है।

'पहाड़ों पर मेरी संपदा क्या है?
उनके शिखरों पर बहुत-से बादल बसते हैं।
मगर इनका आनन्द केवल मेरे लिए है।
महाराज! उन्हें पकड़ कर मैं
आपके पास नहीं भेज सकूँगा।

—ताओ हुङ् चिङ्

लोयाङ में वसन्त ज्यादा देर टिकता है।
चारों ओर उसकी बहार है।
नरकट के पत्ते झरने लगे हैं।
झाड़ू के पत्ते भी झर रहे हैं,
मगर वे अभी लुप्त नहीं हुए हैं।
छप्पर के कोने में घुसने के लिए
गोरैये आपस में झगड़ते हैं।
जंगलों में पक्षी पाँती बाँध कर नहीं,
बेतरतीब उड़ रहे हैं।

—याङ् क्वाङ्

प्रकृति-वर्णन की शुद्ध परम्परा चीनी की अपेक्षा जापानी कविताओं में अधिक विकसित हुई थी। चीनी कविताओं की खास खूबी अल्हड़पन थी, मगर, सामाजिकता की थोड़ी गंध उसमें बहुधा आ जाती थी। किन्तु, जापानी कविता इतनी सी स्थूलता से भी मुक्त रही है। वह वैयक्तिक अनुभूति की कविता होती है और आकार में भी वह चीनी कविताओं से अक्सर छोटी होती है।

चाँद रेंगकर पर्वतों के पार जा छिपा।
नाव के दिये का प्रकाश
खुले समुद्र पर झिलमिला रहा है।
हम समझते हैं, रात्रि के अंधकार में
हमारी नाव अकेली जा रही है।
इतने में समुद्र से पतवारों के चलने की
आवाज आती है।
—कामो ताकहितो

वसन्त में जब कुहासा घिरता है,
जंगली हंस ताल छोड़ कर दूर चले जाते हैं।
फूलों से विहीन देश में रहने की
बान उन्होंने सीख ली है।
—श्रीमती इसे

कोयल ने कूक भरी।
मैं ने चौंक कर देखा कि आवाज
किधर से आयी है।
मगर कोयल दिखी नहीं।
दिखा केवल भोर का चाँद
जो उधर आकाश में लटका हुआ था।
—साने सदा

बर्फ, अब तुम गिर सकती हो।
क्रिसेंथमम के बाद
फूल अब और नहीं खिलेंगे।
—ओयमार

चीन और जापान के काव्य और चित्रकारी में प्रकृति का जितना बड़ा स्थान रहा, उसका उतना बड़ा स्थान किसी अन्य देश की कला में, शायद ही, कभी रहा हो। इसीलिए, प्रकृति-वर्णन की शुद्ध कविताओं के जितने अधिक उदाहरण चीनी और जापानी भाषाओं में हैं, उतने कदाचित् ही किसी अन्य देश की कला में उपलब्ध हों। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब से शुद्ध कवित्व का आन्दोलन

यूरोप में जोर से उठा, तब से चीनी और जापानी कविताओं के अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में बहुतायत से किये गये हैं।

शुद्ध कवित्व की तृषा आधुनिक कवियों की सबसे प्रमुख तृषा है। किन्तु, यह समझना भूल होगा कि सभी आधुनिक कवि केवल शुद्ध कविताएँ ही लिखते रहे हैं। इलियट शुद्ध कवित्व के बहुत बड़े पक्षपाती थे, किन्तु, उनका 'वेस्ट लैंड' शुद्ध कविता का सही उदाहरण नहीं माना जा सकता। 'वेस्ट लैंड', किसी न किसी हद तक, सोद्देश्य काव्य है, गरचे उसका उद्देश्य अत्यंत अप्रत्यक्ष है। हिन्दी के आधुनिक कवियों के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे हमेशा भावों तक ही सीमित रहते हैं अथवा विचारों से उनका परहेज हमेशा कायम रहता है।

> अच्छा खंडित सत्य
> सुघर, नीरन्ध्र मृषा से,
> अच्छा पीड़ित प्यार
> सहिष्णु, अकंपित निर्ममता से।
>
> —अज्ञेय

यह भावों नहीं, विचारों की कविता है और यह सोद्देश्य भी मानी जा सकती है।

> चांदनी चन्दन-सदृश हम क्यों लिखें?
> मुख हमें कमलों-सरीखे क्यों दिखें?
> हम लिखेंगे, चांदनी उस रुपये-सी है
> कि जिसमें चमक है, पर खनक गायब है।
>
> —अजित कुमार

यह कविता भी शुद्ध कविता नहीं है, क्योंकि यह तटस्थ नहीं है। दूर पर, कहीं न कहीं, वह एक सामाजिक आन्दोलन से सबद्ध है और एक खास उद्देश्य का प्रचार करना चाहती है। तथा,

> बांधो, यह नदी घृणा की है,
> काली चट्टानों के सीने से निकली है,
> अंधी, जहरीली गुफाओं से उबली है,
> इसको छूते ही हरे वृक्ष सड़ जायेंगे।
> नदी यह घृणा की है।
>
> —धर्मवीर भारती

वैसे, कविता की ये अच्छी पंक्तियां हैं, किन्तु, शुद्धता की कसौटी पर ये खरी नहीं उतरतीं, क्योंकि, उनका ध्येय एक नैतिकता का प्रचार है।

और सोद्देश्यता वहां भी अपना पता दे देती है, जहां बातें इस अदा से कही जाती हैं, मानो, कवि तटस्थ भाव से बोल रहा हो।

हरे भरे हैं खेत,
मगर खलिहान नहीं,
बहुत महतो का मान,
मगर दो मुट्ठी धान नहीं।

—अज्ञेय

कविता और शुद्ध कविता का भेद यदि यहीं पर खत्म हो जाता, तो चिन्ता की कोई बात नहीं थी। किन्तु, बातें यहीं पर खत्म नहीं होतीं। शुद्धता की साधना में अन्तर्राष्ट्रीय काव्य अब एक ऐसी ऊँचाई पर पहुँच गया है, जहाँ काव्य विषयक हमारी परम्परागत मान्यताएँ छूँछी और निस्सार दिखायी देने लगी हैं। कविता पहले कथाएँ भी कहती थी, किन्तु, यह कार्य अब उसने उपन्यासों के लिए छोड़ दिया है। कविता, यहाँ तक कि शुद्ध कविता का भी ध्येय पहले भावदशा का वर्णन समझा जाता था। किन्तु, संसार के नये कवियों ने यह काम भी छोड़ दिया, क्योंकि भावदशा का वर्णन कथालेखकों का काम है। अन्तर्राष्ट्रीय काव्य अब समाज की ओर नहीं देखता, नैतिकता, धर्म, राजनीति, यहाँ तक कि शान्ति की समस्या की ओर भी नहीं देखता। वह वस्तुओं के उन रूपों की तलाश में है, जिनका वर्णन न उपन्यासकार कर सकता है, न कथाकार, न इतिहास-लेखक कर सकता है, न दर्शनाचार्य, जो रूप केवल उन्हें दिखायी देते हैं, जिनकी सबुद्धि औसत मनीषियों की अपेक्षा कुछ अधिक सजीव है।

नयी मान्यता के अनुसार छन्द और तुकें तभी तक सार्थक हैं, जब तक वे अकृत्रिम रूप से अपना काम करते हों। कवि का कार्य छन्द और तुकों की घूस देकर पाठकों को रिझाना नहीं है। उसका काम अनुभूतियों को उनके सही रूप में ग्रहण करना है। जिस चिन्ता ने कवि को गरम लिया है, छन्द और तुकों के लोभ में, उस चिन्ता को इधर या उधर मुड़ना नहीं चाहिए। उसे सीधे उस दिशा की ओर चलना चाहिए जो उसकी स्वाभाविक गति की दिशा है, उस बिन्दु तक पहुँचना चाहिए जो उसकी चरम परिणति का बिन्दु है। यदि छन्द और तुक चिन्ता की इस स्वच्छ और स्वच्छन्द प्रगति में बाधा डालते हैं (और कौन कह सकता है कि वे बाधा नहीं डालते?) तो वे त्याज्य और तिरस्करणीय हैं। कवि के हाथ में भाषा सोचने का यन्त्र मात्र है। जो कवि उसका प्रयोग पाठकों को रिझाने के लिए करता है, वह अपने कवि धर्म पर आरूढ़ नहीं है। और भाषा अगर बराबर उसी भूमि में काम करती है, जिसमें बहुत से कवि काम कर चुके हैं, तो वह कोई बड़ा काम नहीं करती। उसका लक्ष्य नयी भूमि पर अधिकार करना होना चाहिए। उसे उन संवेदनाओं को शब्दों के भीतर बिठाने की कोशिश करनी चाहिए जिन्हें अब तक भाषा का निवास नहीं मिला है। प्रत्येक कवि का एक धर्म प्रयोगता का धर्म है और प्रत्येक कविता को, कुछ न कुछ, नया प्रयोग करना ही चाहिए।

और त्याज्य केवल छन्द और तुकें ही नही हैं, बल्कि वह चिन्ता भी त्याज्य है, जिसके अधीन कवि पाठको को अर्थ बताना चाहता है। अर्थ अब कविता का कोई नित्य धर्म नही है। कवित्व वह अद्भुत सृष्टि है, जिसका प्रभाव हम पर अर्थ समझने के पूर्व ही पडने लगता है और ऐसी कविताएँ सबसे श्रेष्ठ हैं, जिन्हे बार-बार पढने पर भी पाठक को यह विश्वास नही हो कि कविता का सारा अर्थ उसकी समझ मे आ गया है। कविता का प्रभाव उसमे प्रयुक्त शब्दो के सगीत का प्रभाव है, कविता का आनन्द उन झकृतियो का आनन्द है, जो कभी भी पूरे तौर से पकड मे नही आती; और कविता की मोहिनी उन सकेतो की मोहिनी है, जो हमे अपने आप के पास पहुँचा देते हैं, जो हमारे हृदय मे अमरत्व का आनन्द जगाते हैं।

शुद्ध चितक वह है, जो राजा के भय से अपने चिंतन की दिशा नही बदलता; जो अपयश के भय अथवा सुयश के लोभ से किसी ऐसी नैतिकता से समझौता नही करता, जो उसके चिंतन को अग्राह्य है; जो निर्भय और निर्लोभ रहकर ठीक उस दिशा की ओर चलता है, जो उसके चिंतन की स्वाभाविक दिशा है। इसी प्रकार शुद्धतावादी कवि अनुभूतियो के शुद्ध चित्रण को अपना ध्येय समझता है। वह इस भय से घबराकर शुद्धता से विचलित नही होता कि लोग उसकी कविता को नही समझ सकेंगे अथवा वे उसकी निन्दा करेंगे, न वह इस लोभ मे पडता है कि शुद्धता से वह जरा-सा हट जाये तो राजा उस पर प्रसन्न हो जायेगा या जनता उस पर प्रशसा की वृष्टि करेगी।

कविता गाने नही, विसूरने की चीज है। कविता ताली बजाने की नही, सुनकर अपने भीतर डूब जाने की वस्तु है। कविता आदमी का सुधार नही करती, वह उसे चौंकाना जानती है, धक्के देना जानती है, उसकी चेतना की मुंदी आँखो को खोलना जानती है। कविता सीढियो नही, छलाँगो की राह है। कविता विचारो के परवान पर चढकर अपने आकार को बढाना नही चाहती। वह भावना की सच्चाई के बाद एक शब्द भी नही बोलती है। जहाँ भावना खत्म होती है, वहीं कविता का भी स्वाभाविक अन्त है। इसीलिए, शुद्ध कविता छोटी ही हो सकती है, क्योंकि भावना के प्रगाढ क्षण ज्यादा देर तक नही टिकते। और यह छोटी कविता और भी छोटी इसलिए हो जाती है कि अनुभूति के चित्रण मे कवि उतने से एक भी अधिक शब्द नही रखता, जितने की नितान्त आवश्यकता है। चित्रो की नयी खूबी यह है कि उनकी रेखाएँ सख्या मे न्यून से न्यून हो। कविता की नयी विशेषता यह है कि उसमे एक भी ऐसे शब्द का प्रयोग न किया गया हो, जिसके बिना कवि का काम चल सकता था। नयी कविता का मनसूबा सूत्रशैली मे बोलने का मनसूबा है। उसकी उमग मत्र के समान सुगठित और सक्षिप्त होने की उमग है, जिसका कोई भी शब्द ऊर्जा से विहीन नही होगा।

यह कविता के विषय में बिलकुल ही नवीन धारणा है और उसका प्रभाव कविता पर इस जोर से पडा है कि वह अचानक अत्यन्त निगूढ, बल्कि, दुरूह हो उठी है। कविता की इस अति नवीन धारणा का प्रभाव कवि के व्यक्तित्व पर भी पडा है। आज का कवि समाज से जितना विच्छिन्न है, उतना विच्छिन्न पहले का योगी भी नही होता था। और यह प्रभाव केवल कविता तक ही सीमित नही है, उसके वृत्त मे उपन्यास भी आ गये है, कहानियां भी आ गयी हैं नाटक भी आ गये हैं।

आगे के पृष्ठो मे हम विचार करेंगे कि शुद्ध कवित्व-विषयक यह धारणा कैसे कैसे बढ़ी है, उस पर कला के किन आन्दोलनो का प्रभाव पडा है तथा शुद्ध कवित्व के आन्दोलन से साहित्य और समाज का सम्बन्ध कैसे जटिल हो गया है।

शुद्ध कविता का इतिहास—१

१. शुद्ध कविता और भारतीय आचार्य
२. शुद्ध कविता और यूरोपीय आचार्य
३. रोमांसवादी जागरण
४. शुद्धतावादी आन्दोलन का आरंभ
५. पेरिस के मनीषियों का प्रयोग
६. बोदलेयर
७. मलार्मे और प्रतीकवाद
८. रैम्बू का काव्यशास्त्र
९. अन्तर्मुखी यात्रा का दण्ड

१ शुद्ध कविता और भारतीय आचार्य

प्राचीन काल म सभी देशो की कविताएँ धर्म, युद्ध, विरह और प्रेम को लेकर लिखी जाती थी और इस भाव से लिखी जाती थीं कि पाठक या श्रोता उन कदिताओ को समझ लेंगे और उनमे प्रेरणा ग्रहण करेंगे। कविता सोद्देश्य होनी चाहिए या निरुद्देश्य, यह प्रश्न उस समय नहीं उठा था और, साधारणत, सभी लोग यह मानते थे कि कविता का उद्देश्य ज्ञानदान भी है और आनन्ददान भी। "सद्य परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे," यह स्थापना भारत मे आचार्य मम्मट ने रखी थी, किन्तु, ससार भर के कवि लगभग इसी सिद्धान्त मे विश्वास करते थे।

उस समय लोग यह भी नही जानते थे कि काव्य की भी समस्याएँ होती हैं और उन पर विचार करते समय हमे भाव और विचार तथा शैली और विषय के द्वन्द्वो पर भी विचार करना चाहिए। कविताएँ महाकाव्यो मे भी होती थी और उन मुक्तकों मे भी जो एक, दो या दस पाँच श्लोको के होते थे। महाकाव्यो का प्रभाव इसलिए पडता था कि उनमे कवित्व भी रहता था और कथा भी होती थी। अर्थात् जो आनन्द आज मुक्तक काव्य और उपन्यास के बीच अलग अलग बँट गया है, वह महाकाव्य म सम्मिलित रूप से उपलब्ध होता था। हमारा अनुमान है कि उस समय के पाठक, शैली और विषय, इन नामो से अपरिचित होते हुए भी, [illegible]

[illegible]

लोग सुभाषित के नाम से करने लगे। पीछे महाकाव्यो मे से भी सुभाषित चुने जाने लगे और उनका सकलन मुक्तको के साथ तैयार किया जाने लगा। यह काव्य के विशिष्टीकरण की प्रक्रिया का आरभ था।

किन्तु, समाज पर महाकाव्यो का जो प्रभाव था, वह मुक्तको का नही था। मुक्तक विशेष प्रकार के रसज्ञ पाठक पढते थे, किन्तु, महाकाव्य कथा मच से भी पढा जाता था। अतएव, साहित्य के भीतर एक मान्यता उत्पन्न हो गयी कि काव्य की महिमा का कारण उसके विषय की महत्ता होती है। जो कवि जितने ही अधिक महान् विषय पर काम करता है, उसका काव्य उतना ही ऊँचा और श्लाघ्य होता

है। आज के प्रसंग मे देखें तो यह कविता नही, धर्म, दर्शन, नैतिकता और इतिहास के साथ पक्षपात था और विषय को इतनी अधिक गरिमा देकर आचार्य शैली की महिमा को दबा रहे थे। किन्तु, शैली उपेक्षित होने से इनकार करती थी। क्योंकि महाकाव्यों मे से जो श्लोक सुभाषित-भाण्डार के लिए छाँटे जाते थे, उनमे शैली का सौन्दर्य कुछ अधिक प्रखर होता था। आज तो सुभाषित इसलिए निन्दित हो गये हैं कि अक्सर वे उपदेश के पद होते है, किन्तु, प्राचीन काल मे वे काव्य के अरण्य मे स्वत.दीप्त पुष्पो की भाँति चमकते थे और यह चमक शैली के निखार से उत्पन्न होती थी। हमारा ख्याल है, महाकाव्यो मे से सुभाषित छाँटने की सूझ उसी प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई होगी, जिस प्रवृत्ति के अति विकास से शुद्ध काव्य का आन्दोलन उत्पन्न हुआ है।

मुक्तक की महिमा यह भी है कि एक समय वे लगभग शुद्ध काव्य के प्रतीक थे। वे छोटे होते थे, उनमे भावो का वर्णन सूत्र-शैली में किया जाता था और वे वही समाप्त हो जाते थे, जहाँ भावो की समाप्ति होती थी। किन्तु कथा-काव्य सक्षिप्त काव्य नही होता। वह लबा होता है और लबा वह कवित्व के कारण नही, कथा के कारण होता है। किन्तु, शुद्ध कविता की पक्तियाँ कथा-काव्यो मे भी उतरती थी और कवि तथा पाठक उन पंक्तियों को बाकी कविता से श्रेष्ठ भी समझते थे। कविता रचते समय कवि की और उसका पाठ करते समय पाठक की दृष्टि, उस समय भी, इस बात पर ज़रूर जाती होगी कि कविता मे सूक्ष्म सौन्दर्य की ऐसी भी पक्तियाँ उभरती हैं, जिनका विषय से कोई खास सम्बन्ध नही है, जो कवि को वैयक्तिक प्रतिभा की कौंध से उत्पन्न होती है या जो महज शिल्प और कारीगरी के परिणाम है।

> मीनोपसंदर्शितमेखलानाम्
> नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः
> कान्तोपभुक्तालसगामिनीनाम्
> प्रभातकालेष्विवकामिनीनाम्।

वाल्मीकि का यह श्लोक रामकथा के कारण नही चमकता है, प्रत्युत, इस कारण कि यह शुद्ध कविता का श्लोक है।

इसी प्रकार,

> जहँ बिलोकु मृग सावक नैनी
> जनु तहँ बरसु कमल सितसैनी।
> सुन्दरता कहँ सुन्दर करई
> छविगृह दीप सिखा जनु बरई।

तुलसीदासजी की ये विलक्षण पंक्तियाँ रामकथा की महिमा मे नहीं जनमी है, प्रत्युत, वे कवि की प्रतिभा से उत्पन्न हुई हैं, उसकी शिल्प-निपुणता से प्रसूत हैं।

इसी प्रकार विद्यापति जब यह कहते है कि "जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल", तब इसका कारण यह नही है कि उन्होने श्रीकृष्ण के रूप को राधा की दृष्टि से देखने की कोशिश की थी, बल्कि, यह कि किसी अपूर्व सौन्दर्य का चिन्तन करते करते कवि को यह उक्ति सूझ गयी। यह उसकी वैयक्तिक प्रतिभा का प्रसाद है। यह उसकी शिल्प निपुणता का परिणाम है। राधा-कृष्ण के चरित स वह उत्पन्न नही हुई है।

काव्य रसिको की जो भावना ऐसी विलक्षण और विशुद्ध पक्तियो से सर्वाधिक सतोप पाती थी, उसी ने विकसित होकर अब सपूर्ण काव्य को शुद्ध करने का व्रत ले लिया है। शुद्ध कवित्व का आन्दोलन मनुष्य की इसी अति काव्यात्मक प्रवृत्ति का विस्फोट है।

भारत के अनेक आचार्य काव्य की महिमा का मुख्य कारण विषय की महिमा को मानते थे, किन्तु, यदि आलोचना के व्यवहार-पक्ष को देखें तो भारत मे आलोचना से अभिप्राय शैली की ही आलोचना से था। अलकार, रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, शब्दों के सुप्रयोग और औचित्य, इन्ही कसौटियो पर काव्य की उत्तमता यहाँ परखी जाती थी। भारत में किसी भी आचार्य ने किसी भी कवि की निन्दा या स्तुति इस विचार से नही की है कि वह आस्तिक था अथवा नास्तिक, वैष्णव था अथवा शैव, युद्धवादी था अथवा शान्तिवादी अथवा उसकी आस्था शब्दों के प्रति थी या विचारों और भावो के प्रति। काव्य को भारत में कला का पर्याय मानने की प्रथा नहीं थी, किन्तु, कविता के प्रति यहाँ व्यवहार वही किया जाता था, जो कला के प्रति किया जाना चाहिए।

भारत मे कला की गणना उपविद्याओ मे की गयी थी और कविता की साहित्य मे। कला का उद्देश्य यहाँ सजावट और मनोरजन माना जाता था, किन्तु साहित्य का ध्येय केवल मनोरजन नही, उससे कही महान् तत्त्वो की उपलब्धि थी। काव्यालकार मे भामह ने लिखा है कि प्रत्येक शास्त्र चतुर्वर्ग मे से किसी एक की पूर्ति करता है। उदाहरणार्थ, स्मृति धर्म का कारण है, नीति से अर्थ की उपलब्धि होती है और कामशास्त्र से काम सम्बन्धी लक्ष्य प्राप्त होते है तथा दर्शन मोक्ष का उपाय है। किन्तु, काव्य शास्त्र अकेले चारो की प्राप्ति करा सकता है।

और विश्वनाथ ने भी लिखा है कि

चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखात् अल्पधियामपि,
काव्यात् एव यतस्तेन तत्स्वरूप निरूप्यते।

अर्थात जो शास्त्रो के विशेषज्ञ नहीं हैं, वे अल्पमति लोग भी काव्य के द्वारा चारो पुरुषार्थों को सुख से प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय आचार्यों की मान्यता यह मालूम होती है कि सत्य की उपलब्धि

शास्त्र बुद्धि के मार्ग से करवाते है। किन्तु, बुद्धि के मार्ग से इतर कोई और मार्ग है, जिस पर कवि चलता है और सत्य की उपलब्धि कवि इस इतर मार्ग से भी करता है। स्पष्ट ही, यह मार्ग सबुद्धि का मार्ग है और सबुद्धि से जागरण उनके भीतर भी उत्पन्न होता है, जो बुद्धि से जगाये नहीं जा सकते। इसीलिए अल्पधी के लिए भी कविता का मार्ग सुगम और सुलभ मार्ग है।

आधुनिक आलोचना के सिलसिले मे एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिसे हम कविता के भीतर कवि का प्रच्छन्न व्यक्तित्व कहते है, उस व्यक्तित्व की खोज की पद्धति प्राचीन काल मे नही चली थी, किन्तु, इस विचार का बीज वामन के रीतिवाद मे खोजा जा सकता है। वामन ने रीतियाँ तीन ही मानी हैं, किन्तु, वामन को यदि कुन्तक के प्रकाश मे समझा जाय तो यह शिक्षा निकाली जा सकती है कि रीति केवल भूगोलवाचक न होकर कवि की वैयक्तिक भगिमा की ओर इगित करती है। कुतक ने काव्य-भेद का कारण भूगोल को नही, कवि-स्वभाव को माना है और कहा है कि "यद्यपि कवि स्वभाव भेद-मूलक होने से (कवियो और उनके स्वभावो के अनन्त होने से) मार्गों का भी आनन्त्य अनिवार्य है, परन्तु, उसकी गणना असम्भव होने से साधारणत त्रैविध्य ही युक्ति सगत है।" अर्थात् रीतियाँ तीन ही नही हैं, वे अनन्त भी हो सकती हैं क्योकि दो कवियो की भगिमा एक नहीं होती है।

कुतक ने जिस सत्य की ओर सकेत किया है, वह आज के प्रसग मे भी देखा जा सकता है। आज भी केवल छन्द और व्याकरण की शुद्धता को देखकर अथवा ललितलवगी भाषा के सफल प्रयोग से प्रभावित होकर हम किसी भी नये कवि को कवि के रूप मे स्वीकार नही करते हैं। स्वीकृति उसे तब दी जाती है, जब यह पता चल जाय कि उसकी शैली प्राचीन और नवीन, सभी कवियो की शैलियो से भिन्न है, वह जिस स्वर में बोल रहा है, वह उसका अपना स्वर है और उसके भीतर जो भाव भगिमा अथवा वचन-भगिमा दिखायी देती है, वह पहले कभी और दिखायी नहीं पडी थी। भारतीय काव्यशास्त्र ने विषय मे इस पक्ष का विवेचन नहीं किया है किन्तु, परम्परा से चला आता यह दोहा बतलाता है कि कवि की न्यूनतम योग्यता यह होनी चाहिए कि वह किसी का भी अनुकरण न करके अपने लिए बिलकुल नयी और अछूती राह तैयार करे।

लीक लीक गाडी चलै, लीकै चलै कपूत,
लीक छाडि तीनै चलै, शायर, सिंह, सपूत।

अथवा अज्ञेयजी के शब्दों में —

तेरा कहना है ठीक, जिधर मैं चला,
नहीं वह पथ था।
मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूँ उसी पर

सदा जिसे पथ कहा गया,
जो इतने पैरों से रौंदा जाता रहा
कि उस पर
कोई छाप पहचानी नहीं जा सकती थी।

ब्रह्मा प्रत्येक मनुष्य नये ढब-ढाँचे का बनाता है। ससार मे आज जितने भी मनुष्य वर्तमान है, उनमे से, जुडवों को छोडकर, और कोई भी दो मनुष्य ऐसे नही मिलेंगे, जिनके चेहरे समान हो। और धरती पर से जो असख्य मनुष्य गुजर चुके हैं, उनमे भी कोई दो मनुष्य ऐसे नही थे, जिनके चेहरे आपस मे समान रहे हों। प्रकृति के कोष मे, न जानें, कितने साँचे है कि हर आदमी नयी आकृति लेकर आता है। इसी प्रकार, ससार मे जितने भी कवि हुए है, उनकी कविताएँ और कवियो की कविताओं से भिन्न थी, उनमे से प्रत्येक की शैली केवल अपनी शैली थी, प्रत्येक की राह केवल अपनी राह थी। इस मौलिकता की कसौटी पर खरा उतरने वाला कवि बच जाता है। बाकी लोग प्रवाह मे आते हैं और उसी के साथ अदृश्य मे विलीन हो जाते है।

जैसे एक कवि की कविता दूसरे कवि की कविता से भिन्न होती है, उसी प्रकार, एक युग की कविता दूसरे युग की कविता से कुछ भिन्न हो जाती है। और जैसे एक कवि की सभी कविताएँ, परस्पर भिन्न होती हुई भी, लगभग समान दिखायी देती हैं, उसी प्रकार, युग-विशेष की सभी कविताएँ परस्पर समान होती हैं। कवि के समान युग भी व्यक्तित्वशाली हुआ करते है। प्रत्येक युग अपने कवियो के भीतर कुछ न कुछ नयी दृष्टि पैदा करता है, कुछ न कुछ नयी अनुभूतियाँ जगाता है और प्रत्येक युग अपनी अनुभूतियों के अनुरूप नवीन शैली को जन्म देता है। प्रत्येक कवि की शैली एक नवीन रीति है, क्योकि वह उसकी अपनी मनोदशा का प्रतिनिधित्व करती है, वह उसके चिंतन की अपनी दिशा का निर्माण करती है, वह उसके आवेगो के अनुरूप नयी भगिमा तैयार करती है। हमारा ख्याल है, जो बात कवि पर लागू होती है, वही युग पर भी लागू होनी चाहिए। और वह विशेषत इस कारण कि प्राचीन काल मे परिवर्त्तनो की अनधिकता के कारण युग बहुत लबे हुआ करते थे, किन्तु, अब युग तुरत आरभ होते हैं और लगभग तुरत समाप्त हो जाते हैं। यह भी कि प्राचीन काल मे युगों के व्यक्तित्व बहुत प्रखर नही होते थे, मगर, आज वे बहुत ही तेज है।

लोक-मगल की [illegible]

वे काव्य-सिद्धान्त [illegible]

तत्वो पर उनकी द [illegible]

नही मानते थे। जब भारत मे यह प्रश्न उठा कि काव्य की आत्मा क्या है, तब कोई भी आचार्य इस विचिकित्सा मे नही पडा कि लोक-मगल की दृष्टि से किस

कविता दूषित समझी जायगी।

भाषा और भाव के बीच स्पर्धा की प्रक्रिया पर कुन्तक ने जो जोर दिया है, उससे यह शिक्षा मजे में निकाली जा सकती है कि कवि की प्रधान आस्था शब्दों के प्रति होनी चाहिए। भाव निराकार हैं। उन पर कवि का बस नहीं है। वे कवि के संस्कार से उत्पन्न होते हैं। अतएव कवि का कर्तव्य यही रह जाता है कि वह अपने भावों को ठीक से पहचाने और उनके अनुरूप शब्दों का चुनाव करे।

कविता रचते समय कवि को दो धरातलों पर जगना पड़ता है। पहला धरातल वह है, जहाँ पर भाव जगते, कुनमुनाते या तूफान बनकर खड़े होते हैं। दूसरा धरातल भाषा का धरातल है, जहाँ शब्द होते हैं, भाषा होती है, मुहाविरे होते हैं। पहले धरातल पर कवि के जगने का उद्देश्य यह होता है कि जो भाव जगे हैं, उन्हें वह ठीक से पहचान सके। जहाँ कवि अपने आवेगों को ठीक से पहचान नहीं पाता, वहीं वह 'लिखत सुधाकर लिखि गा राहू' की उक्ति चरितार्थ कर देता है। भावों को अनुरूप शब्दों के भीतर बाँधना जितना आवश्यक है, उन्हें ठीक से पहचानने की बात भी उतनी ही जरूरी होती है। कुन्तक ने भाषा और भाव के बीच स्पर्धा पर जोर देकर कवि को दोनों की जिम्मेवारियों के प्रति सावधान रहने का उपदेश दिया है। किन्तु, भावों को केवल पहचानने की ही कोशिश की जा सकती है, उनके विषय में चुनाव की स्वाधीनता कवि को प्राप्त नहीं होती। अतएव, कवि जो कुछ कर सकता है, वह यही है कि वह शब्दों का दुष्प्रयोग या अपव्यय नहीं करे। अर्थात् कवि की सबसे बड़ी आस्था भाषा के प्रति होनी चाहिए, शब्दों और मुहाविरों के प्रति होनी चाहिए।

कुन्तक में हम एक नवीनता और देखते हैं। कविता के पीछे कवि के व्यक्तित्व का क्या महत्त्व है, इस प्रश्न को आचार्यों ने उपेक्षित छोड़ दिया था। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सभी आचार्यों ने कविता का कारण माना था, किन्तु, किसी ने भी उन्हें कवि के व्यक्तित्व के प्रसंग में देखने की कोशिश नहीं की थी। कुन्तक ने यह उद्भावना की कि शक्ति और शक्तिमान् दो नहीं, एक हैं। कवि की शक्ति उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से उत्पन्न होती है। कविता और कुछ नहीं, कवि का कर्म है अर्थात् कविता उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद है, उसकी आत्मा का रंग है, उसके संस्कारों की खुशबू है। कवि की शक्ति उसके स्वभाव से उत्पन्न होती है, कवि की व्युत्पत्ति उसके संस्कार से आती है तथा कवि का अभ्यास उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार चलता है। काव्य का मूल हेतु कवि का अपना स्वभाव है। यहाँ ऊपर के प्रसंग की यह स्थापना तुलनीय मानी जानी चाहिए कि रीतियाँ उतनी ही हैं जितने कवि हैं और नवीन कवियों के आविर्भाव के साथ नयी रीतियों का आविर्भाव होता ही रहता है। शैली केवल शैली नहीं, सचमुच मनुष्य होती है।

२ शुद्ध कविता और यूरोपीय आचार्य

भारतीय चिंतक अच्छे रहे कि उन्होंने यह मानते हुए भी कि काव्य की श्रेष्ठता का कारण बहुधा उसके विषय की श्रेष्ठता होती है, कभी भी काव्य की विषयगत समीक्षा को प्रोत्साहन नहीं दिया। किन्तु यूरोप के चिंतक काव्य के विषयों से उतने तटस्थ नहीं रहे हैं। वहाँ आरम्भ में ही प्लेटो ने यह मत प्रकाशित किया कि मैं जिस रिपब्लिक की कल्पना करता हूँ, उसमें कवियों के लिए स्थान नहीं है। कवि में दो दोष होते हैं। यह विश्व प्रपंच जिस आदि तत्त्व का बिम्ब है, उस तक पहुँचने की राह केवल तर्क और दर्शन की ही राह हो सकती है। किन्तु, कवि तर्क और दर्शन की राह से नहीं चलता, प्रत्युत, आवेगों के मार्ग से चलता है और जब वह मनुष्य या प्रकृति का वर्णन करता है, तब यह वर्णन वास्तविक तत्त्व का वर्णन न होकर उसकी छाया या बिम्ब का वर्णन हो जाता है। इस प्रकार, कविता सत्य नहीं, असत्य का प्रचार करती है। दूसरी बात यह कि सुयोग्य नागरिक वही व्यक्ति बन सकता है, जो अपने रागों को वश में रख सके। किन्तु कविता आवेगों को जगाकर मनुष्य को बुद्धिमान के बदले भावुक बनाती है, संयत बनाने के बदले उत्तेजित कर देती है।

कविता का कुछ न कुछ प्रयोजन भारतीय आचार्य भी मानते थे, किन्तु, उसके सामाजिक उपयोग का प्रश्न इस देश में कभी भी जटिलता तक नहीं पहुँचा था। यहाँ सामान्य मान्यता यह चलती थी कि प्रत्येक श्रेष्ठ काव्य शिवत्व और सौन्दर्य से युक्त होता है। जो सुन्दर है, उससे अकल्याण का भय नहीं है तथा जो कल्याणकारी है, उसके कुरूप होने की संभावना नहीं हो सकती। बोदलेयर ने जिस सौन्दर्य की कल्पना की है, उस सौन्दर्य की कल्पना भारत में नहीं की जा सकती थी।

किन्तु प्लेटो ने अनुपयोगी कहकर कविता का जो तिरस्कार किया, उससे आघात पाकर यूरोप के आचार्यों के बीच काफी प्रखर द्वन्द्व आरम्भ हो गया, जो आज तक भी शमित नहीं हुआ है। प्लेटो के मत का पहला खण्डन अरस्तू ने यह कहकर किया था कि कविता अनुपयोगी वस्तु नहीं है। मनुष्य के सुधार की दिशा में कविता का थेरापेटिक महत्त्व है। वह हमारे रागों को आन्दोलित करके हम सम अवस्था में पहुँचाती है, क्योंकि दुखान्त नाटक देखकर जब हम नाट्यशाला से चलते हैं, तब हमारे राग उत्तेजित नहीं, शान्त होते हैं।

मनुष्य के रागों का शमित करना धर्म और नीतिशास्त्र का काम है। प्लेटो ने कविता का विरोध यह कहकर किया था कि कविता नीति और धर्म, दोनों को बाधा पहुँचाती है। अरस्तू ने इसका जवाब यह कहकर दिया कि कविता नीति और धर्म को बाधा नहीं पहुँचाती, वह उनकी सखा करती है। अर्थात् कविता उपयोगिता की कसौटी पर भी खरी उतरनेवाली कला है।

किन्तु, अरस्तू के बाद लाजाइनस को अरस्तू का यह तर्क पसन्द नहीं आया। यदि कविता भी वही काम करती है जो धर्म करता है, तो फिर धर्म और नीति ही प्रधान हैं और कविता गौण हो जाती है। और यदि कविता को हम केवल धर्म और नैतिकता की चेरी बना देते हैं, तो उन अन्य असंख्य क्षेत्रों का क्या होगा, जिनमें कविता ने अपूर्व सौन्दर्य की दृष्टि की है, किन्तु, नीति के साथ जिस सौन्दर्य का कोई सीधा मेल नहीं है। अतएव, लाजाइनस ने उपयोगिता की कसौटी को त्याज्य कर दिया और वे कविता के लिए कोई ऐसा कार्य ढूँढ़ने लगे, जिसे कविता तो कर सकती हो, किन्तु, विद्या की अन्य कोई भी शाखा न कर सके। यह कार्य उन्हें कविता के लोकोत्तर-आनन्द विधान में दिखायी पड़ा। विद्या की अन्य शाखाएँ मनुष्य को केवल ज्ञान देती हैं। लेकिन आनन्द एक ऐसी वस्तु है जिसकी सृष्टि केवल कविता कर सकती है। लाजाइनस ने कहा कि साहित्य का सारा ध्येय पाठकों को आन्दोलित करना है, उन्हें इस दैनिक विश्व से निकालकर लोकोत्तर आनन्द के धरातल पर ले जाना है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि कविता का कोई सामाजिक उपयोग है या नहीं। प्रश्न केवल यही होना चाहिए कि काव्य विशेष के वाचन या श्रवण से पाठक या श्रोता के भीतर आनन्दातिरेक की स्थिति उत्पन्न होती है या नहीं। यदि कविता लोकोत्तर आनन्द देने में समर्थ है, तो उसे कला का श्रेष्ठ रूप मानना ही पड़ेगा।

लाजाइनस के चिन्तन का प्रभाव यह हुआ कि आनन्द खुलकर कविता का ध्येय माना जाने लगा। किन्तु, यूरोप में जब रिफार्मेशन (धार्मिक क्रान्ति) का आन्दोलन उठा, पवित्रतावादी लोग फिर ऊपर आ गये और कविता के विरुद्ध वही शंका फिर से शुरू हो गयी, जिसे प्लेटो ने उठाया था। कविता के बारे में लोगों ने फिर यह कहना आरम्भ कर दिया कि वह काल्पनिक, असत्य और अनैतिक क्रिया है, अतएव, वह त्याज्य है।

इस बार पवित्रतावादियों के आक्रमण से कविता को बचाने का बीड़ा फिलिप सिडनी ने उठाया, जिनका 'द डिफेंस आव पोयजी' नामक निबन्ध बहुत ही प्रसिद्ध है। किन्तु, तरीके उनके भी अरस्तू वाले ही थे। वे यह कहने का साहस नहीं कर सके कि प्लेटो गलत और लाजाइनस ठीक हैं। परिस्थिति के अनुसार उन्होंने बचाव का एक अलग उपाय खोज निकाला और एलान किया कि वास्तविकता की आराधना का कार्य कवि का कोई बड़ा कार्य नहीं है। कवि की महत्ता तो यह है कि स्थूल वास्तविकता से परे वह एक नयी वास्तविकता की कल्पना करता है और चूँकि यह नयी वास्तविकता लोकोत्तर गुणों से भरी होती है, अतएव, उसके परिचय और संपर्क से स्थूल जगत् के मनुष्य भी अधिक कोमल और उदार बनने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। व्याजान्तर से, सिडनी यह कहना चाहते थे कि कवि का कर्म कल्पना की आराधना है, किन्तु, उसे ऐसी कल्पना को प्रश्रय नहीं देना चाहिए जिससे

मनुष्य को श्रेष्ठ बनने की प्रेरणा प्राप्त नही हो। अरस्तू जैसे प्लेटो के उपयोगितावादी दर्शन के रोब में थे, उसी प्रकार सिडनी पर भी रिफार्मेशन के पवित्रतावाद का आतंक था। उन्होंने कल्पना का पक्ष लेकर कविता को अवश्य बचाया, किन्तु, लांजाइनस के समान काव्य की सार्थकता की सिद्धि वे मात्र कवित्व के आधार पर नही कर सके।

भारत मे लोग आनन्द और ज्ञान, दोनों को कविता का ध्येय मानकर निश्चित हो गये थे, किन्तु, यूरोप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह सवाल उठता रहा और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके नये-नये उत्तर दिये जाते रहे। ड्रायडन ने कहा, कविता से हमें मानव-स्वभाव की शिक्षा मिलती है और आनन्द भी प्राप्त होता है। ड्रायडन के इस मानव-स्वभाव से लोग अब यह अर्थ लेते हैं कि ड्रायडन ने यहाँ नैतिकता के बन्धन को न मानकर मानव-मन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का संकेत किया है। जोनसन ने यह राय जाहिर की कि साहित्य का ध्येय मनुष्य को शिक्षित करना है, उसमें भी कविता का ध्येय मनुष्य को आनन्द की मुद्रा में लाकर उसे शिक्षित बनाना है। जोनसन के कला-विषयक सिद्धान्त बहुत कुछ टालस्टाय के सिद्धान्तों के समान थे। उनकी कसौटी पर शेक्सपियर भी दोषी निकले। जोनसन का कहना है कि शेक्सपियर ने अपनी कृति मे रोचकता लाने के लिए पुण्य का त्याग किया है और पाठकों को प्रसन्न करने की उनकी चिन्ता इतनी बड़ी थी कि यह कहा जा सकता है कि साहित्य-रचना के समय शेक्सपियर के भीतर कोई नैतिक विचार नही था।

३. रोमांसवादी जागरण

जब यूरोप में रोमांटिक आन्दोलन का जोर हुआ, उस समय भी साहित्य के क्षितिज पर यह प्रश्न ज्यों का त्यों टँगा था कि कविता ज्ञान है या आनन्द। वह धर्म, नैतिकता, इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र की चेरी है अथवा इन सबसे भिन्न उसका अपना कोई अलग क्षेत्र है, जिसमें केवल कविता ही काम कर सकती है और दूसरी कोई विद्या काम नही कर सकती ?

जैसे हिन्दी में रोमांटिक आन्दोलन का छायावाद नाम छायावादियों का चुना हुआ नहीं, उनके विरोधियों का चलाया हुआ है, उसी प्रकार, यूरोप में भी रोमांटिक आन्दोलन को रोमांटिक नाम १८१० और १८२० ई० के आसपास उस आन्दोलन के विरोधियों ने, रोमांटिक कवियों को चिढ़ाने के लिए, दिया था। अन्यथा जिसे हम रोमांसवादी काव्य कहते हैं, वह किसी सुचिंतित योजना का परिणाम नहीं था। योजना बनाकर कविता कभी भी लिखी नही जाती है। कहा जाता है कि रोमांसवाद इसलिए उत्पन्न हुआ था कि कविगण बुद्धिवाद की प्रखरता से घबराये हुए थे और अपने लिए वे किसी ऐसे लोक की खोज मे थे जो काल्पनिक अधिक, वास्तविक कुछ कम हो। अथवा यह कि वास्तविकता को चर्मचक्षुओं से देखना

उन्हें पसन्द नहीं था, वे उसे कल्पना के दर्पण में देखना चाहते थे। किन्तु, एक दूसरी दृष्टि से देखने पर यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन काव्यों में कल्पना मंडित जो विशुद्ध और विलक्षण पंक्तियाँ लिखी गयी थीं, उनके आकर्षण ने कवियों के भीतर यह उमंग पैदा कर दी कि जो पंक्तियाँ पहले अपवाद थीं, उन्हें अब साहित्य का सामान्य धर्म बन जाना चाहिए। रोमांसवाद शुद्ध कविता की ओर उठाया गया कदम था।

साहित्य को क्लासिक और रोमांटिक श्रेणियों में विभाजित करने की एक परम्परा सी बन गयी है, किन्तु, कोई भी कवि ऐसा नहीं हुआ, जिसे शुद्ध रूप से क्लासिक या खाँटी रोमांटिक कहा जा सके। ये दोनों शब्द कविता की राजनीति के शब्द हैं, जैसे हम प्रवृत्ति और निवृत्ति को धर्म की राजनीति कह सकते हैं। शैली में नियंत्रण और नियमितता तथा मनोदशा में स्थिरता होने के कारण कवि को, अक्सर, क्लासिक होने की उपाधि दी जाती है। किन्तु, ऐसे कवि के भीतर भी रोमांटिक अन्तर्धारा मौजूद हो सकती है। इसी प्रकार, आवेग प्रधान भावदशा और विस्फोटक शैली का प्रेमी होने के कारण कवि रोमांटिक समझा जाता है किन्तु, एक हद तक नियंत्रण और नियमितता बरते बिना ऐसे कवि का भी काम नहीं चल सकता। अँगरेजी के कवि वर्ड्स्वर्थ अपने समकालीन विस्फोटक कवि शैली और बायरन से बहुत भिन्न हैं, किन्तु, वे क्लासिक न गिने जाकर रोमांटिक माने जाते हैं। विचित्र बात तो यह है कि गेटे को जर्मन आलोचक क्लासिक समझते हैं किन्तु अंगरेज आलोचकों की दृष्टि में वे भी रोमांटिक हैं।

क्लासिकवाद को एक लेखक ने सूर्य का प्रकाश और रोमांसवाद को अँधेरी रात का आसमान कहा है, जिसमें असंख्य तारे टिमटिमाते रहते हैं। क्लासिकवाद ज्ञान का संगठित रूप है, साहित्य में वह लगभग वैज्ञानिक शैली का प्रयोग करता है। किन्तु, रोमांसवाद कल्पना है, फैंटेसी है, जो धूमिलता के भीतर से भी हमें ईश्वरानुभूति तक ले जाता है। क्लासिकवाद की शैली लगभग यांत्रिक होती है, उसका आविष्कार सदियों पूर्व हो चुका है। किन्तु, रोमांटिक कवि को अपनी राह अपनी वेदना और निराशा में से खोजनी पड़ती है। संक्षेप में, क्लासिक चरित्रवान् और रोमांटिक व्यक्तित्वशील होता है। क्लासिक वह है, जिसके विचार बँध चुके हैं, रोमांटिक वह है, जो अभी चिन्तन के प्रवाह में है। क्लासिक कवि जब लिखता होता है, तब उसका दिमाग दिमाग की जगह पर रहता है, किन्तु रोमांटिक का दिमाग हरदम उसके हृदय के समीप होता है। कविता में जो कुछ भी काव्यात्मक है, उसे रोमांटिक से विभक्त करना दुष्कर कार्य है। रोमांसवाद में यह ताजगी इसलिए होती है कि वह क्षण क्षण अधीर, क्षण क्षण पिपासित रहता है। क्लासिकवाद की शैली सन्तोष की शैली है, स्वामित्व की शैली है, संयम और आत्मनियंत्रण से तृप्त कवि का भाव है। किन्तु, रोमांसवाद उच्छृंखलता के छोर पर रहता है,

यद्यपि वह वही से बाँहे बढाकर सारी सृष्टि को एक ही आलिंगन मे समेट सकता है।

कविता की प्रचलित शैली मे से ही अगली शैलियो का जन्म होता है। प्राचीन और मध्यकालीन कविताएँ अपने युग के अनुरूप होती थी। वे क्लासिक शैली की कविताएँ थी। किन्तु, उनके भीतर जब-तब ऐसी पंक्तियाँ भी चमक जाती थी, जिनका संकेत अगली यानी रोमांटिक शैली की ओर था। इन्ही विलक्षण पंक्तियो से कवियो को प्रेरणा मिली कि कविता की अभी और मँजाई हो सकती है, कविता का अभी और विशिष्टीकरण संभव है तथा जो पंक्तियाँ अभी दो-चार की संख्या मे चमकती हुई आती है, हमे कोशिश करनी चाहिए कि पूरी-की पूरी कविताएँ वैसी ही पंक्तियो की लडियाँ बन जायँ। कवि के इसी शौक से प्रेरित होकर कविता स्थूल को छोडकर सूक्ष्म की ओर चलने लगी, वास्तविकता से हटकर कल्पना पर आश्रित होने लगी, समीप को तजकर दूरस्थ ध्वनि की ओर कान पातने लगी। सभी देशो मे रोमांटिक आन्दोलन कविता को सामान्य से हटाकर विशिष्ट धरातल पर ले जाने का आन्दोलन रहा है। सभी देशो के रोमांटिक कवि कुछ विषयों को विशेष रूप से काव्यात्मक और बाकी को अकाव्यात्मक समझते थे। सभी देशो मे रोमांटिक आन्दोलन अपने को कोमल, स्पर्श-मुक्त, अद्भुत और सुकुमार बनाकर रखना चाहता था। और सभी देशों की रोमांटिक कविता की भाषा चुने हुए, चिकने और कोमल शब्दो के मेल से तैयार की जाती थी।

कविता का एक लक्षण यह है कि वह तुरन्त घटी हुई घटनाओ को अपने वक्ष पर अंकित नही करती। घटना के काव्य बनने मे समय लगता है। इतिहास के पुराण या मिथ बनने मे देर लगती है। कविता के इसी लक्षण का अतिरंजित रूप यह है कि विषय जितनी ही दूर से आते हैं, वे उतने ही अधिक कवित्वपूर्ण होते हैं। रोमांसवाद के समय साहित्य उन घटनाओ से प्रेरणा लेने लगा, जो देश और काल के भीतर दूर पर अवस्थित थी, जिनमे कोई विस्मय, अपरिचय अथवा रहस्य का भाव था। इसीलिए रात्रि, अन्धकार, खण्डहर और मृत्यु के बिम्ब रोमांटिक कविताओ मे बहुतायत से रखे जाते थे। रोमांसवाद की मुद्रा, मुख्यत, इच्छा, ललक, उत्कंठा और तरसने की मुद्रा थी, किन्तु, विचारो का उसमे बहिष्कार नही था। किन्तु, यह भी सत्य है कि पहले की कविताओ की अपेक्षा रोमांसवाद मे विचारों के लिए कम स्थान था। रोमांसवाद ने जनता की रुचि को अधिक उदार बनाया, कला की मुक्ति विषयक धारणा को तेज कर दिया और कवियो के भीतर धुँधले, दूरस्थ, अपरिचित और उदास विश्व मे अनुसंधान की प्रवृत्ति जगा दी। पहले की कविताएँ सुस्पष्ट होती थी। रोमांसवाद के आगमन के साथ एक तरह की अस्पष्टता हवा मे मँडराने लगी। पहले की शैली सीधी और ठोस थी। रोमांसवाद की प्रगति के साथ वह पिघलकर तरल होने लगी, वक्र होने लगी और ध्वनि का प्रयोग जैसे-

काव्य के प्रयोजन की जो रोमांटिक धारणा हो सकती है उसका खुलासा शेली के निबन्ध मे आ गया है। रोमांटिक कवि, मुख्यत, सदेशवाही कवि थे। वे जीवन से प्रेरणा लेकर जीवन को प्रभावित करनेवाले कलाकार थे। वर्डस्वर्थ ने कहा था, मैं केवल मनोरंजन करने को लिखूं, यह बेतुकी बात है। मेरी इच्छा है कि या तो मैं उपदेशक के रूप मे जियूं अथवा बिलकुल भुला दिया जाऊँ। केवल कोलरिज ने यह माना था कि नैतिक या बौद्धिक ज्ञान कवि विशेष का लक्षण हो सकता है, किन्तु, कविता जिस श्रेणी का साहित्य है, उस श्रेणी का साहित्य केवल आनन्द के लिए होता है।

युगो से यह शका चली आ रही थी कि कविता का अन्य विद्याओ से क्या सम्बन्ध है। यदि कविता समाज सुधार के लिए लिखी जाती है, तो समाज शास्त्र और नीतिशास्त्र स्वामी हैं, कविता उनकी दासी है। कविता अगर धर्म-प्रचार के लिए लिखी जाती है, तो प्रमुखता धर्मशास्त्र की मानी जानी चहिए, कविता गौण ही मानी जायगी। इस शका का समाधान शेली ने यह कहकर कर दिया कि कविता किसी भी शास्त्र की दासी नहीं है, वह सभी शास्त्रो का समवाय है—यहाँ तक कि सारे विज्ञान उसके भीतर समा जाते है। शेली के तर्क आज यत्किंचित् हास्यास्पद भले दीखें, किन्तु, शेली के जीवन काल और उनकी मृत्यु के बाद तक कविता के बारे मे जनसाधारण की वही राय थी, जिसका इजहार शेली ने किया था। कवि देवदूत माना जाता था। कविता अदृश्य की वाणी समझी जाती थी। और सबसे बडी बात यह थी कि कवि समाज के समीप था और उस भाषा मे अपनी बात कहता था, जिसे समझने की जनता को शक्ति थी। जो आशाएँ और आदर्श सन् १७८९ ई० की फ्रांसीसी क्रान्ति के साथ उभरे थे, उनका रोमांटिक आन्दोलन पर पूरा प्रभाव था, और गरचे, कोलरिज और वर्डस्वर्थ उस आन्दोलन के प्रभाव से बचना चाहते थे, मगर, इग्लैंण्ड के अधिकाश कवि उस आन्दोलन के साथ थे। इससे कविता अपने युग का प्रतिबिम्ब बन गयी और पिकाक-जैसे लोगो की काव्य-निन्दा पर जनता ने कोई ध्यान नही दिया। कल्पना को एक नयी दिशा देकर, भाषा में एक नयी भगिमा उत्पन्न करके और दूर से ही जिन्दगी को हिलकोर कर रोमांटिक कवियों ने कविता मे सम्मोहन के साथ प्रेरणा भी भर दी थी। अतएव रोमांटिक कवि उतने लोकप्रिय हो उठे, जितने लोकप्रिय अन्य युगो के कवि नही हुए थे।

रोमांटिक जागरण के समय प्रेरणा का स्वरूप बहुत कुछ ईश्वरीय समझा जाता था। रोमासवादी कवि व्युत्पत्ति और अभ्यास के उतने कायल नहीं थे, जितने [illegible]तिन के और शक्ति को वे ईश्वर-प्रदत्त गुण समझते थे। उनका भरोसा बुद्धि पर [illegible]म, सबुद्धि (इनट्युइशन) पर अधिक था। अठारहवी शताब्दी तक यूरोप मे [illegible]द्धिवाद काफी जोर से प्रचलित हो गया था और लोगो में यह धारणा फैल गयी [illegible]ी कि परीक्षण के बिना किसी भी वस्तु को स्वीकार नही करना चाहिए। रोमास-

वाद इसी बुद्धिवादी एव परीक्षणप्रिय दृष्टिकोण के विरुद्ध सबुद्धिपरक कल्पना का विद्रोह था।

जब से शुद्ध कविता का आन्दोलन उठा है, लोगो को रोमासवाद मे केवल त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ दिखायी देने लगी है। किन्तु यह बात भुलायी नही जा सकती कि युगो से आती हुई काव्य परम्परा मे पहली विशाल क्रान्ति रोमासवादियो ने की थी। काव्य मे स्थूल की जगह सूक्ष्म की स्थापना-रोमासवादियो की स्थापना थी। बुद्धि और कल्पना के मिश्रण का मार्ग पहले-पहल रोमासवादियो ने प्रशस्त किया था। कविता वस्तुओ के वाह्य रूपो के वर्णन मे नही, प्रत्युत, उनके भीतर या उनके पीछे छिपे तत्त्वो की खोज मे है, इस रहस्य का भी अधिक से अधिक उद्घाटन रोमासवादियो ने किया था। रोमासवाद के बाद अनेक देशो मे प्रतीकवाद, अभिव्यजनावाद तथा चित्रवाद के जो अनेक आन्दोलन उठे, उनके बीज रोमासवादियो की रचनाओ मे खोजे जा सकते है। असल मे, रोमासवाद गतिशील आन्दोलन था, जिसकी यात्रा जीवन के समुच्चय की ओर थी। यह उस एकान्त का काव्य नही था, जहाँ आत्मा निष्क्रिय और निस्पन्द रहती है, प्रत्युत, यह जीवन के होने का काव्य था, उसके आस्फालन और गतिमयता की कविता थी। अतीत के प्रति ममता और अतीत से विद्रोह, अतिवादी आदर्शवाद और स्थूल वास्तविकता, जो विषय दैनिक जीवन के हैं और जो वस्तुएँ काल्पनिक और दूरस्थ हैं, प्रजातत्र मे विश्वास और सामतशाही की चाह, मनुष्य की पूर्णता की आशा और उसका गभीर नैराश्य, ये सारे लक्षण यूरोप के रोमासवाद मे भी थे और हिन्दी के छायावाद मे भी।

केवल इतना ही नही, रोमाटिक कवियो ने भी ऐसी अनेक कविताएं रची थीं, जिनका उद्देश्य न तो मनुष्य का सुधार था, न दार्शनिक अनुभूतियो की व्याख्या, जो मात्र कला की सृष्टि थी तथा जिनका लक्ष्य अभिव्यक्ति की पूर्णता के सिवा और कुछ नही था। अतएव जो भी नया कवि रोमाटिक धारा की खिल्ली उडाता है, वह कला के एक ऐसे प्रवाह का विरोध कर रहा है, जिससे उसका जन्म हुआ है, जिसके बिना नयी कविता का उद्भव नहीं हो सकता था।

रोमासवाद के खिलाफ यूरोप मे जितनी बातें पिछले ७०-८० वर्षों मे कही गयी हैं, उनमे से दो-तीन बातें ही सही मालूम होती हैं। अगर जनता की पहुँच मे होना दोष है, तो रोमाटिक कवि जरूर दोषी थे। यदि भावना मे आवेश का आवेश की भाषा मे व्यक्त करना अपराध है, तो यह अपराध रोमाटिक कवियो ने अवश्य किया था (यद्यपि वर्डस्वर्थ इस नियम के अपवाद थे और कीट्स मे भी थोडा सयम ही मिलता है)। और यह इलजाम भी सही है कि आवेश मे होने के कारण रोमाटिक कवि शब्दो की वैसी मितव्ययिता नहीं बरतते थे, जैसी मितव्ययिता रिल्के और इलियट ने बरती है।

रोमांटिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन मे भेद है और यही भेद कविता और विज्ञान की भाषाओ मे भी है। कवि के सोचने और बोलने के पीछे यह भाव काम करता है कि वह श्रोताओ के भीतर भावदशा उत्पन्न कर सके, उनकी आत्मा के सरोवर को हिलकोर सके। किन्तु, वैज्ञानिक इस भाव से सोचता है कि जो तथ्य है, वह उसकी पकड मे आ रहा है या नही तथा बोलने और लिखने के समय भी वह उतने से एक भी अधिक शब्द का प्रयोग नही करता, जो विषय को समझाने के लिए अनिवार्य है। वैज्ञानिक की प्रतिष्ठा ही इस कारण से है कि वह भावनाओ से दूर रहता है, वस्तुओ का वर्णन यथातथ्य रूप से करता है और श्रोताओ पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डालना नही चाहता। अगर वैज्ञानिक लोगो को प्रभावित करने की कोशिश करे, तो लोग उसका आदर नहीं करेंगे, उल्टे वे उस पर शका करने लगेंगे।

नयी कविता मे शब्दो की मितव्ययिता विज्ञान की देखा-देखी बढी है और विज्ञान के प्रभाव के कारण ही कवि अब आवेश को दबाकर लिखने लगे हैं। वैज्ञानिक ने कवि का कोई प्रभाव स्वीकार नही किया, क्योकि कवि के प्रभाव से उसकी क्षति हो सकती है। किन्तु, नये कवि विज्ञान का अनुकरण करने को तैयार हो गये। यह अनुकरण कहाँ तक काम्य है और कहाँ पहुँचकर वह अनिष्टकारी बन सकता है, इसका विचार पग-पग पर होते रहना चाहिए। क्योकि विज्ञान कविता का विरोधी शास्त्र है और कवियो को अगर यह लोभ हुआ कि वे पूरे अर्थो मे वैज्ञानिक बनेंगे, तो कविता का अस्तित्व समाप्त हो जायगा अथवा वह मनोविज्ञान की चेरी बनकर जियेगी। रोमांटिक कवि शत-प्रति-शत गलत थे और नव-कवित्ववादी बिलकुल ठीक हैं, ऐसा निर्णय आसानी से नही दिया जा सकता। शायद एकाध शताब्दी के बाद यह बात स्पष्ट होगी कि रेम्बू और मलार्मे ने जो कुछ किया, वह कविता के हित मे कितना गलत और कहाँ तक ठीक था।

शुद्ध कवित्व का आन्दोलन आज कवि और काव्य के जिन गुणो पर बहुत अधिक जोर दे रहा है, उनमे से बहुत-से गुण रोमासवादियो मे भी विद्यमान् थे। अपने आयुकाल मे रोमासवाद आधुनिक और क्रान्तिकारी आन्दोलन था। वह व्यक्तिवाद मे विश्वास करता था और अपने इस विश्वास पर उसे नाज भी था। तार्किकता और उपदेशवाद से बचने की प्रवृत्ति रोमासवाद मे भी थी, गरचे इस प्रवृत्ति से वह बच नही पाता था। रगो को कान से सुनने और ध्वनियो का स्पर्श करने का प्रयोग सबसे पहले रोमासवादियो ने किया था। और इन प्रयोगो के अनुरूप उन्हें शब्द भी मिल गये थे। कला की उस शक्ति का सपना उन्होने भी देखा था जो कविता को सगीत के समान निराकार कर सकती है, जो उसे चित्रो के समान साकार भी बना सकती है। यह सत्य है कि जैसे शुद्ध कवित्ववादियो के सभी सपने हाथ नहीं आ रहे हैं, उसी प्रकार रोमासवादियो के भी सभी सपने

साकार नही हुए । किन्तु, यह उमग तो रोमासवादियो के भीतर भी थी कि कविता लाजिक की अधीनता मे नही रहे, वह किसी भी शास्त्र की अनुचरता स्वीकार न करे और समाज मे अपना स्थान वह अपने ही बल से बनाये ।

शुद्ध कवित्ववादी अब धीरे-धीरे उस स्थान पर पहुँच गये हैं, जहाँ कविता उस महल के समान आकाश मे ठहरना चाहती है, जिसमे न तो कोई खभा है, न दीवार, जो शून्य मे केवल अपनी साधना के सहारे खडा है। हाल के जर्मन कवि बेन ने कहा है, "आदर्श कविता वह है, जो आदि से अन्त तक कविता ही कविता है, जिसके भीतर न तो कोई आशा है, न विश्वास, जो किसी को भी सबोधित नही है, जो केवल उन शब्दो का जोड है, जिन्हें हम मोहिनी अदा के साथ एकत्र करते हैं।' लगता है, इस तरह की कोई कल्पना रोमाटिक युग मे ही मँडराने लगी थी । जर्मनी के रोमाटिक उपन्यासकार नोवालिस (१७७२-१८०१) ने कहा था, 'सभी कविताओ को उस परी-कथा के समान होना चाहिए जिसके पीछे न तो कोई लाजिक होता है, न इतिहास या भूगोल, जो केवल सयोग से उत्पन्न होती है।"

हिन्दी में जब प्रगतिवाद की धूम मची, तब यह बात बडे जोर से कही गयी थी कि छायावादी काव्य निरा काल्पनिक और जीवन से पलायन सिखानेवाला काव्य है । किन्तु, अब जो नयी कविता आयी है, उसके परिप्रेक्ष्य मे छायावाद जीवन से उतना दूर दिखायी नही देता, जितना दूर वह प्रगतिवादियो को दिखायी पडा था। यूरोप मे जब रोमाटिक कविता का विरोध हुआ, तब इस विरोध का कारण यह नही था कि रोमाटिक कवि पलायनवादी सिद्ध हुए थे, बल्कि, यह कि वे जीवन से बहुत अधिक लिप्त थे और जनता मे अपने सदेशो का प्रचार करते थे। रोमासवादियो का दोष यह था कि वे शुद्ध कवित्ववादियो के समान माटी कलाकार नही थे, उनकी सारी आस्था शब्दो के प्रति न होकर जीवन के प्रति भी थी, कला के प्रति न होकर सदेश के प्रति भी थी। भारत मे मम्मट ने कहा था कि कविता मे भाव का स्थान गौण है, प्रमुखता भाषा और भाव के बीच चलनेवाली स्पर्धा को मिलनी चाहिए। अर्थात् सत्कवि के लिए भाषा और भाव मे से भाषा ही बडी आराधना की अधिकारिणी है। यूरोप मे रोमासवाद के विरोधियो की धारणा यह बनी कि रोमाटिक कवि भावो की आराधना मे लगे हैं, उन्हें शब्दो के सुप्रयोग अथवा भाषा के भीतर छिपी सभावनाओं के अनुसधान की कोई खास चिन्ता नही है । रोमासवाद का उत्थान बुद्धिवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध सबुद्धि की महिमा जगाने के लिए हुआ था, अतएव, उसका असली जोर भाषा पर न होकर दृष्टिकोण की नवीनता पर था, यद्यपि दृष्टिकोण की नवीनता के अनुरूप रोमास-वादियो की भाषा भी नवीन हो गयी थी। किन्तु, रोमासवादियो के विरुद्ध जो आन्दोलन उठा, उसका सारा जोर, आरम्भ से ही, शैली पर पडा और तब से यूरोप मे जितनी भी कविताएँ लिखी गयी हैं, उनमे शैली प्रधान रही है, भाव बिलकुल

गौण हो गये हैं। किन्तु, यहाँ भी ध्यान रखना चाहिए कि शैली का भी मार्जन रोमांटिक युग मे आकर जितना हुआ, उतना पहले के किसी भी युग मे नही हुआ था। यूरोप के रोमांटिक कवि यह कहकर बदनाम किये गये कि वे जीवन के प्रति बहुत अधिक अनुरक्त हैं और भारत के छायावादी इस कारण कि वे जीवन से बहुत दूर हैं। किन्तु, दोनों भूभागों मे इन्ही लोगो ने वह जमीन तैयार की, जिस पर शुद्ध कविता विचरण कर सकती थी। रोमांटिक युग वह सेतु है, जिस पर चढ़कर पुरानी कविता नये युग मे प्रवेश करती है।

४ शुद्धतावादी आन्दोलन का आरम्भ

रोमांटिक कविता कल्पना-प्रधान होने पर भी जीवन के प्रति दायित्वहीन नही थी। रोमासवादी काव्य पहले के काव्यों की तुलना मे काफी व्यक्तिवादी था, लेकिन, फिर भी वह समाज से सपृक्त था। रोमांटिक कवि चाहते थे कि समाज उन्हे पढे और समझे तथा बदले मे उन पर कीर्त्ति की वृष्टि करे और कवियो की यह भावना उनकी कविताओ को प्रभावित करती थी, उन्हे समाज की पहुँच के भीतर रखती थी। किन्तु, जनता के प्रति एक प्रकार के क्षीण अनादर और असतोष का भाव रोमांटिक युग मे ही दिखायी पडने लगा था। कवियो को सलाह देते हुए एक बार शैली ने लिखा था, "तुम तब तक कुछ भी नही लिखो, जब तक तुम्हें यह विश्वास न हो जाय कि तुम्हारे भीतर कोई सत्य है, जो तुम्हे लिखने को लाचार कर रहा है। सीधे-सादे लोगों को तुम सलाह दे सकते हो, किन्तु, उनसे सलाह लेना तुम्हारा काम नही है। अपढ और बेवकूफ जनता कविता पर जो राय कायम करती है, वह टिकाऊ नही होती। काल अपनी राय उसके विरुद्ध बनाता है। समकालीन आलोचना उन मूर्खताओ का पुंज है, जिनसे प्रतिभाशाली लोगो को बेकार उलझना पडता है।"

जनता के प्रति शत्रुता और उपेक्षा के ये भाव शैली की कलम से किस कारण निकले होंगे ? अवश्य ही, यह उस विचारधारा का आरम्भ था जो कविता को विशेषज्ञों की चीज बनाना चाहती थी, जो जनता के पूर्वाग्रहो के जाल से कविता को मुक्ति दिलाना चाहती थी। यह कला की स्वाधीनतावाले आन्दोलन का पूर्वाभास था। इसके भीतर यह भाव छिपा था कि कला की जो असली बारीकियाँ हैं, कविता जिन गुणो के कारण और कुछ न होकर कविता होती है, उन खूबियो को केवल विशिष्ट रुचि के पाठक ही समझ सकते हैं। जनता कविताओ मे सामाजिक उत्तेजना खोजती है, धर्म अथवा नैतिकता-सम्बन्धी विचार चाहती है, किन्तु, जिन पाठकों की बौद्धिक क्षमता विकसित तथा रुचि परिमार्जित और महीन है, वे कविता की शैली को समझते हैं, उसकी ध्वनि और निराकार सगीत का आनन्द लेते हैं। अतएव, कवियों को लिखते समय जनता का ध्यान नही रखना चाहिए। उन्हे या

तो अपने संतोष के लिए लिखना चाहिए अथवा उन मुट्ठी भर शिष्ट रुचि वाले पाठकों के लिए जो कवियों के समान-धर्मा अथवा उनके आत्म-बन्धु हैं।

यह वह समय था जब ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों मे विशिष्टीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। उसकी संक्रामकता ने कविता के क्षेत्र मे भी प्रवेश किया और काव्य भी विशिष्टीकरण की ओर लोभ से देखने लगा। जिस चेतना के बीज शैली के ऊपर के उद्‌गार मे दिखायी देते हैं, उसी के प्रस्फुटन, वर्द्धन और विकास से समस्त यूरोप में सौन्दर्यबोध का एक नया आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन के आश्रय नवयुवकों की छोटी-छोटी टोलियाँ थी। ये कलाप्रेमी युवक काव्य के उन गुणो पर जोर देते थे, जो कविता के शैली-तत्र मे निहित होते हैं, भावो या विचारो पर नही, जो बाहर से आकर कविता मे शक्ति और प्रभविष्णुता उत्पन्न करते हैं। शैली, लय, चित्र, टोन और रूपकों की महिमा पहले के कवियो को भी ज्ञात रही थी, किन्तु, वे शैली के इन गुणो को साध्य नहीं, केवल साधन मानते थे। साध्य तो कोई और वस्तु थी जिसका सम्बन्ध विषय, विचार अथवा कवि के सम्पूर्ण दृष्टिबोध से पडता था। सभी युगो मे शैली कथ्य का माध्यम होने के कारण महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। किन्तु, अब कलाकारो का जोर इस बात पर पड़ने लगा कि कथ्य तो बिलकुल बाहर से आयी हुई चीज है। कला की सारी महिमा उसकी शैली में निविष्ट होती है। उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध मे ले हण्ट ने मार्लो, स्पेंसर और मिल्टन के काव्य का विश्लेषण करके शैली की महिमा निरू-पित करने को अनेक निबन्ध लिखे थे, किन्तु, पाठकों का भाव उस समय यह बना था कि खुद स्पेन्सर, मार्लो और मिल्टन शैली की इन विलक्षणताओ को अपनी काव्यात्मक उपलब्धियों का सार नही मान सकते थे।

हर वैचारिक आन्दोलन अपने विरोध का बीज अपने ही भीतर लिये रहता है। शुद्धतावादी आन्दोलन, वैसे तो, रोमासवाद के बाद और बहुत कुछ उसके विरुद्ध उठा था, लेकिन, उसके बीज रोमाटिक कवियों की ही साधना मे मौजूद थे। ये बीज कवियों की उन पक्तियों में मौजूद थे, जो अत्यन्त काव्यात्मक होकर प्रकट होती थी, जिनमें कोई ज्ञान की बात नही होती थी, जो केवल अनुभूतियों का आख्यान, रूप का चित्रण अथवा किसी मनःस्थिति का तटस्थ सकेत देकर समाप्त हो जाती थी। कविताओ के भीतर ये शुद्ध पक्तियाँ ही सबसे अधिक लुभावनी भी दिखायी देती थी। ऐसी ही पंक्तियो को देखकर सजीव सवेदनावाले कवियों के भीतर यह कल्पना उठी होगी कि कविता का सौन्दर्य उसकी शैली मे होता है, भाव मे नही। शैली और भाव के बीच कवियो मे शैली के प्रति जो पक्षपात उत्पन्न हुआ, असल मे, शुद्धता का आरम्भ उसी पक्षपात मे था। कवियो का विचार यह बनने लगा कि असली वस्तु शैली है, भाव का महत्त्व उस खूंटी का महत्त्व है जिस पर कमीज टाँगी जाती है। इसी से यह विचार भी उत्पन्न हुआ कि शुद्ध विषय

काव्यात्मक और बाकी अकाव्यात्मक नही हैं। कविता की उत्तमता के लिए विषय का उत्तम या महान होना तनिक भी आवश्यक नही है। चूंकि भाव का महत्त्व अत्यन्त गौण है, इसलिए कोई भी विषय कविता का अनुकूल विषय हो सकता है। कवि का कार्य विषय का वर्णन अथवा भावो का आख्यान नही है। भाव और विषय केवल बहाने हैं, कवि का मुख्य कार्य कविता रचना है और सारी की सारी कविता शैली से लिपटी होती है।

जब भाव और विषय की महिमा समाप्त हो गयी, तब स्वभावत ही, दो और सिद्धान्त निकल पडे कि कविता के भीतर वास्तविकता अथवा सत्य की खोज निरर्थक है तथा कविता के उपयोग की सारी चिन्ता बेकार है। कविता सत्य का वर्णन करने के लिए नही है। सत्य का वर्णन तो अपने अपने क्षेत्रो मे अनेक शास्त्र करते हैं। इसी प्रकार, कविता उपयोग के लिए भी नही है। जब फूलो का कोई उपयोग नही है, सगीत और चित्रकला बिना किसी खास उपयोग के कायम हैं तब कविता से ही लोग यह आशा क्यो करते है कि वह उपयोगी होगी?

नयी कविता से रोमाटिक कविता की तुलना करने पर न्यायत यह नही कहा जा सकता कि रोमाटिक कवियो मे कला का कोई अभाव था। नयी और रोमाटिक कविताओ के भेद का आधार कला नही है। दोनो प्रकार की कविताओ मे मुख्य भेद यह है कि एक मे अर्थ सुस्पष्ट मिलता है और दूसरी मे अर्थ पकडाई नही देता। एक मे दुरूहता नही है, किन्तु, दूसरी मे दुरूहता दिनोदिन अधिक सघन होती गयी है। एक मे अरूप जगत के बीच धँसने की प्रवृत्ति कम, दूसरी मे बहुत अधिक है। एक मे बिम्बो का उपयोग साधन के रूप मे किया जाता था, दूसरी मे बिम्ब और चित्र लगभग साध्य हो गये हैं। किन्तु, इससे यह नही कहा जा सकता कि कविता को शुद्ध कलाकृति के रूप मे देखने का लोभ रोमाटिको मे नही जगा था। जुरार द नेर्वाल (१८०८-१८५५) फ्रेंच भाषा के रोमाटिक कवि थे किन्तु, उन्होने कहा था कि 'कला हमारे लिए साधन नहीं, साध्य है। जो भी कलाकार सौन्दर्य को छोडकर किसी अन्य वस्तु को अपना लक्ष्य बनाता है वह हमारी दृष्टि मे कलाकार नही है।" और फ्रेंच भाषा के ही एक दूसरे रोमाटिक कवि तियोफिल गोतिये (१८११-१८७२) तो उपयोगिता से इतने घिनाते थे कि उन्होने घोषणा कर दी थी कि "जो भी वस्तु उपयोगी है, वह बिलकुल कुरूप है। घर का सबसे उपयोगी भाग वह है, जिसे हम शौचालय कहते हैं।"

ये भविष्य की चिनगारियाँ थी, जो रोमाटिक युग मे ही चमकने लगी थी। शुद्ध कला की ओर सभी रोमाटिक कवि और लेखक एक रहस्यमय लोभ से देखते थे। किन्तु, कला के जिस शुद्ध रूप की झाँकी उन्हे जब-तब कल्पना मे दिखायी देती थी, व्यवहार मे ठीक उसी प्रकार की कविताएँ वे नही लिख सके थे। ऐसी कविताएँ उन लोगो ने लिखी, जो उनके बाद आये तथा जिनके भीतर नवीनता

का तेज बहुत ही प्रखर था।

रोमांटिक आन्दोलन के समय ये सारी बातें उतनी स्पष्ट नहीं हुई थी, जितनी ऊपर के संदर्भ मे दिखायी देती हैं, किन्तु, वे अस्पष्ट रूप से कवियों की अन्तरात्मा में गूँजने जरूर लगी थी। इसी अस्पष्ट गुंजन की एक झंकार शेली ने सुनी थी, जिसे उन्होंने यह कहकर व्यक्त किया था कि कवियों का बंधुत्व उन शिष्ट रुचि वाले थोड़े-से पाठकों से बैठता है, जो शैली की खूबियों का आनन्द ले सकते हैं। किन्तु, युग के हृदय मे छिपी हुई जिस भावना को पूरी अभिव्यक्ति कोई भी रोमांटिक कवि नही दे सका, वह अमेरिका के एक कवि एडगर एलेन पो (मृत्यु १८४६ ई०) के मुख मे अच्छी भाषा पा गयी। इसीलिए, हमारा ख्याल है कि शुद्धतावादी आन्दोलन का आरम्भ एडगर एलेन पो से ही माना जाना चाहिए। क्योंकि आगामी काव्य के उन्होंने केवल लक्षण ही नहीं कहे, बल्कि, प्रतीकों के प्रयोग से उन्होंने शुद्ध कविताएँ भी लिखकर एक नयी परम्परा को जन्म दे दिया।

जब एलेन पो जीवित थे, अंग्रेजी कविता मे रोमासवाद का प्रभाव काफी गहराई से छाया हुआ था। शेली, बायरन और कीट्स तो गुजर चुके थे, किन्तु, वर्ड्सवर्थ उस समय तक शायद स्वर्गीय नही हुए थे और अभिनव रोमांटिक के रूप मे टेनिसन (१८०९–१८९२) और ब्राउनिंग (१८१२–१८९०) प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे थे तथा रस्किन और मैथ्यू आर्नाल्ड साहित्य की जीवनवर्ती व्याख्या प्रस्तुत करने मे तल्लीन थे। ऐसे समय मे एडगर एलेन पो ने कला की भूमि पर बम फेंकते हुए यह घोषणा की कि "कला का चरम ध्येय सौंदर्य का विधान है, भावनाओं का जागरण है, आनन्द की उत्तेजना है और यह काम कला टेरर के जरिये करती है, ट्रेजेडी के जरिये करती है, सनक और पागलपन के भी जरिये करती है, किन्तु सत्य के द्वारा कभी नही करती।"

सोद्देश्य होने की सभावना उसी कवि मे रहती है, जो सत्य, वास्तविकता अथवा जीवन के प्रति दायित्व का अनुभव करता है। अतएव, सोद्देश्यता को मिटाने के लिए एलेन पो ने साहित्य मे से सत्य को ही मिटा दिया। और यह केवल सिद्धान्त की बात नही थी। इसका पालन उन्होने अपने समग्र साहित्य मे किया है। उनकी कविताओं और कहानियों मे से एक भी ऐसी नही है, जिसके बारे मे यह कहा जा सके कि वह वास्तविकता को ध्यान में रखकर रची गयी है अथवा उसके भीतर, दूर पर भी, कही कोई उद्देश्य है। कविता मे वे सगीत की महिमा को सर्वोपरि समझते थे, क्योंकि सगीत प्रचार का माध्यम बनने से इनकार करता है। उनका विचार था कि संगीत जब आनन्ददायी विचार के साथ होता है, तब उससे कविता उत्पन्न होती है। जब संगीत मे विचार नही होते, वह केवल संगीत होता है। और जब विचारो मे सगीत नही होता, तब वे केवल गद्य होते हैं।"

उपयोगिता और सोद्देश्यता को एलेन पो कवि के लिए बिलकुल त्याज्य समझते थे। उन्होने लिखा है कि "प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यह बात, प्राय., मान ली गयी-सी लगती है कि कविता का अन्तिम ध्येय सत्य है। लोग कहते आये हैं कि प्रत्येक कविता मे कोई नीति अथवा उपदेश होना ही चाहिए। बल्कि उनका भाव यह दीखता है कि कविता का कवित्व उसमे निरूपित उपदेश से ही परखा जाना चाहिए। हमारे दिमाग मे यह बात बैठ गयी-सी लगती है कि अगर कोई कवि काव्य की रचना केवल कवित्व के लिए करे और यह बात स्वीकार कर ले कि यह दोप उसने जान-बूझकर किया है, तो साधारणतः लोग उसे समर्थ कवि मानने से इनकार कर देंगे। लेकिन सीधी बात यह है कि अगर हम अपनी आत्मा की गहराई मे डूब कर विचार करें, तो हमे पता चलेगा कि जो कविता केवल कवित्व के लिए रची गयी है, कवित्व से आगे जिसका कोई लक्ष्य नही है, जो केवल कविता है अन्यथा कुछ भी नही, उस कविता से बढकर सुन्दर और गौरवपूर्ण कृति ससार मे और दूसरी नही हो सकती।"

लगता है, शुद्ध कवित्व का जो आन्दोलन आगे चलकर उठने वाला था, उसकी पूरी झलक एडगर एलेन पो की रोमाटिक युग मे ही दिखायी पड गयी थी। किन्तु उन्होने आगामी काव्य का जो पूर्वाभास दिया था, उस पर अमरीका और इग्लैण्ड मे उस समय किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। उनका जन्म १८०९ई० मे और देहावसान सन् १८४९ ई० मे हुआ था। किन्तु, अपनी चालीस साल की उम्र मे वे बराबर गरीबी, रोग और उपेक्षा से आक्रान्त रहे। साहित्य-क्षेत्र मे उन्हे चिढाने वाले लोग तो थे, लेकिन, ऐसे लोग नही थे, जो उन्हे समझने का प्रयास करते। इसके कारण शायद दो थे। पहला यह कि साहित्य का ध्येय वे शिव और सत्य को नहीं, केवल सुन्दर को मानते थे, केवल आनन्द को मानते थे और यह सिद्धान्त उस युग की मान्यता के विरुद्ध पडता था। और दूसरा कारण शायद यह था कि अपने वैयक्तिक जीवन मे, नैतिक आचरण के मामले मे, वे जनमत की उपेक्षा करते थे।

५. पेरिस के मनीषियो का प्रयोग

किन्तु, पो के भीतर चमकने वाली भविष्य की जिस रोशनी को इग्लैण्ड और अमरीका के कवि नही देख सके, उसे फ्रास के दो कवियो—बोदलेयर और मलार्मे ने देख लिया। बोदलेयर एलेन पो से इतने अभिभूत हो उठे कि उन्होने पो की कहानियों का अनुवाद फ्रेंच मे किया और फ्रेंच मे पो की प्रशसा की नीव डाल दी। इसी प्रकार मलार्मे ने पो की अग्रेजी कविताओ का अनुवाद फ्रासीसी म किया। पो की मृत्यु पर मलार्मे ने कविता भी लिखी थी जिसमे उन्होने यह कहा था कि "पो की समाधि पर विचार कोई नक्काशी नही

कर सकता।" अर्थात् पो की शोभा विचारो से नही बढती, वे शुद्ध भावना के कवि थे।

बोदलेयर और मलार्मे के साथ साहित्य मे जिस प्रतीकवादी आन्दोलन का आरम्भ हुआ, उसकी प्रेरणा पो की कविताओ से भी आयी थी और उस आन्दोलन के समर्थन मे एडगर एलेन पो का नाम नेता-कवि के रूप मे लिया जाता था। पो के प्रति प्रतीकवादियो का भाव गुरु के प्रति शिष्यो का भाव था। यही भाव हम रूस के अर्वाचीन स्वर्गीय प्रतीकवादी कवि पास्तरनेक मे भी देखते हैं, जिन्होने एक कविता में एलेन पो का उल्लेख बडी ही श्रद्धा और प्रेम के साथ किया है। वैसे बोदलेयर और पास्तरनेक की तुलना मे एडगर एलेन पो बहुत छोटे कवि थे।

कला को लेकर भारत मे बगाल का जो स्थान है, उससे *कुछ अधिक तेजस्वी* स्थान यूरोप मे फ्रास का है। कला की बारीक अनुभूतियां पहले फ्रास मे प्रकट होती हैं और वहां से वे सारे यूरोप और अमरीका मे फैलती हैं। विशेषत, शुद्ध कवित्व के आन्दोलन को जितनी पुष्टि फ्रास मे मिली, उतनी किसी और देश मे प्राप्त नही हुई। यह सत्य है कि रोमाटिक कविता के खिलाफ एक प्रकार का अस्पष्ट असतोष कई देशो मे दिखायी पड़ा था। इग्लैण्ड मे शेली ने यह सकेत दिया था कि शैली कदाचित् भाव से अधिक महत्वपूर्ण है। अमरीका मे एडगर एलेन पो ने सत्य और उपयोगिता, दोनो को कला से बाहर खदेड देने की बात कही थी। इसी प्रकार जर्मन कवि होल्डरलीन (१७७०–१८४३) ने रोमाटिक कविता की आवेशप्रियता को दुर्गुण बताया था। उन्होने एक मित्र को पत्र मे लिखा था कि "होश-हवास की सुस्थिर मुद्रा जब कवि को छोड देती है, उसी समय कवि की प्रेरणा भी उससे विदा हो जाती है। बड़े कवि कभी भी अपने हाथ से नही छूटते।" लेकिन इतना होने पर भी शुद्ध कविता का असली प्रयोग, और किसी देश मे आरम्भ न हो कर, फ्रास मे आरम्भ हुआ और वही, तीन महाकवियो (बोदलेयर, रेम्बू, मलार्मे) के हाथों शुद्ध कविता ने ऐसा निखरा हुआ रूप प्राप्त कर लिया कि वह ससार भर के आगामी काव्य का 'माडल' बन गया।

पिछले सौ वर्षों से फ्रास के कवि विचार और विश्लेषण तथा आशा और विश्वास, सबसे विमुक्त खांटी, शुद्ध कविता की साधना मे ऐसी तन्मयता से लगे रहे हैं, जैसी तन्मयता से पहले के साधक कैवल्य या मोक्ष की खोज मे लगते थे। और फ्रास के कवियो की देखादेखी *अन्य देशो के कवि भी उसी स्वप्न की ओर* दौडते रहे हैं। १८४६ ई० के पूर्व एडगर एलेन पो ने शुद्ध कविता का जो स्वप्न देखा था, वह स्वप्न अब इतना सूक्ष्म हो गया है कि अगर पो स्वयं वापस आकर देखें तो उन्हे आश्चर्य होगा कि बातें कहां से शुरू हुई थी और वे अब कहां पहुंच

गयी हैं। हमारा ख्याल है कि रोमाटिक युग के अन्त होते होते कवियो के भीतर कविता के आगामी रूप की जो कल्पना, बीज के रूप मे, दिखायी पडी थी, वह थोडे ही दिनो मे अकुरित, पल्लवित और पुष्पित इसलिए हो गयी कि लगभग एक ही समय पेरिस मे उसे तीन ऐसे प्रतिभाशाली कवि मिल गये, जिनमे से प्रत्येक एक स्वतन्त्र युग का नेता हो सकता था।

बोदलेयर, रेम्बू और मलार्मे बडी विलक्षण प्रतिभा के कवि थे। उनमे अरूप के भीतर धँसने की अपरिमित शक्ति थी। बोदलेयर मे तो परम्परा की साफ निशानी जरूर मिलती है मगर, रेम्बू और मलार्मे को देखकर भासित होता है कि कवि ऐसे भी हो सकते हैं, जो चाहे तो प्राचीन परम्परा से टूटकर सर्वथा नयी परम्परा का आरम्भ कर सकते हैं, चाहे तो ऐसे महल बना सकते हैं, जिनमे दीवार या खभे नही हो। बोदलेयर, रेम्बू और मलार्मे के बाद यूरोप की कविता ने वही राह पकड ली, जिसे इन तीन महाकवियो ने तैयार किया था।

अगर ये कवि कुछ कम क्रान्तिकारी हुए होते, तो नयी कविता परम्परा से उतनी दूर नही जाती जितनी दूर वह आज दिखायी देती है। अगर ये कवि कुछ कम शक्तिशाली हुए होते, तो कविता अरूप के भीतर दूर तक धँसने के प्रयास मे उतनी दुरूह भी नही हो पाती, जितनी दुरूह वह आज दिखायी देती है। लेकिन, यह भी ठीक है कि यदि ये तीन महाकवि नही उत्पन्न हुए होते, तो भाषा की वे प्रच्छन्न शक्तियाँ भी उतनी उदबुद्ध नही हुई होती, जितनी उद्‌बुद्ध वे इन तीन कवियो के अथवा उनके उत्तराधिकारियो के दुर्घर्ष प्रयोगो के कारण हुई हैं। शुद्ध कविता की दिशा, आरम्भ मे, इन्ही तीन कवियो ने निर्धारित की थी और अन्तर्राष्ट्रीय काव्य तब से उसी दिशा मे प्रगति करता रहा है। अतएव, थोडे मे, हमे यह जानने का प्रयास करना है कि इन कवियो की इच्छा और उमग क्या थी तथा उनके प्रयोगों का झुकाव किस ओर था।

६ बोदलेयर

चार्ल्स बोदलेयर का जन्म पेरिस मे सन् १८२१ ई० मे हुआ। यानी वे बायरन की मृत्यु से तीन वर्ष और शली की मृत्यु से एक वर्ष पहले जनमे थे तथा मैथ्यू आर्नाल्ड के जन्म से उनका जन्म एक साल पूर्व हुआ था। फ्रास के रोमाटिक कवि तियोफिल गोतिये और प्रकृतवादी उपन्यासकार गुस्ताव फ्लाउबेयर बोदलेयर से उम्र मे बडे थे। जब बोदलेयर ने साहित्य के ससार मे अपनी आँख खोली, गोतिये और फ्लाउबेयर अपने अपने क्षेत्र म काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। अपने निर्माण के दिनों में बोदलेयर इन आचार्यों की सगति मे भी रह थे और, स्वभावत ही, बोदलेयर ने उनकी कला विषयक धारणाओ का अपने ऊपर प्रभाव भी लिया था। कवि की दृष्टि से गोतिये भी बोदलेयर से बडे या अधिक शक्तिशाली नही थे, किन्तु, वे

शैली की शुद्धता के उपासक थे और इसी कारण बोदलेयर की उनपर अपार भक्ति थी। गोतिये उपयोगिता के कितने विरुद्ध थे, यह बात हम ऊपर कहीं देख चुके है। वे कहते थे कि "कला हमारे लिए साधन नही, साध्य है। जो भी कलाकार सौन्दर्य को छोडकर किसी अन्य वस्तु को अपना लक्ष्य बनाता है, वह हमारी दृष्टि मे कलाकार नही है।" भावुकता के गोतिये घोर विरोधी थे। कविता को वे कारीगरी का काम मानते थे। मानवतावादी ध्येय और नैतिक आदर्शों की अभिव्यक्ति के कारण कला पूजित नही होती, उसकी विजय तक्नीकी पूर्णता मे देखी जाती है। दार्शनिक या सामाजिक उद्देश्यो के प्रवेश से कला को अपनी पूर्णता प्राप्त करने मे कठिनाई होती है। गोतिये मानते थे कि "कला का ध्येय शैली का सौन्दर्य है और सौन्दर्य-सृष्टि के बाद कला को और किसी लोभ मे नही पडना चाहिए।" 'कला के लिए कला का सिद्धान्त', असल मे, गोतिये का ही चलाया हुआ है।

कला के बारे मे फ्लाउबेयर का भी लगभग ऐसा ही विचार था। अव्वल तो कलाकार के कामो की गिनती वे कर्म की श्रेणी मे नही करते थे। दूसरे, वे इस मत को भी नही मानते थे कि कविता मे कोई न कोई अर्थ और उपन्यासो मे कोई न कोई सदेश होना ही चाहिए। उनकी यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'एक अच्छी पक्ति जिससे अर्थ कुछ नही निकलता, उस पक्ति से श्रेष्ठ है, जिसमे अर्थ तो है, किन्तु, जो कला की दृष्टि से कम अच्छी है।"

बोदलेयर पर दूसरा बडा प्रभाव एडगर एलन पो का था। पो की रचनाओ का उन्होने फ्रासीसी भाषा मे अनुवाद किया था और कहते है, फ्रासीसी मे अनूदित पो अगरेजी के मौलिक पो से भी अधिक रोचक और प्रभविष्णु हैं। एलेन पो की रचनाओ का पारायण बोदलेयर जिन्दगी भर करते रहे। यहाँ तक कि जब उन्हे लकवा मार गया, तब भी उनकी मेज पर पो की किताबें अवश्य रहती थी, क्योकि उनके मनबहलाव का साधन या तो पो की पुस्तकें थीं अथवा वैगनर का सगीत उनकी दिलचस्पी चित्रकला से भी थी और मानेत के चित्र भी उनकी रोगशय्या के पास रहते थे। कवि होने के अलावे बोदलेयर कथाकार भी थे तथा सगीत और चित्रकला के पारखी के रूप मे भी उनका बडा नाम था।

बोदलेयर मलार्मे से २१ वर्ष और रेम्बू से ३३ वर्ष पूर्व जनमे थे। अतएव, मलार्मे और रेम्बू शुद्ध कवित्व को जिस दूरी तक खीच ले गये, उस दूरी तक बोदलेयर नहीं पहुँचे थे। रोमासवाद के साथ उनके सम्बन्ध का सूत्र काफी मजबूत था। मगर वे भूत और भविष्य, दोनो ही दिशाओ की ओर देख सकते थे। उनकी कविताओ मे यदि रोमासवाद का रस है, तो उनके भीतर प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रवर्तन भी है। यही नही, उनमे बहुत-से ऐसे लक्षण भी थे, जो साहित्य मे प्रतीकवादी आन्दोलन के बाद विख्यात हुए।

बोदलेयर मे अर्थ है, छन्द है और यह भाव भी है कि लोग मुझे समझें और मेरी

कविताओ से प्रभावित हो। साहित्य मे एक परम्परा-सी रही है कि जो कविताएँ नारियों के बारे मे शृ गार-भाव से लिखी जाती हैं, उन्हे हम कला की शुद्धता से सबद्ध मानते हैं। इसका कारण शायद यह है कि शृ गार की कविताएँ सौन्दर्यानुभूति की कविताएँ होती हैं और जीवन के कर्म पक्ष से उनका लगाव नही होता। प्रेम कदाचित् उस अर्थ मे कर्तव्य है भी नही, जिस अर्थ मे समाज-सुधार या देश-रक्षा के कर्म कर्तव्य हैं। किन्तु, बोदलेयर का प्रेम एक विचित्र प्रकार का प्रेम है। उनका प्रेम उन आलबनो के इर्द-गिर्द घूमता है, जो गन्दगी, कदाचार, नग्नता, कुरूपता और बीभत्स वासना के जाल मे हैं। कई आलोचको की राय है कि बोदलेयर ने ऐसा जान-बूझकर किया है। वे समाज के पापों और कदाचारो को नगे रूप मे अकित करना चाहते थे। वे अपनी प्रतिभा के विशाल दर्पण मे समाज को उसके पापो का अम्बार, एक जगह एकत्र, दिखलाना चाहते थे। समाज अपने पापो पर पर्दा डाले निश्चित पडा था। बोदलेयर ने उसकी चेतना को धक्का दिया, उसे झकझोर कर यह बताया कि तुम ऊपर से नीति और पवित्रता की जो बातें बोलते हो,उनमे कोई सार नहीं है।

ये बातें अगर सच हैं तो बोदलेयर की कविताएँ निरुद्देश्य नही थी और उनके भीतर कोई प्रच्छन्न ध्येय था। किन्तु, हमारा अनुमान है कि बोदलेयर किसी सामाजिक ध्येय के कायल नही थे। जो कुछ उन्होने लिखा था, अपनी प्रसन्नता के लिए लिखा था, अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए लिखा था।

> मैं तुम्हारी जवानी की आग को
> खिलते और बलते देखता हूँ,
> तुम्हारे खोये हुए दिनों को देखता हूँ
> जो या तो चमकीले या गन्दे और गमगीन रहे होंगे।
> मेरा हृदय, एक के बाद एक,
> तुम्हारे सभी पापो का आनन्द उठाता है।
> लेकिन, मेरी आत्मा की गहराई मे
> तुम्हारे दिव्य पुण्य की शिखा चमकती है।

किन्तु, सौन्दर्य और आनन्द की खोज वे बीभत्सता मे क्यो करते थे, इसके मनोवैज्ञानिक कारण रहे होंगे। *मनोवैज्ञानिकों को अपने कार्य की जितनी बडी* भूमि बोदलेयर की कविताओ मे मिली है, उतनी बडी भूमि किसी और कवि के जीवन और काव्य मे उन्हें प्राप्त नहीं हुई।

बोदलेयर का प्रेम उस औसत स्वस्थ मनुष्य का प्रेम नही है, जो अपनी दैहिक क्षुधा की तृप्ति खोजता है। उनका प्रेम एक मानसिक व्यापार है। उनके प्रेम का ध्येय सौन्दर्यानुभूति के अतिरेक में पहुँचना है। वे जिससे प्रेम करते हैं, उसे कल्पना के अतिरेक से आवेष्टित कर देते हैं, स्वय विचारो मे खो जाते हैं और अपने आलबन

को भी उसी धरातल पर खींच ले जाते हैं। उनकी प्रेमानुभूति में दृष्टि और घ्राण की जितनी प्रखरता है, उतनी प्रखरता किसी और इन्द्रिय की नहीं है। उनका आनन्द अपनी प्रेमिका को देर तक देखने का आनन्द है, उसके अवयवों से निकलनेवाली गन्ध को समाधिमग्न होकर सूँघने का आनन्द है।

तब वासना के माधुर्य से
मेरे इन्द्रिय-लोल अधर कुंचित हो उठे,
मानो तवे हुए पत्थर पर
साँप जलता हुआ ऐंठ रहा हो।
जिन्होंने मुझे नग्न देखा है,
उनके लिए मैं
सूरज, चाँद और सितारों से श्रेष्ठ हूँ।

किन्तु, शारीरिक कृत्य से वे दूर रहते थे, ऐसा कई लेखकों का विचार है। इस पर से उनके सम्बन्ध में एक यह अनुमान भी निकला है कि वे नपुंसक थे। किन्तु, उन्हें ऐसा रोग भी हुआ था जो नारी-समागम से दूर रहने वाले को नहीं होता है। इन सारी बातों से उनका मामला मनोवैज्ञानिक समझा जाता है। वे, सचमुच ही, मनुष्य के किसी विशिष्ट स्वभाव के प्रतिनिधि और मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के उपयुक्त विषय हैं।

मनुष्य अपनी जिस पस्ती, व्यथा और मानसिक वेदना को दिमाग से कुरेदकर फेंक देना चाहता है, स्मृति से उखाड़कर कहीं गाड़ देना चाहता है, उस दर्द, निराशा और पस्ती की तस्वीरें बोदलेयर ने बड़ी ही रंगीनी से तैयार की हैं और उन्हें दुनिया के सामने रखने में उन्होंने महान आनन्द का अनुभव किया है। उनकी कविताएँ बड़ी ही मृदुलता के साथ सड़ाँध के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हैं, पाप के गीतों को गुनगुनाती हैं और मृत्यु की उपासना करती हैं।

मृत्यु ईश्वर का चमत्कार है,
सब से ऊपर की छत का
रहस्यमय कमरा,
एक ऐसा खजाना
जिसकी विरासत गरीब को भी मिलती है,
वह विशाल द्वार
जो अज्ञात आकाश की ओर खुलता है।

सौन्दर्य की प्रतिमा के कानों में वे केसर और गुलाब की झंकारें नहीं भरते, बल्कि कब्र की पुकारें सुनाते हैं। किन्तु, पाप, सड़ाँध और कदाचार के दलदल में से वे सौन्दर्य की ऐसी सत भी खींच निकालते हैं, जो अलौकिक और दिव्य है तथा जो मिटने से इनकार करती है।

वे पतनशीलता के कवि हैं और उनकी कल्पना सदैव उन लोकों में विहार करती है, जो विकृत और व्यभिचरित गुपमाओं में लोक है। किन्तु उनकी शक्ति इतनी बड़ी है कि वे रांग का सुवर्ण बना देते हैं अथवा यों कहें कि रांग के भीतर छिपे सुवर्ण का सार खींच लेते हैं। अपना अन्तर्मुखी अभियान उन्होंने जुगुप्सा, घृणा, पाप और व्यभिचार के भीतर से किया था और इस प्रयास में कविता को भी उन्होंने अन्तर्मुखी बना दिया। उनकी कविताओं पर राय देते हुए एक लेखक ने लिखा है, 'साहित्य की खोज अब तक आत्मा की ऊपरी सतह पर चलती थी। अथवा साहित्य जब कभी इस सतह से नीचे जाता था, तब वह उसी कक्ष तक पहुँच कर रुक जाता था जो पहले से ही प्रकाशित था और जहाँ पहुँचना कोई कठिन कार्य नहीं था। लेकिन, बोदलेयर बहुत आगे तक चले गये। वे उस अतल लोक तक पहुँच गये, जो निर्जन और एकान्त था, जो अननुसन्धानित और अन्धकारपूर्ण था तथा जहाँ रुग्न मस्तिष्क की भयानक कल्पनाएँ विहार करती थीं।"

बोदलेयर प्रतीकवादी थे और समझते थे कि संसार की प्रत्येक वस्तु किसी अज्ञात सौन्दर्य का प्रतीक है। वे एक दार्शनिक सिद्धान्त में विश्वास करते थे, जिसका अनुवाद अंगरेजी में 'कारेस्पोंडेंस' शब्द (अर्थात् सादृश्य) से किया जाता है। इस सिद्धान्त की व्याख्या यह है कि दृश्य जगत् आध्यात्मिक जगत् से जनमा है और आध्यात्मिक जगत् मानसिक जगत् का परिणाम है। पाप मन में अदृश्य रहता है और वह ऐसी चीजों में रूप ग्रहण करता है, जो हानिकारक और कुरूप हैं। इसी प्रकार, पुण्य भी मन में बसता है और जिन चीजों के भीतर वह आकार ग्रहण करता है, वे सुन्दर और उपयोगी होती हैं। दृश्य जगत् में जितनी भी चीजें हैं वे अदृश्य की ओर इंगित करती हैं, वे आध्यात्मिक जीवन के प्रतीक हैं। किन्तु, अभी उन व्यक्तियों की संख्या बहुत थोड़ी है, जो इन संकेतों को समझ सकें। ये प्रतीक, प्रकृति की भाषा के शब्द हैं और प्रकृति इन्हीं शब्दों के द्वारा दृश्य और अदृश्य के बीच संपर्क स्थापित करती है। संसार में जितनी भी सुरम्य वस्तुएँ हैं, वे स्वर्गीय सौन्दर्य के अपूर्ण प्रतीक हैं।

काव्य में कवि के व्यक्तित्व की प्रधानता बोदलेयर स्वीकार करते थे। वैसे तो कवि को वे स्रष्टा नहीं, एक प्रकार का अनुवादक मानते थे, किन्तु, उनका विश्वास था कि कवि की रचना उसी परिमाण में मूल्यवान् होगी, जिस परिमाण में उसने आध्यात्मिकता की उपलब्धि की है, देवत्व को प्राप्त किया है। सच्ची कला बोदलेयर उसे समझते थे, जो पूर्ण सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व कर सके, उसका सवाक् संकेत या प्रतीक बन सके। किन्तु, वे यह भी मानते थे कि व्यवहार में कला पूर्ण सौन्दर्य का अपूर्ण प्रतीक बनकर रह जाती है। बोदलेयर का विश्वास था कि कलाकार के माध्यम से बुद्धि नहीं, ईश्वरीय शक्ति काम करती है और जिस कवि ने ईश्वरीय शक्ति को जितनी दूर तक ग्रहण किया है, वह उतना ही सामर्थ्यवान् है।

इस सिद्धान्त मे बोदलेयर का विश्वास केवल बौद्धिक विश्वास नही था, वे उसे अपने हृदय से स्वीकार करते थे। इसीलिए वे मानते थे कि सभी कलाओ के बीच एकता का तार अनुस्यूत है और सभी कलाओ की सार्थकता इस एक बात मे है कि वे उस सनातन सौन्दर्य के समीप पहुँचें, जो दृश्य जगत् के पीछे छिपा हुआ है और जिसे देखने मे जनसाधारण असमर्थ है। अपने इस सिद्धान्त का निचोड उन्होने कारेसपोडेंस शीर्षक एक कविता मे रखा था, जो उनके "पाप के पुष्प" नामक सग्रह मे सकलित है[1]। आगे चल कर जब फ्रास मे प्रतीकवादी आन्दोलन का आविर्भाव हुआ, तब प्रतीकवादियो ने इस कविता का प्रचार अपने घोषणा-पत्र के रूप मे किया था। फ्रास मे प्रतीकवाद १८७५ ई० से १८६० ई० तक अपने उभार पर था। अन्य भाषाओ मे वह बाद को विकसित हुआ।

किन्तु, जिस कलाकार के सिद्धान्त इतने ऊँचे थे, उसकी कविताओ के भीतर अद्भुत शैली और अपूर्व अन्तर्दृष्टि से आलोकित पक्तियो के भीतर पाप, कदाचार, वासना और बीभत्स कामनाओ का ऐसा भयानक विस्फोट दिखायी पडा कि सन् १८५७ ई० मे जब उनका "पाप के पुष्प" नामक काव्य-सग्रह पहले-पहल प्रकाश मे आया, सरकार ने उसे अनैतिक करार दिया और लेखक तथा प्रकाशक, दोनो पर जुर्माने ठोक दिये गये। बोदलेयर के जीवन-काल मे इस पुस्तक के दो सस्करण और निकले थे, किन्तु, दोनो मे विवाद-ग्रस्त कविताएँ छोड दी गयी थीं।

बोदलेयर ने जीवन भर अपरिमित कष्ट सहा, जीवन भर आर्थिक दुश्चिन्ताओ मे वे ग्रस्त रहे, जीवन भर वे कुत्सित, कुरूप, वासना से जलती हुई, सस्ती औरतो के सपर्क मे रहे और जीवन भर वे अपने इन भयानक अनुभवो को काव्य मे चित्रित करते रहे।

बोदलेयर का विश्वास था कि पाप स्वाभाविक और पुण्य कृत्रिम है। पाप मनुष्य से आपसे आप हो जाता है, पुण्य उसे सोच समझकर करना पडता है। वे यह भी मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह पार्थिव जीवन का भोग करते हुए स्वर्ग या नरक का रास्ता अपने लिए आप ही चुन ले।

जाँ पाल सार्त्र ने बोदलेयर का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए एक अच्छा-खासा ग्रन्थ लिखा है, जिससे पता चलता है कि बोदलेयर पाप से भीत नही थे। पाप को उन्होने अपनी स्वाधीनता के लिए चुना था। समाज की अवज्ञा करके, सामाजिक नैतिकता को अँगूठा दिखाकर वे अपने स्वतन्त्र होने के अभिमान की रक्षा करते थे और अपनी कारयित्री शक्तियो पर नाज करते थे। उनका यौन आचार शारीरिक पाप के लिए कम था, अधिक आनन्द वे अपनी दृष्टि और घ्राण-शक्ति से लेते थे। काम का सुख उन्हे नारियो के वेश, आभूषण, गध और वस्त्र से जितना मिलता था, उतना उनके शरीर से नही। और अश्लीलता की गर्हणि

१. देखिये परिशिष्ट—१

वे इसलिए करते थे कि पाप के पीछे छिपे पुण्य का संधान उनका ध्येय था। अश्लीलता के पीछे वे किसी पवित्र सौन्दर्य की अनुभूति खोजते थे। उनका आनन्द नग्न नारी-मूर्ति के निदिध्यासन का आनन्द था, उनका सुख काम के मानसिक चिंतन का सुख था। बोदलेयर का यह भी विश्वास था कि कलाकार जब कृतियों के निर्माण में लगा होता है, तब वह अपने को सहवास के सुख से दूर रखता है। यानी आदमी जिस डायनेमो से प्रकाश लेता है उस डायनेमो से वह, उसी समय, ट्रैक्टर नहीं चला सकता।

बोदलेयर की आत्मा बेचैन मनुष्य की आत्मा थी, भीतर से पीड़ित, अशान्त और कुचले हुए मनुष्य की आत्मा थी। सार्त्र का कहना है कि बोदलेयर ने पाप का मार्ग पाप का आनन्द भोगने को नहीं चुना था, बल्कि इसलिए कि वे हमेशा अपने को अपराधी महसूस करें और हमेशा पश्चात्ताप का दंश भोगते रहें। अपनी अद्वितीयता की अनुभूति के लिए, अपने को यह विश्वास दिलाने के लिए कि मैं आजाद हूँ, उन्होंने पाप और पश्चात्ताप का मार्ग पसंद किया था। अपराध की भावना और परिताप का दंश उनके भीतर आजीवन बना रहा। और परिताप का यही दंश उनकी साधना थी।

पाप की यह रहस्यवादी व्याख्या ठीक से समझ में नहीं आती। जो बात समझ में आती है, वह यह है कि बोदलेयर का जीवन घृणित, किन्तु, उनका काव्य अपूर्व था। हमारा खयाल है, बाद के कवियों ने नैतिक मूल्यों की अवहेलना में जो उत्साह दिखाया, उसकी बहुत कुछ प्रेरणा बोदलेयर से भी आयी होगी।

नैतिक मूल्यों की अवहेलना लार्ड बायरन ने जितनी की थी, वह कम नहीं थी। उस समय का समाज उनके आचरणों से विचलित भी हुआ होगा। किन्तु, आज का समाज उनके प्रति सहनशील है, क्योंकि बायरन ने अपनी कलम से नैतिक मूल्यों का विरोध नहीं किया था। लेकिन, बोदलेयर के बाद आने वाले नये कवियों ने दो प्रकार की जिन्दगी जीने का विरोध कलम से भी किया। वे ईमानदारी से उसी जिन्दगी की बातें करने लगे, जो जिन्दगी वे सचमुच जी रहे थे। कुछ यह बात भी है कि पुराने मूल्यों पर सुदृढ़ रहकर कविगण नयी दृष्टि नहीं प्राप्त कर सकते थे, न वे नवीनता की दिशा में उतनी दूर जा सकते थे, जितनी दूर जाने की उन्हें उमंग थी। बोदलेयर ने एक स्थान पर लिखा भी है—

निद्रा का जहर पिलाओ
जिसमें तुम्हारी सांत्वना घुली हुई है।
कामना, भीतर पैठ कर,
हमें इस जोर से खा रही है
कि हम नवीनता की तलाश में

स्वर्ग में घूमने, नरक में गिरने
और अज्ञात की अतल गहराई में
भटकने को तैयार हूँ।

७ मलार्मे और प्रतीकवाद

बोदलेयर, मलार्मे और रेम्बू जिस काल (१८५०-८५) में हुए, उस काल को फ्रेंच साहित्य के इतिहास-लेखक एल० कजामियाँ ने वस्तुवाद का काल कहा है। रोमांसवाद का जोर जीवन के उस रूप पर नहीं था, जैसा वस्तुतः वह होता है, बल्कि, उस रूप पर जैसा उसे होना चाहिए। लेकिन आदर्श के अतिरंजित चित्रण के लिए कल्पना जब दूर तक तानी जाने लगी, पाठकों ने संयम की माँग की और साहित्य आवेश छोड़कर संयम की वाणी बोलने को बाध्य होने लगा। ऐसी वाणी साहित्य में तभी प्रकट होती है, जब लेखक और कवि वास्तविकता की ओर अग्रसर होते हैं।

क्रिया से पैदा हुए थे, किन्तु, दोनो के भीतर रोमासवाद की थोड़ी-बहुत रगीनी मौजूद थी। रोमाटिक रग का उपयोग वस्तुवाद अपने अक्खड़पन को छिपाने के लिए करता था और प्रकृतवाद इसलिए कि उसके विषय बहुत ही नग्न थे। किन्तु, इस रग का उपयोग वे पाठको को दी जानेवाली घूस के रूप मे करते थे। असल मे, उनका जो अपना उद्देश्य था, वह कल्पना और सवेदना को बहुत बढावा नही देता था। कल्पना और सवेदना की इसी उपेक्षा ने वस्तुवाद और प्रकृतवाद के बारे मे शका उत्पन्न कर दी और कल्पना तथा सवेदना को फिर से साहित्य मे प्रतिष्ठित करने को एक नये आन्दोलन का आविर्भाव हुआ, जिसका नाम प्रतीकवाद चलता है। इस आन्दोलन का आरम्भ एक प्रकार से खुद बोदलेयर ने किया था, किन्तु, उसका पूरा विकास हम मलार्मे, वर्लेन, रेम्बू, लफ़ूर्ज और वैलरी की रचनाओ मे देखते है।

साहित्य का 'पेण्डुलम' बराबर क्लासिक से रोमाटिक और रोमाटिक से क्लासिक की ओर हिलता रहता है, गरचे, समय-समय पर नाम उनके बदलते रहते हैं। जब कल्पना का आधिक्य होता है, पाठक साहित्य को वास्तविकता की ओर ले जाना चाहते हैं और जब सत्य इतिवृत्तात्मक हो उठता है, साहित्य कल्पना की ओर लौटने का बहाना खोजने लगता है। रोमासवाद से ऊबकर साहित्य वस्तुवाद और प्रकृतवाद की ओर गया था, किन्तु, ये दोनो वाद जब कुछ नीरस दिखायी देने लगे, साहित्य उन बहानो की खोज करने लगा, जिनका अवलब लेकर कल्पना फिर से ऊपर लायी जा सकती थी। रोमासवाद जिस रूप मे विदा हुआ था, उस रूप मे वह वापस नही लाया जा सकता था और वस्तुवाद की भी अब अवज्ञा नही चल सकती थी। अतएव, साहित्य मे एक मत प्रकट हुआ कि वस्तुवाद ठीक है, किन्तु, सत्य का चित्रण कला का ध्येय नही है। साथ ही दूसरा मत यह निकला कि कवि जिस सत्य पर काम करता है, उसका रूप ही कुछ और होता है। अर्थात् वस्तुओ के बाहरी ढाँचे कला के विषय नहीं हैं। कला का विषय वह अस्पष्ट और विछलनेवाला प्रकाश है, जो वस्तुओ के साथ लिपटा होता है और जिसे केवल सवेदनशील मनुष्य ही देख सकता है। यह सत्य है कि प्रत्येक वस्तु के भीतर सूक्ष्म छायाएँ होती है, अर्धोन्मीलित सकेत होते हैं, निगूढ भगिमाएँ और धुँधली ज्योतियाँ होती हैं, जिन्हे शब्द ठीक से नही पकड पाते। साहित्य ने अब इन्ही बारीक चीजो को अपना विषय मान लिया और उनके वर्णन के लिए प्रतीको का वह उपयोग करने लगा। प्रतीको के बिना इन बारीक बातो को व्यजित करना सभव भी नही था।

कल्पना और सवेदना के गहरे पुट के बिना कविता कविता नही रह जाती है। रोमासवाद सफल इसलिए हुआ था कि वास्तविकता से दूर होने के कारण वह कल्पना का प्रयोग मुक्त भाव से कर सकता था। किन्तु, अब वास्तविकता की

अवहेलना नही चल सकती थी। अतएव, कल्पना को समुचित क्रीडा क्षेत्र प्रदान करने के लिए साहित्य विषय से लिपटी बारीक भगिमाओ को महत्व देने लगा।

इस तरह प्रतीकवाद रोमासवाद की ही सभावनाओ का विकास था। यह सुस्पष्ट वर्णन की अपेक्षा अर्थगर्भ सकेतो पर अधिक आश्रित था। भावनाओ के साथ जो सूक्ष्म, धुंधली छायाएँ लिपटी होती है, ध्वनि और सकेत के द्वारा उनका वर्णन करना प्रतीकवादियो का मुख्य कार्य हो गया। इस धूमिलता के वर्णन मे कला ने जो चमत्कार उत्पन्न किया, उससे प्रतीकवादी कवि और भी प्रोत्साहित हो उठे और अँधेरे मे छिपकर बोलने के शौक मे उन्होंने प्रकाश से, एक प्रकार से, सन्यास ले लिया। सुस्पष्ट और ठीक ठीक वर्णन की पद्धति गौण हो गयी तथा कविगण ध्वनि के सहारे थोडा कहकर बहुत अधिक कहने को अपना सर्वश्रेष्ठ चमत्कार मानने लगे। जिस समय प्रतीकवाद जोर पर था, लगभग उन्ही दिनो फ्रास मे प्रभाववादी आन्दोलन भी चल रहा था। सभव है प्रतीकवाद पर उस आन्दोलन का भी प्रभाव पडा हो। किन्तु, मूल मे, यह वस्तुवाद की कठोरता और प्रकृतवाद की क्रूर नग्नता के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया से ही प्रेरित हुआ था।

आरम्भ मे इस आन्दोलन का कोई नाम नही था। किन्तु जहाँ-तहाँ बिखरे उच्छृ खल विश्रृ खल कवियो के समूह को एक झण्डे की जरूरत थी, जिसके पीछे वे जुलूस बाँधकर चल सकें, एक नाम की जरूरत थी, जो उनका सामूहिक नाम हो सके। काफी माथा पच्ची करने के बाद सन् १८८० ई० मे उन्होंने इस आन्दोलन का नाम 'प्रतीकवाद' रखा।

सिद्धान्त के धरातल पर प्रतीकवादियो ने वस्तुवाद का खण्डन नही किया, लेकिन व्यवहार मे वे बराबर उससे कतराते रहे। भावनाओ के अलक्ष्य, अरूप, अतीन्द्रिय रूपो की व्यजना ध्वनि और सकेत से करने के प्रयास मे कविता को वे खीचकर अधकार मे ले गये। काव्य मे दुरूहता की वृद्धि तभी से होने लगी और, एक के बाद एक, ऐसे कवि उत्पन्न होने लगे, जिनकी कविताएँ अर्थ-बाधा से ग्रस्त थी। प्रतीकवाद का सारा जोर इस बात पर पडा कि प्रत्यक्ष वर्णन साहित्य का धर्म नही है। साहित्य का वर्णन अप्रत्यक्ष अथवा वक्र होना चाहिए। प्रतीक सकेत है जिसकी गूंज अभिधेयार्थ से परे बहुत दूर तक पहुँचती है, जो उससे बहुत अधिक अर्थ देता है, जितना अर्थ हम अभिधा से प्राप्त कर सकते हैं। प्रतीकों से जो चिनगारियाँ छिटकती हैं, वे किसी एक दिशा का सकेत नही देती, बल्कि, वे अनेक दिशाओ की ओर इगित करती हैं और यह स्थिर करना कठिन हो जाता है कि कवि का मुख्य अभिप्राय क्या है। इसीलिए प्रतीक का वातावरण रहस्यपूर्ण हो जाता है, उनके अर्थ धूमिल हो जाते है। अब तक कविता (और शुद्ध कविता भी) भावों का वर्णन और रागो का आख्यान सुसबद्धता के साथ करती आयी थी, किन्तु, प्रतीकवाद के प्रभाव मे आकर उसने

अपना ध्येय बदल दिया और वह उन सूक्ष्म स्थितियों अथवा भावनाओं का संकेतों से वर्णन करने लगी, जो अभिधा की सीमा के पार पड़ती हैं और जो, स्वभावतः ही, धूमिल और अस्पष्ट हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य में से पूर्वापर संबंधों की लड़ियाँ लुप्त होने लगीं।

फ्रांस में प्रतीकवाद के दो बड़े नेता वर्लेन और मलार्मे माने जाते हैं। स्टीफ़ेन मलार्मे का जन्म पेरिस में सन् १८४२ ई० में हुआ था। वे कुछ दिनों तक इंग्लैण्ड में रहे थे और वहाँ से लौटकर वे अपने देश में अंत तक अंग्रेजी पढ़ा कर अपनी जीविका चलाते रहे। उन्होंने एडगर एलन पो की कविताओं का अनुवाद सन १८८८ ई० में प्रकाशित किया था। उनका निवास-स्थान कई बड़े लेखकों का अड्डा था। वे सारे जीवन प्रतीकवादी शैली के परिष्कार में लगे रहे। उनकी मृत्यु सन् १८९८ ई० में हुई।

प्रतीकवाद का सघनतम रूप हम मलार्मे की कविता में देखते हैं और प्रतीकवादियों में से सबसे अधिक मौलिक कवि भी वे ही माने जाते हैं। किन्तु इस मौलिकता की प्राप्ति के क्रम में वे अपने संतुलन को कायम नहीं रख सके। उनकी कविता सर्वसाधारण की तो क्या, उन थोड़े-से रसज्ञ पाठकों की भी कविता नहीं है, जो अपनी रुचि को शिष्ट, परिमार्जित और बारीक समझते हैं। मलार्मे के प्रसशक वे लोग रहे हैं, जो कदाचित प्रतीकवाद के विशेषज्ञ हैं अथवा जिन्होंने मलार्मे की प्रवृत्तियों और उनकी तकनीक का विशेष रूप से अध्ययन किया है। वे जब जीवित थे, उनकी कविताएँ दुरूह समझी जाती थीं और जब जब उन्हें गुजरे हुए कोई ६८ साल हो चुके हैं, तब भी वे दुरूह हैं। उनकी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद जितने कठिन हैं, कहते हैं, फ्रेंच में उनका मौलिक रूप भी उतना ही दुरूह है।

मलार्मे ने बहुत अधिक कविताएँ नहीं लिखी थीं, लेकिन, जो कुछ उन्होंने लिखा, उसके भीतर प्रतीकवाद का चरम लक्ष्य पूर्ण रूप से चरितार्थ दिखायी देता है। जैसी उनकी कविता थी, वैसा ही उनका मिजाज भी था। कलाकार के जीवन का उद्देश्य वे सफलता नहीं, सौन्दर्य की उपासना को मानते थे। कवि की रुचि और संवेदना जिस उक्ति को साहित्य में उतारना चाहती हो, उसे सिर्फ इस भय से नहीं लिखना कि वह लोगों की समझ में नहीं आयेगी, इसे वे कलाकार का अक्षम्य अपराध समझते थे। उनका विश्वास था कि बातें जितनी ही मितव्ययिता के साथ और समेटकर संक्षेप में कही जाती हैं, अर्थ उतना ही अधिक समृद्ध हो जाता है और उक्तियाँ जितनी ही अप्रत्यक्ष होती हैं, उनसे उत्पन्न होनेवाला मानसिक स्पन्दन उतना ही गम्भीर होता है।

इस दुष्कर कार्य में भाषा की अपूर्णता के साथ उन्हें जितना संघर्ष करना पड़ा, उतना संघर्ष पहले के किसी भी कवि को करना नहीं पड़ा था। आलोचकों

सोचता है, वह सबका सब वास्तविकता का अग है, लेकिन, कवि वास्तविकता को कागज पर उतारना नही चाहता। दिमाग मे कौंधनेवाले सपने छोड दिये जाते हैं। अधरो पर आनेवाली बात लौटा दी जाती है। कवि केवल यह जानता है कि वह किसी और चीज के इन्तजार मे है।

ओ मेरे अधरों के नग्न पुष्प !
तुम मुझे धोखा देते हो।
मैं किसी अज्ञात वस्तु के इंतजार में हूँ।

ज्ञान कर्तव्य का उद्गम है। उपदेश किसी न-किसी कर्म के लिए ही दिया जाता है। मलार्मे कवियो को कर्म से दूर, शुद्ध भावना के शिखर पर देखना चाहते थे। कवि का धर्म कुछ करना नही, वस्तुओ के साथ लगे अधकार के भीतर प्रविष्ट होकर अकथ्य को कथ्य बनाना है, उन भावो को अभिव्यक्ति देना है, जिन्हे अब तक अभिव्यक्ति नही मिली है। उन्होने कहा था, "जभी कोई कवि यह सकेत देता है कि वह कुछ करने की मुद्रा में है, तभी मुझे खतरे का भान होता है।"

जो कुछ सुस्पष्ट है, मलार्मे उसे सुन्दर नही समझते और सुन्दर हो भी तो वह कवियो के द्वारा लिखे जाने के योग्य नही है। प्रेम का चित्रण प्रेमी अथवा प्रेमिका के मिलन अथवा विरह का चित्रण नहीं होता, उसे बराबर उन सूक्ष्म भगिमाओ का चित्रण होना चाहिए जो प्रेम के साथ अदृश्य रूप से लिपटी होती है।

चाँद का चेहरा उदास था।
कामदेव की आँखों में आँसू और स्वप्न !
वह हाथ में धनुष धरे
उफनाते हुए फूलों की शान्ति में खड़ा
म्रियमाण वीणा से
उजली सिसकियाँ खींच रहा था,
उजली सिसकियाँ, जो फूलों के
नील दलों मे समा रही थीं।
—यह तुम्हारे चुम्बन का प्रथम दिन था।

कविता ज्यो-ज्यो शुद्धता की ओर बढी है, त्यो-त्यो वह दुरूह होती गयी है। इसका कारण यह है कि कवियो ने जब अर्थ को छोड़ दिया, वे अपनी कला की शक्ति आजमाने के लिए, सूक्ष्मता की टोह मे अदृश्य और परोक्ष के अन्धकार मे डुबकी लगाने लगे। अपने इस-अदृश्य-विषयक अभियान को मलार्मे 'एब्सोल्यूट' (पूर्ण, समुच्चय, पूरी वास्तविकता) पर आक्रमण कहते थे। उनकी एक उक्ति मिलती है, "मैं केवल एब्सोल्यूट पर धावा करने मे दक्ष हूँ। मुझमे और कोई क्षमता नही है।" एब्सोल्यूट एक प्रकार की निराकार सपूर्णता का नाम है, जिसकी लपेट मे अध्यात्म और तत्त्वज्ञान भी आ जाते है। मलार्मे, अपने जानते, इसी निरा-

कार सपूर्णता के लिए भाषा की तलाश मे थे।

प्रतीकवाद रोमासवाद का रूपान्तरण था। रोमासवादी कवि जिस तत्त्व की खोज अतीत की घटना अथवा प्राथमिक जीवन मे करते थे, उसी तत्त्व की खोज प्रतीकवाद के अधीन धूमिलता और अन्धकार मे चलने लगी। बोदलयर का विचार था कि कविता मे कुछ ऐसी चीज होनी चाहिए जो रागात्मक दृष्टि से बेचैन हो, उदास और गमगीन हो, सुस्पष्ट नही, कुछ दुरूह हो, जिससे कल्पना और अनुमान को क्रीडा के लिए थोडा अवकाश मिल सके। मलार्मे भी अर्ध-प्रकाश और गोधूलि-जैसे धुंधलके को कला का अनिवार्य अग मानते थे। उनका ख्याल था कि प्रत्येक पवित्र वस्तु अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए अपने चारो ओर रहस्य का निर्माण करती है। अपने एक सानेट मे बोदलेयर ने भी यह लिखा था कि यदि पाठको को पाप का कोई ज्ञान नही है, अगर उनका परिचय उस अँधेरी रात से नही है, जिसमे से यह किताब निकली है, तो इस पुस्तक का पढा जाना बिलकुल ही व्यर्थ होगा। और रेम्बू की यह मान्यता थी कि कविता अन्धकार के उस घेरे मे बसती है, जहाँ पहुँचते ही असली दुनिया दिमाग से गायब हो जाती है।

प्रतीकवाद ने आकर्षण और ललक जगाने वाले अपने सारे गुण रोमासवाद से सीखे थे। किन्तु, इन गुणो का प्रयोग वह वास्तविक जगत् को याद रखकर नही कर सकता था। अतएव, कला की कलात्मकता को निखारने के प्रयास मे उसने वस्तु-जगत् से नाता तोड लिया। एक वस्तुवादी युग मे मलार्मे ने कविता का रुख एक ऐसे जगत् की ओर फेर दिया, जो अपने आप मे वास्तविक होते हुए भी, सामान्य वास्तविकता से दूर था।

८ रेम्बू का काव्यशास्त्र

आर्थर रेम्बू का जन्म, पेरिस से बाहर, सन् १८५४ ई० मे हुआ था। जैसे बोदलेयर के बारे मे यह कहा जाता है कि उनकी मानस-ग्रन्थियो का कारण उनकी माता का कटु स्वभाव था, उसी प्रकार, रेम्बू के भीतर भी अपनी माता के कटु व्यवहार से मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो गयीं और उनका स्वभाव आरम्भ से ही विद्रोही हो उठा। कविता लिखना उन्होने १५ की उम्र मे शुरू किया था। १५ की उम्र मे ही उन्होने साहित्यिको के सपर्क मे रहने के उद्देश्य से दो बार पेरिस की यात्रा की, किन्तु, धनाभाव के कारण वे वहाँ टिक नही सके। इसी उम्र मे उन्होंने कवियो के सम्बन्ध मे एक धारणा बनायी थी कि उन्हें द्रष्टा और स्रष्टा होना चाहिए तथा रेम्बू की कसौटी पर तत्कालीन फ्रेंच कवियो मे से केवल दो ही कवि खरे उतरते थे—एक चार्ल्स बोदलेयर और दूसरे पाल वर्लेन। रेम्बू ने १६ की उम्र में अपनी एक कविता वर्लेन को डाक से भेजी। वर्लेन उस कविता से बहुत

सोचता है, वह सबका सब वास्तविकता का अंग है, लेकिन, कवि वास्तविकता को कागज पर उतारना नही चाहता। दिमाग मे कौंधनेवाले सपने छोड दिये जाते हैं। अधरो पर आनेवाली बात लौटा दी जाती है। कवि केवल यह जानता है कि वह किसी और चीज के इन्तजार मे है।

ओ मेरे अधरों के नग्न पुष्प !
तुम मुझे धोखा देते हो।
मैं किसी अज्ञात वस्तु के इंतजार में हूँ।

ज्ञान कर्तव्य का उद्‌गम है। उपदेश किसी न-किसी कर्म के लिए ही दिया जाता है। मलार्मे कवियो को कर्म से दूर, शुद्ध भावना के शिखर पर देखना चाहते थे। कवि का धर्म कुछ करना नही, वस्तुओ के साथ लगे अधकार के भीतर प्रविष्ट होकर अकथ्य को कथ्य बनाना है, उन भावो को अभिव्यक्ति देना है, जिन्हें अब तक अभिव्यक्ति नही मिली है। उन्होने कहा था, "जभी कोई कवि यह सकेत देता है कि वह कुछ करने की मुद्रा मे है, तभी मुझे खतरे का भान होता है।"

जो कुछ सुस्पष्ट है, मलार्मे उसे सुन्दर नही समझते और सुन्दर हो भी तो वह कवियो के द्वारा लिखे जाने के योग्य नही है। प्रेम का चित्रण प्रेमी अथवा प्रेमिका के मिलन अथवा विरह का चित्रण नही होता, उसे बराबर उन सूक्ष्म भगिमाओं का चित्रण होना चाहिए जो प्रेम के साथ अदृश्य रूप से लिपटी होती है।

चांद का चेहरा उदास था।
कामदेव की आँखों में आंसू और स्वप्न !
वह हाथ मे धनुष धरे
उफनाते हुए फूलों की शान्ति में खड़ा
म्रियमाण वीणा से
उजली सिसकियाँ खींच रहा था;
उजली सिसकियाँ, जो फूलों के
नील दलों में समा रही थीं।
—यह तुम्हारे चुम्बन का प्रथम दिन था।

कविता ज्यों-ज्यो शुद्धता की ओर बढी है, त्यो-त्यों वह दुरूह होती गयी है। इसका कारण यह है कि कवियो ने जब अर्थ को छोड दिया, वे अपनी कला की शक्ति आजमाने के लिए, सूक्ष्मता की टोह मे अदृश्य और परोक्ष के अन्धकार मे डुबकी लगाने लगे। अपने इस-अदृश्य-विषयक अभियान को मलार्मे 'एब्सोल्यूट' (पूर्ण, समुच्चय, पूरी वास्तविकता) पर आक्रमण कहते थे। उनकी एक उक्ति मिलती है, "मैं केवल एब्सोल्यूट पर धावा करने मे दक्ष हूँ। मुझमे और कोई क्षमता नही है।" एब्सोल्यूट एक प्रकार की निराकार सपूर्णता का नाम है, जिसकी लपेट मे अध्यात्म और तत्वज्ञान भी आ जाते है। मलार्मे, अपने जानते, इसी निरा-

अनुभूतियाँ अवचेतन अथवा अचेतन से सम्बद्ध थी तथा उनके सकेत जिन शिखरो की ओर इशारे करते हैं, उन शिखरो की राह लाजिक की राह नही है। वे बुद्धि नही, सबुद्धि के कवि हैं। विचार उन्हे नही चाहिए। शब्द उनके लिए पर्याप्त नही हैं। केवल ललक और कामना की लहरो पर वे मनमाने ढग से बहना चाहते है।

शब्द मुझे नहीं चाहिए।
विचार निरर्थक और बेकार हैं।
मेरी आत्मा मे प्रेम का ज्वार दौड़ेगा
और जिप्सी की तरह कही दूर पर
मै प्रकृति को अपनी सगिनी बनाऊँगा
और सोचूंगा, मेरी बगल मे
कोई लडकी पड़ी है।

× × ×

क्षितिज से क्षितिज तक मै ने रस्सियाँ जोडी हैं,
खिड़की से खिडकी तक मै ने फूलो के हार सजाये हैं,
और सितारों से सितारो तक
मै ने सोने की जंजीरें तान दी हैं
जिससे उन पर मैं नृत्य कर सकूँ।

× × ×

जब दुनिया सिमट कर एक सघन कुज बन जायेगी,
मैं तुम्हारे पास आऊँगा।
जब दुनिया सिमट कर दो बच्चो के खेलने योग्य
एक समुद्र-तट बन जायगी
मै तुम्हारे पास आऊँगा।
जब दुनिया सिमट कर सगीत-सदन बन जायेगी,
मैं तुम्हारे पास आऊँगा।

इन उद्धरणो मे तर्क के पूर्वापर सम्बन्ध विलुप्त नही है। किन्तु, ऐसे उदाहरण अत्यन्त विरल हैं। रेम्बू की कविताओ मे पूर्वापर सम्बन्धो का निर्वाह नही है। ऊपर से उनके सभी बिम्ब खण्डित और असबद्ध दीखते है। किन्तु, विशेषज्ञों का कहना है कि उनकी एकता नीचे कही मनोवैज्ञानिक भूमि पर है। यह स्थिति उस प्रयोग की पूर्णता की स्थिति है, जो मलार्मे-आदि की रचनाओ मे चलता आया था। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह सुर्रियलिज्म का आरम्भ था। साहित्य परम्परा से टूट कर अलग होने के प्रयास मे था, किन्तु, रोमासवाद और वस्तुवाद, दोनो आन्दोलन परम्परा से जुडे हुए थे। परम्परा से अपनी गाँठ खोलने की कोशिश बोदलेयर, मलार्मे और वर्लेन ने भी की थी, किन्तु, गाँठ पूरी तरह

खुली नही थी। उस गाँठ को तोडकर रेम्बू ने नयी कविता को परम्परा से छिन्न कर दिया। वे कला के क्षेत्र मे प्रचण्ड विद्रोही बनकर प्रकट हुए थे और जो कुछ उन्हे करना था, उसे उन्होने केवल चार वर्षों मे सपन्न कर दिया।

रेम्बू के पत्रो और रचनाओ मे से उनके कला-विषयक सिद्धान्तो का जो परिचय मिलता है, वह बडा ही रोचक और महत्त्वपूर्ण है। रोमासवादियो को लक्ष्य करके उन्होने कहा है कि कवि के लिए क्रान्ति का कोई भी कार्यक्रम गलत कार्यक्रम है। तुक्कडो को गलत किस्म की कविता लिखने की आदत हो गयी है। हमे इस आदत के खिलाफ बगावत करनी चाहिए।

कविता लिखने का अर्थ एक नयी दुनिया बसाने के जोश मे सामने के ससार का त्याग करना है। कविता लिखने का अर्थ एक ऐसी भाषा तैयार करना है जो सभी सवेदनाओ, सभी रगो, सभी गधो और सभी स्वरो को अभिव्यक्ति दे सके। 'मुझे इस बात पर नाज है कि मैंने एक ऐसी भाषा का आविष्कार किया है, जो किसी समय सभी इन्द्रियो की भाषा बन जायगी। मैंने नीरवता का अकन किया है, मैंने रात्रि को वाणी दी है। मैंने उसे लिखा है, जो अगदित और अकथ्य है।"

कविता का प्रयोजन अगम और अगोचर की स्वरलिपि तैयार करना है, मानव-मन की अथाह गहराइयो को साँचे मे ढालना है।

कविता अपरिभाषेय है। कविता की परिभाषा इसलिए नही दी जा सकती क्योकि उसका जन्म मानव-मन की उस गहराई मे होता है, जो स्वभाव से ही अविज्ञेय है।

कवि के शब्द कविता के शब्द नही होते, अधिक से अधिक, वे कविता के अत्यन्त समीप के शब्द माने जा सकते हैं। कविता कहकर जितना कहती है, न कहकर उससे बहुत अधिक कह जाती है।

प्रत्येक कवि अपने भीतर एक अज्ञात, असाधारण लोक की यात्रा करता है, और इस यात्रा मे उसके साथ और कोई नही होता। कविता एक अन्य प्रकार की सृष्टि है। उसकी सडको पर चलने के लिए पाठको को एक नयी चाल सीखनी पडेगी।

सहज और स्वाभाविक मानता है।

बौद्धिक ज्ञान कवि के उपयोग की वस्तु नही है। ज्ञान उसे अपनी आत्मा का चाहिए, अपनी सवेदना का चाहिए, अपने भीतर छिपे अधकार और प्रकाश का चाहिए। इस आत्म-ज्ञान तक जाने की राह प्रेम की राह है, दर्द और वेदना की राह है, विक्षिप्तता और उन्माद की राह है।

आत्मानुसधान का उद्देश्य, असल मे, अज्ञात का अनुसधान है। और ज्ञान वह है, जो हमे यह बताता है कि हमारे अवचेतन मे क्या छिपा है, हमारी स्मृतियो के नीचे कौन-सी स्मृतियाँ दबी हैं तथा जीवन के आरम्भ के पूर्व तक उनकी लडी पहुँचती है या नही।

कविता के शब्दो मे सनसनाहट होती है, खुशबू होती है, ध्वनि और रग होता है। शब्द, स्वभावत ही, सत्यवादी और ईमानदार होते हैं अगर उन पर ऐतिहासिक सत्यो के धब्बे नही लगे हो।

काव्यात्मक सत्य तक जाने का अभिनव मार्ग ऊँचा और खतरनाक है। उस पर चलने के लिए शृ खला, परम्परा, उदाहरण, रिवाज, नजीर और नियमो का उल्लघन आवश्यक होता है।

कविता कला का वह रूप है, जिस पर भाषा की असमर्थता अकित होती है। कवि वह अभागा प्राणी है, जो भाव और शब्द के बीच की दूरी मे भटकता रहता है।

बिम्ब शब्दो से बनते हैं, लेकिन, वे भूचाल के समान शक्तिशाली होते है जिसके धक्को से पहाड अपनी जड से उखड जाता है।

रेम्बू ने लिखा है कि ज्ञान ने उनकी कोई सहायता नही की। क्लासिक ग्रथो ने उन्हे कुछ नही दिया। वे सस्ती, सनसनीखेज कहानियाँ अथवा चर्च का पौराणिक साहित्य अधिक पढते थे और इन्ही से उन्ह प्रेरणा भी मिलती थी।

रेम्बू का जीवन दुराचारमय था और उनका अन्त भी अत्यन्त कारुणिक हुआ। किन्तु, अब मनोवैज्ञानिको का विचार यह बना है कि रेम्बू का दुराचार उनके साधुत्व का ही परिवर्तित रूप था।

नैतिकता को रेम्बू दिमाग की कमजोरी कहते थे और नारियो के वे घोर रूप से विरुद्ध थे। "मैं नारियो को पसन्द नही करता। प्रेम का आविष्कार फिर से किया जाना चाहिए। नारियो का स्वभाव है कि सुरक्षा छोडकर वे और कोई भी चीज नही चाहती। और सुरक्षा की स्थिति के प्राप्त होते ही उनका हृदय उनके सौन्दर्य को छोड देता है।"

सभ्यता के वृत्त से रेम्बू अपने को बाहर समझते थे। "पुरोहितो, धर्माचार्यों, मालिको, तुम मुझे कानून के हवाले करके गलती कर रहे हो। मैं इन लोगो के बीच का आदमी नही हूँ। मैं ईसाई तो कभी था भी नही। मैं उस कौम का हूँ, जो अत्या-

खुली नही थी। उस गाँठ को तोडकर रेम्बू ने नयी कविता को परम्परा से छिन्न कर दिया। वे कला के क्षेत्र मे प्रचण्ड विद्रोही बनकर प्रकट हुए थे और जो कुछ उन्हे करना था, उसे उन्होने केवल चार वर्षों मे सपन्न कर दिया।

रेम्बू के पत्रो और रचनाओ मे से उनके कला-विषयक सिद्धान्तो का जो परिचय मिलता है, वह बडा ही रोचक और महत्त्वपूर्ण है। रोमासवादियो को लक्ष्य करके उन्होने कहा है कि कवि के लिए क्रान्ति का कोई भी कार्यक्रम गलत कार्यक्रम है। तुक्कडो को गलत किस्म की कविता लिखने की आदत हो गयी है। हमे इस आदत के खिलाफ बगावत करनी चाहिए।

कविता लिखने का अर्थ एक नयी दुनिया बसाने के जोश मे सामने के ससार का त्याग करना है। कविता लिखने का अर्थ एक ऐसी भाषा तैयार करना है जो सभी सवेदनाओ, सभी रगो, सभी गधो और सभी स्वरो को अभिव्यक्ति दे सके। "मुझे इस बात पर नाज है कि मैंने एक ऐसी भाषा का आविष्कार किया है, जो किसी समय सभी इन्द्रियो की भाषा बन जायगी। मैंने नीरवता का अकन किया है, मैंने रात्रि को वाणी दी है। मैंने उसे लिखा है, जो अगदित और अकथ्य है।"

कविता का प्रयोजन अगम और अगोचर की स्वरलिपि तैयार करना है, मानव-मन की अथाह गहराइयो को साँचे मे ढालना है।

कविता अपरिभाष्येय है। कविता की परिभाषा इसलिए नही दी जा सकती क्योकि उसका जन्म मानव-मन की उस गहराई मे होता है, जो स्वभाव से ही अविज्ञेय है।

कवि के शब्द कविता के शब्द नहीं होते, अधिक से अधिक, वे कविता के अत्यन्त समीप के शब्द माने जा सकते हैं। कविता कहकर जितना कहती है, न कहकर उससे बहुत अधिक कह जाती है।

प्रत्येक कवि अपने भीतर एक अज्ञात, असाधारण लोक की यात्रा करता है, और इस यात्रा मे उसके साथ और कोई नही होता। कविता एक अन्य प्रकार की सृष्टि है। उसकी सडको पर चलने के लिए पाठको को एक नयी चाल सीखनी पडेगी।

प्रत्येक कवि अद्वितीय होता है, प्रत्येक बडी कविता अतुलनीय होती है। इसीलिए, सामान्य भाषा से कविता का काम नही चलता। वह नयी भाषा का आविष्कार करती है। इसीलिए, कविता का हृदयगम करने के निमित्त विश्व की शान्ति अपेक्षित है। कोलाहल अथवा मौखरी की अवस्था मे कविता नही समझी जा सकती।

कविता अधकार मे पकडी जाती है, जहाँ कवि को वास्तविक विश्व का स्मरण नही रहता।

कवि के रूप मे सफल होने का अर्थ यह है कि आदमी प्रतिक्रियाओ, प्रवृत्तियो और चीजो को देखने की उन दृष्टियो को खतरे मे डाल दे जिन्हे ससार

सहज और स्वाभाविक मानता है।

बौद्धिक ज्ञान कवि के उपयोग की वस्तु नही है। ज्ञान उसे अपनी आत्मा का चाहिए, अपनी सवेदना का चाहिए, अपने भीतर छिपे अधकार और प्रकाश का चाहिए। इस आत्म-ज्ञान तक जाने की राह प्रेम की राह है, दर्द और वेदना की राह है, विक्षिप्तता और उन्माद की राह है।

आत्मानुसधान का उद्देश्य, असल मे, अज्ञात का अनुसधान है। और ज्ञान वह है, जो हमे यह बताता है कि हमारे अवचेतन मे क्या छिपा है, हमारी स्मृतियो के नीचे कौन-सी स्मृतियां दबी हैं तथा जीवन के आरम्भ के पूर्व तक उनकी लडी पहुंचती है या नही।

कविता के शब्दो मे सनसनाहट होती है, खुशबू होती है, ध्वनि और रग होता है। शब्द, स्वभावत ही, सत्यवादी और ईमानदार होते हैं अगर उन पर ऐतिहामिक सत्यो के धब्बे नही लगे हो।

काव्यात्मक सत्य तक जाने का अभिनव मार्ग ऊँचा और खतरनाक है। उस पर चलने के लिए शृंखला, परम्परा, उदाहरण, रिवाज, नजीर और नियमो का उल्लघन आवश्यक होता है।

कविता कला का वह रूप है, जिस पर भाषा की असमर्थता अकित होती है। कवि वह अभागा प्राणी है, जो भाव और शब्द के बीच की दूरी मे भटकता रहता है।

बिम्ब शब्दो से बनते हैं, लेकिन, वे भूचाल के समान शक्तिशाली होते है जिसके धक्को से पहाड अपनी जड से उखड जाता है।

रेम्बू ने लिखा है कि ज्ञान ने उनकी कोई सहायता नही की। क्लासिक ग्रथो ने उन्हे कुछ नही दिया। वे सस्ती, सनसनीखेज कहानियाँ अथवा चर्च का पौराणिक साहित्य अधिक पढते थे और इन्ही से उन्हे प्रेरणा भी मिलती थी।

रेम्बू का जीवन दुराचारमय था और उनका अन्त भी अत्यन्त कारुणिक हुआ। किन्तु, अब मनोवैज्ञानिको का विचार यह बना है कि रेम्बू का दुराचार उनके साधुत्व का ही परिवर्तित रूप था।

नैतिकता को रेम्बू दिमाग की कमजोरी कहते थे और नारियो के वे घोर रूप से विरुद्ध थे। "मैं नारियो को पसन्द नही करता। प्रेम का आविष्कार फिर से किया जाना चाहिए। नारियो का स्वभाव है कि सुरक्षा छोडकर वे और कोई भी चीज नहीं चाहती। और सुरक्षा की स्थिति के प्राप्त होते ही उनका हृदय उनके सौन्दर्य को छोड़ देता है।"

सभ्यता के वृत्त से रेम्बू अपने को बाहर समझते थे। "पुरोहितो, धर्माचार्यो, मालिको, तुम मुझे कानून के हवाले करके गलती कर रहे हो। मैं इन लोगो के बीच का आदमी नहीं हूँ। मैं ईसाई तो कभी था भी नही। मैं उस कौम का हूँ, जो अत्या-

खुली नहीं थी। उस गाँठ को तोडकर रेम्बू ने नयी कविता को परम्परा से छिन्न कर दिया। वे कला के क्षेत्र मे प्रचण्ड विद्रोही बनकर प्रकट हुए थे और जो कुछ उन्हे करना था, उसे उन्होंने केवल चार वर्षों मे सपन्न कर दिया।

रेम्बू के पत्रो और रचनाओ मे से उनके कला विषयक सिद्धान्तो का जो परिचय मिलता है, वह बडा ही रोचक और महत्त्वपूर्ण है। रोमासवादियो को लक्ष्य करके उन्होने कहा है कि कवि के लिए क्रान्ति का कोई भी कार्यक्रम गलत कार्यक्रम है। तुकबन्दों को गलत किस्म की कविता लिखने की आदत हो गयी है। हमे इस आदत के खिलाफ बगावत करनी चाहिए।

कविता लिखने का अर्थ एक नयी दुनिया बसाने के जोश मे सामने के ससार का त्याग करना है। कविता लिखने का अर्थ एक ऐसी भाषा तैयार करना है जो सभी संवेदनाओ, सभी रगो, सभी गधो और सभी स्वरो की अभिव्यक्ति दे सके। ' मुझे इस बात पर नाज है कि मैंने एक ऐसी भाषा का आविष्कार किया है, जो किसी समय सभी इन्द्रियो की भाषा बन जायगी। मैंने नीरवता का अकन किया है, मैंने रात्रि को वाणी दी है। मैंने उसे लिखा है, जो अगदित और अकथ्य है।"

कविता का प्रयोजन अगम और अगोचर की स्वरलिपि तैयार करना है मानव मन की अथाह गहराइयो को साँचे मे ढालना है।

कविता अपरिभाषेय है। कविता की परिभाषा इसलिए नही दी जा सकती क्योंकि उसका जन्म मानव मन की उस गहराई मे होता है, जो स्वभाव से ही अविज्ञेय है।

कवि के शब्द कविता के शब्द नही होते, अधिक से अधिक, वे कविता के अत्यन्त समीप के शब्द माने जा सकते हैं। कविता कहकर जितना कहती है, न कहकर उससे बहुत अधिक कह जाती है।

प्रत्येक कवि अपने भीतर एक अज्ञात, असाधारण लोक की यात्रा करता है, और इस यात्रा मे उसके साथ और कोई नही होता। कविता एक अन्य प्रकार की सृष्टि है। उसकी सडको पर चलने के लिए पाठको को एक नयी चाल सीखनी पडेगी।

प्रत्येक कवि अद्वितीय होता है, प्रत्येक बडी कविता अतुलनीय होती है। इसी-लिए, सामान्य भाषा से कविता का काम नही चलता। वह नयी भाषा का आविष्कार करती है। इसीलिए, कविता को हृदयगम करने के निमित्त विश्व की शान्ति अपे-क्षित है। कोलाहल अथवा मौखरी की अवस्था मे कविता नही समझी जा सकती।

कविता अधकार मे पकडी जाती है, जहाँ कवि को वास्तविक विश्व का स्मरण नही रहता।

कवि के रूप मे सफल होने का अर्थ यह है कि आदमी प्रतिक्रियाओ, प्रवृत्तियो और चीजो को देखने की उन दृष्टियो को खतरे मे डाल दे जिन्हे ससार

सहज और स्वाभाविक मानता है।

बौद्धिक ज्ञान कवि के उपयोग की वस्तु नही है। ज्ञान उसे अपनी आत्मा का चाहिए, अपनी सवेदना का चाहिए, अपने भीतर छिपे अधकार और प्रकाश का चाहिए। इस आत्म-ज्ञान तक जाने की राह प्रेम की राह है, दर्द और वेदना की राह है, विक्षिप्तता और उन्माद की राह है।

आत्मानुसधान का उद्देश्य, असल मे, अज्ञात का अनुसधान है। और ज्ञान वह है, जो हमे यह बताता है कि हमारे अवचेतन मे क्या छिपा है, हमारी स्मृतियो के नीचे कौन-सी स्मृतियाँ दबी हैं तथा जीवन के आरम्भ के पूर्व तक उनकी लडी पहुँचती है या नही।

कविता के शब्दो मे सनसनाहट होती है, खुशबू होती है, ध्वनि और रग होता है। शब्द, स्वभावत ही, सत्यवादी और ईमानदार होते हैं अगर उन पर ऐतिहासिक सत्यो के धब्बे नही लगे हो।

काव्यात्मक सत्य तक जाने का अभिनव मार्ग ऊँचा और खतरनाक है। उस पर चलने के लिए शृ खला, परम्परा, उदाहरण, रिवाज, नजीर और नियमो का उल्लघन आवश्यक होता है।

कविता कला का वह रूप है, जिस पर भाषा की असमर्थता अकित होती है। कवि वह अभागा प्राणी है, जो भाव और शब्द के बीच की दूरी मे भटकता रहता है।

बिम्ब शब्दो से बनते हैं, लेकिन, वे भूचाल के समान शक्तिशाली होते है जिसके धक्को से पहाड अपनी जड से उखड जाता है।

रेम्बू ने लिखा है कि ज्ञान ने उनकी कोई सहायता नही की। क्लासिक ग्रथो ने उन्हे कुछ नही दिया। वे सस्ती, सनसनीखेज कहानियाँ अथवा चर्च का पौराणिक साहित्य अधिक पढते थे और इन्ही से उन्हे प्रेरणा भी मिलती थी।

रेम्बू का जीवन दुराचारमय था और उनका अन्त भी अत्यन्त कारुणिक हुआ किन्तु, अब मनोवैज्ञानिको का विचार यह बना है कि रेम्बू का दुराचार उनके साधुत्व का ही परिवर्तित रूप था।

नैतिकता को रेम्बू दिमाग की कमजोरी कहते थे और नारियो के वे घोर रूप से विरुद्ध थे। "मैं नारियो को पसन्द नही करता। प्रेम का आविष्कार फिर से किया जाना चाहिए। नारियो का स्वभाव है कि सुरक्षा छोडकर वे और कोई भी चीज नही चाहती। और सुरक्षा की स्थिति के प्राप्त होते ही उनका हृदय उनके सौन्दर्य को छोड देता है।"

सभ्यता के वृत्त से रेम्बू अपने को बाहर समझते थे। "पुरोहितो, धर्माचार्यो, मालिको, तुम मुझे कानून के हवाले करके गलती कर रहे हो। मैं इन लोगो के बीच का आदमी नही हूँ। मैं ईसाई तो कभी था भी नही। मैं उस कौम का हूँ, जो अरया-

चार और पीडाओ के बोझ के नीचे गान करती है। कानून को मैं नही जानता। मेरे भीतर नैतिक विचार नही है। मैं जानवर हूँ। तुम गलती कर रहे हो।"

"मुझे इन्द्रधनुष का शाप लगा है। कर्म जीवन नही है। वह शक्ति के अपव्यय का एक साधन मात्र है जो आदमी को कमजोर बनाता है। और नैतिकता दिमागी कमजोरी का नाम है।"

शुद्ध कविता की खोज के सिलसिले मे जो बात हमे दिखायी पडी है, वह यह है कि विषय उतना उपेक्षणीय नही है, जितना शुद्धतावादी लोग उसे बताना चाहते है। यही नही, समकालीन जीवन उनके भीतर भी खलबली पैदा कर सकता है, जो शुद्धता की उपासना मे लगे हुए हैं अथवा जिन्होंने यह विश्वास कर लिया है कि साहित्य जीवन से मुक्त है। रेम्बू के असबद्ध उद्गार भी, कभी कभी दूर पर, कही उस पीडा से संपृक्त मिलते हैं, जिसकी अनुभूति उन्हे समकालीन जीवन मे हुई थी।

"बिक्री के लिए वह चीज, जिसे यहूदियो ने नहीं बेचा है, जिसके मजे अमीर और अपराधी नही उठा सके हैं, जिसे मानव प्रेम और जनता की नारकीय सचाई नही जानती, जिसे समय और विज्ञान पहचानते भी नही हैं।"

'फिर से अस्तित्व मे आयी हुई आवाजें, गूंगे और वाद्यवृन्द की शक्तियां, जो सहेली बनकर जगी हैं और उन शक्तियो के उपयोग की विधि, इन्द्रियो की मुक्ति का अद्वितीय अवसर।"

"बिक्री के लिए बशकीमती जिस्म, जो न तो किसी जाति का है, न दुनिया का, न औरत का, न मर्द का। कदम-कदम पर बढनेवाला कोप। उन हीरो की बिक्री जिन पर नियत्रण नही है"।

"बिक्री के लिए अराजकता, जिसे जनता खरीदेगी, जो शौक मे आकर अपने को बडा समझ रहे हैं, उनके लिए अदमनीय सतोष, और उनके लिए खौफनाक मौन, जो प्रेमी और वफादार हैं।"

"बिक्री के लिए जिस्म, आवाजें, अपार धन, जो आगे और नही बिकेगा। बेचनेवालो का माल अभी खतम नही हुआ है और मुसाफिरो को तुरन्त रोकड मिलाने की भी कोई जरूरत नही है।"

अर्थ और सुसबद्धता की तलाश म रहने वाले लोग रेम्बू से हमेशा निराश हुए है और आगे भी निराश होंगे। किन्तु, रेम्बू की मुट्ठी भर कविताओ से जो चिन-गारियाँ छिटकी, वे अनेक स्थानो पर आज भी ज्वाला बनकर जल रही हैं। रेम्बू की सबसे बडी विशेषता यह है कि परम्परा के टूटने की आवाज उन्हे सबसे पहले सुनायी पडी थी और आगामी पीढियों को इसकी सूचना उन्होने इस आत्म विश्वास से प्रदान की, मानो, वे १८-२० साल के लडके नही, कला के अवतारी पुरुष रह हो।

६ अन्तर्मुखी यात्रा का दर

बोदलेयर, मलार्मे और रेम्बू ने साहित्य मे जिस आन्दोलन का प्रवर्तन किया, वह अन्तर्मुखी यात्रा का आन्दोलन था और यह आन्दोलन उन्होने फ्रायड के अनुसधानो से प्रेरित हो कर नहीं उठाया था। फ्रायड उस समय कही भी नही थे। सन् १९१४-१५ तक भी साहित्य पर फ्रायड का कोई प्रभाव नही पडा था। वे केवल उन लोगो के काम के थे, जो मनोवैज्ञानिक रोगो का इलाज करते है।

साहित्य म अन्तर्मुखी यात्रा का प्रवर्तन स्वय साहित्यको ने किया था और इसके कारण भी मनोवैज्ञानिक न होकर साहित्यिक थे। रोमासवादी कवि भावना, राग और कल्पना के कवि थे, अतएव, स्वभावत ही, भावनाओ के मूल तक जाने के लिए वे कल्पना के सहारे चेतन मन के परे भी झाँका करते थे। बुद्धि जब अतिचिंतन के कारण सबुद्धि हो जाती है, आदमी उस लोक की झाकी लेने लगता है, जो बुद्धि की सीमा के पार है, जो कदाचित अचेतन अथवा अवचेतन से सबद्ध है। इस लोक का सकेत क्लासिक युग के भी कोई-कोई कवि देते रहे थे, किन्तु उस युग मे यह सकेत सुस्पष्ट होता था। जो सकेत सुस्पष्ट नही बनाये जा सकते थे, उनके कथन का रिवाज साहित्य मे नही था। किन्तु, रोमांटिक युग मे आ कर धुँधले सकेतो का भी आदर होने लगा था, बल्कि इस धुँधलेपन के कारण कवि के गभीर्य की कुछ अधिक ही प्रशसा की जाती थी। प्रतीकवादियो मे आ कर यह गुण और वृद्धि पा गया। रोमांटिक कवि जिस लोक का सकेत दूर से देते थे, प्रतीकवादी कलाकार उसी लोक को अपने विहार की प्रमुख भूमि समझने लगे। शुद्धतावादी आन्दोलन का हरएक कदम काव्य के विशिष्टीकरण की ओर पडनेवाला कदम रहा है। प्रतीकवादियो का भी प्रयास इसी विशिष्टीकरण की ओर था।

कविता की अन्तर्मुखी यात्रा को समर्थन समकालीन वस्तुवाद या प्रकृतवाद से भी मिला। प्रकृतवादियो का उद्देश्य मनुष्य का अध्ययन काफी कठोरता के साथ करना था। वे नैतिकता व रस्म-रिवाजो को मनुष्य का ऊपरी खोल समझते थे और अध्ययन वे उन मूल प्रवृत्तियो और आवेगो का करना चाहते थे, जो मनुष्य के आचरण की असली प्रेरणा हैं। प्रकृतवादी कलाकार मनुष्य के भीतर छिपे जीव का जितना ही अध्ययन करने गये, मनुष्य के अन्तर्मन की प्रवृत्तियाँ उतनी ही अधी दिखायी देने लगी, उसके आवेग उतने ही अदमनीय दिखायी देने लगे। ये आवेग और ये प्रवृत्तियाँ केवल अधी और धूमिल ही नही थी, बल्कि वे मट्टी भी थी, और उनकी मूल शिराएँ बुद्धि में नही, लहू और मास म गडी थी। प्रकृतवादी की इस दुनिया से प्रतीकवादियों की दुनिया का मेल था, क्योंकि प्रतीकवादियो का ससार प्रभावो, मनोदशाओ और स्वप्नो का ससार था तथा

चार और पीडाओ के बोझ के नीचे गान करती है। कानून को मैं नही जानता। मेरे भीतर नैतिक विचार नही हैं। मैं जानवर हूँ। तुम गलती कर रहे हो।"

"मुझे इन्द्रधनुष का शाप लगा है। कर्म जीवन नही है। वह शक्ति के अपव्यय का एक साधन मात्र है जो आदमी को कमजोर बनाता है। और नैतिकता दिमागी कमजोरी का नाम है।"

शुद्ध कविता की खोज के सिलसिले मे जो बात हमे दिखायी पडी है, वह यह है कि विषय उतना उपेक्षणीय नही है, जितना शुद्धतावादी लोग उसे बताना चाहते हैं। यही नही, समकालीन जीवन उनके भीतर भी खलबली पैदा कर सकता है, जो शुद्धता की उपासना मे लगे हुए है अथवा जिन्होने यह विश्वास कर लिया है कि साहित्य जीवन से मुक्त है। रेम्बू के असबद्ध उद्गार भी, कभी कभी दूर पर, कही उस पीडा से सपृक्त मिलते हैं, जिसकी अनुभूति उन्हे समकालीन जीवन मे हुई थी।

"बिक्री के लिए वह चीज, जिसे यहूदियो ने नही बेचा है, जिसके मजे अमीर और अपराधी नही उठा सके है, जिसे घातक प्रेम और जनता की नारकीय सचाई नही जानती, जिसे समय और विज्ञान पहचानते भी नही हैं।"

' फिर से अस्तित्व मे आयी हुई आवाजें, गूँगे और वाद्यवृन्द की शक्तियाँ, जो सहली बनकर जगी है और उन शक्तियों के उपयोग की विधि, इन्द्रियो की मुक्ति का अद्वितीय अवसर।"

"बिक्री के लिए बशकीमती जिस्म, जो न तो किसी जाति का है, न दुनिया का, न औरत का, न मर्द का। कदम-कदम पर बढनेवाला कोप। उन हीरो की बिक्री जिन पर नियन्त्रण नही है'।

' बिक्री के लिए अराजकता, जिसे जनता खरीदेगी, जो शौक मे आकर अपने को बडा समझ रहे हैं, उनके लिए अदमनीय सतोष, और उनके लिए खौफनाक मौत जो प्रेमी और वफादार है।"

"बिक्री के लिए जिस्म, आवाजें, अपार धन, जो आगे और नही बिकेगा। बेचनेवालो का माल अभी खत्म नही हुआ है और मुसाफिरो को तुरन्त रोकड मिलान की भी कोई जरूरत नही है।"

अर्थ और सुसबद्धता की तलाश म रहने वाले लोग रेम्बू से हमेशा निराश हुए हैं और आगे भी निराश होंगे। किन्तु रेम्बू की मुट्ठी भर कविताओं से जो चिनगारियाँ छिटकी, वे अनेक स्थानो पर आज भी ज्वाला बनकर जल रही हैं। रेम्बू की सबसे बडी विशेषता यह है कि परम्परा के टूटन की आवाज उन्हे सबसे पहले सुनायी पडी थी और आगामी पीढ़ियो को इसकी सूचना उन्होने इस आत्म विश्वास से प्रदान की, मानो, वे १८-२० साल के लडके नही, कला के अवतारी पुरुष रहे हो।

चार और पीडाओ के बोझ के नीचे गान करती है। कानून को मैं नही जानता। मेरे भीतर नैतिक विचार नही हैं। मैं जानवर हूँ। तुम गलती कर रहे हो।"

"मुझे इन्द्रधनुप का शाप लगा है। कर्म जीवन नही है। वह शक्ति के अपव्यय का एक साधन मात्र है जो आदमी को कमजोर बनाता है। और नैतिकता दिमागी कमजोरी का नाम है।"

शुद्ध कविता की खोज के सिलसिले मे जो बात हमे दिखायी पडी है, वह यह है कि विषय उतना उपेक्षणीय नही है, जितना शुद्धतावादी लोग उसे बताना चाहते है। यही नही, समकालीन जीवन उनके भीतर भी खलबली पैदा कर सकता है, जो शुद्धता की उपासना मे लगे हुए है अथवा जिन्होने यह विश्वास कर लिया है कि साहित्य जीवन से मुक्त है। रेम्बू के असबद्ध उद्‌गार भी, कभी कभी दूर पर, कही उस पीडा से सपृक्त मिलते हैं, जिसकी अनुभूति उन्हे समकालीन जीवन मे हुई थी।

"बिक्री के लिए वह चीज, जिसे यहूदियो ने नही बेचा है, जिसके मजे अमीर और अपराधी नही उठा सके है, जिसे घातक प्रेम और जनता की नारकीय सचाई नही जानती, जिसे समय और विज्ञान पहचानते भी नही हैं।"

"फिर से अस्तित्व मे आयी हुई आवाजें, गूंगे और वाद्यवृन्द की शक्तियाँ, जो सहसा बनकर जगी हैं और उन शक्तियों के उपयोग की विधि, इन्द्रियों की मुक्ति का अद्वितीय अवसर।"

"बिक्री के लिए बेशकीमती जिस्म, जो न तो किसी जाति का है, न दुनिया का, न औरत का, न मर्द का। कदम कदम पर बढनेवाला कोप। उन हीरो की बिक्री जिन पर नियन्त्रण नही है"।

"बिक्री के लिए अराजकता, जिसे जनता खरीदेगी, जो शौक मे आकर अपने को बडा समझ रहे हैं, उनके लिए अदमनीय सतोप, और उनके लिए खौफनाक मौत, जो प्रेमी और वफादार है।"

"बिक्री के लिए जिस्म, आवाजें, अपार धन, जो आगे और नही बिकेगा। बेचनेवालो का माल अभी खत्म नही हुआ है और मुसाफिरो को तुरन्त रोकड मिटाने की भी कोई जरूरत नही है।"

अर्थ और सुसबद्धता की तलाश मे रहने वाले लोग रेम्बू से हमेशा निराश हुए हैं और आगे भी निराश होगे। किन्तु, रेम्बू की मुट्ठी भर कविताओ से जो चिनगारियाँ छिटकी, वे अनेक स्थानो पर आज भी ज्वाला बनकर जल रही हैं। रेम्बू की सबसे बडी विशेषता यह है कि परम्परा के टूटने की आवाज उन्हे सबसे पहले सुनायी पडी थी और आगामी पीढियो को इसकी सूचना उन्होने इस आत्म-विश्वास से प्रदान की, मानो, वे १८-२० साल के लडके नही, कला के अवतारी पुरुष रहे हो।

९ अन्तर्मुखी यात्रा का दंड

बोदलेयर, मलार्मे और रेम्बू ने साहित्य मे जिस आन्दोलन का प्रवर्तन किया, वह अन्तर्मुखी यात्रा का आन्दोलन था और यह आन्दोलन उन्होंने फ्रायड के अनुसधानो से प्रेरित हो कर नही उठाया था। फ्रायड उस समय कही भी नही थे। सन् १६१४-१५ तक भी साहित्य पर फ्रायड का कोई प्रभाव नही पडा था। वे केवल उन लोगो के काम के थे, जो मनोवैज्ञानिक रोगो का इलाज करते हैं।

साहित्य मे अन्तर्मुखी यात्रा का प्रवर्तन स्वय साहित्यकों ने किया था और इसके कारण भी मनोवैज्ञानिक न होकर साहित्यिक थे। रोमासवादी कवि भावना, राग और कल्पना के कवि थे, अतएव, स्वभावत ही, भावनाओ के मूल तक जाने के लिए वे कल्पना के सहारे चेतन मन के परे भी भाका करते थे। बुद्धि जब अतिचिंतन के कारण सबुद्धि हो जाती है, आदमी उस लोक की भाँकी लेने लगता है, जो बुद्धि की सीमा के पार है, जो कदाचित अचेतन अथवा अवचेतन से सबद्ध है। इस लोक का सकेत क्लासिक युग के भी कोई-कोई कवि देते रहे थे, किन्तु, उस युग में यह सकेत सुस्पष्ट होता था। जो सकेत सुस्पष्ट नही बनाये जा सकते थे, उनके कथन का रिवाज साहित्य मे नही था। किन्तु, रोमाटिक युग मे आ कर धुंधले सकेतो का भी आदर होने लगा था, बल्कि इस धुंधलेपन के कारण कवि के गभीर्य की कुछ अधिक ही प्रशसा की जाती थी। प्रतीकवादियो मे आ कर यह गुण और वृद्धि पा गया। रोमाटिक कवि जिस लोक का सकेत दूर से देते थे, प्रतीकवादी कलाकार उसी लोक को अपने विहार की प्रमुख भूमि समझने लगे। शुद्धतावादी आन्दोलन का हरएक कदम काव्य के विशिष्टीकरण की ओर पडनेवाला कदम रहा है। प्रतीकवादियो का भी प्रयास इसी विशिष्टीकरण की ओर था।

कविता की अन्तर्मुखी यात्रा को समर्थन समकालीन वस्तुवाद या प्रकृतवाद से भी मिला। प्रकृतवादियों का उद्देश्य मनुष्य का अध्ययन काफी कठोरता के साथ करना था। वे नैतिकता के रस्म-रिवाजो को मनुष्य का ऊपरी खोल समझते थे और अध्ययन वे उन मूल प्रवृत्तियो और आवेगो का करना चाहते थे, जो मनुष्य के आचरण की असली प्रेरणा हैं। प्रकृतवादी कलाकार मनुष्य के भीतर छिपे जीव का जितना ही अध्ययन करने गये, मनुष्य के अन्तश्चेतन की प्रवृत्तियाँ उतनी ही अधो दिखायी देने लगी, उसके आवेग उतने ही अदमनीय दिखायी देने लगे। ये आवेग और ये प्रवृत्तियाँ केवल अधी और धूमिल ही नही थीं, बल्कि वे खट्टी भी थीं, और उनकी मूल-शिराएँ बुद्धि मे नही, लहू और मास मे गडी थी। वस्तुवादी की इस दुनिया से प्रतीकवादियो की दुनिया का मेल था, क्योंकि प्रतीकवादियो का ससार प्रभावो, मनोदशाओ और स्वप्नो का ससार था तथा

इस ससार मे वुद्धि की प्रमुखता नही थी।

इस समय प्रतीकवादी और वस्तुवादी कलाकार जिस दिशा की ओर जा रहे थे, उसका समर्थन बर्सो के दार्शनिक सिद्धान्त ने भी किया। पहले के दार्शनिक बुद्धि को अपनी मार्गदर्शिका मानते आये थे। बर्सो ने कहा, मनुष्य का व्यक्तित्व वुद्धि से नही, सबुद्धि से समझा जा सकता है, वह तर्क से नही, भावना से चालित होता है। हमारी अनुभूतियो की जडें चेतन मन मे नही होतीं, वे अवचेतन से लगी हैं। अतएव, कोरी बुद्धि उनका पता पाने मे असमर्थ है।

फ्रायड से प्रभावित होने के पूर्व प्राउस्ट बर्सो से प्रभावित हुए थे। कहते है, उनके सोलह जिल्दो वाले विशाल उपन्यास की शैली मनोवैज्ञानिक शैली है। उपन्यास मे आनेवाली, एक के बाद दूसरी, घटनाओ को उन्होने अलग-अलग प्रतीकवादी शीर्षको के अधीन सजाया है और पूरे उपन्यास की सबद्धता काफी सामजस्यपूर्ण नही है। यह कदाचित् उस शैली का पूर्वाभास है, जिसका पूर्ण विकास हम जेम्स ज्वायस के उपन्यासों मे देखते हैं। ज्वायस उस शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं, जिसे चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम-आव्-कासस्नेस) की शैली कहा जाता है। लगता है, इस चेतना-प्रवाह शैली के बीज प्राउस्ट के ही उपन्यास मे थे। प्राउस्ट की विशेषता यह है कि मनुष्य के आचरण को प्रेरित करने वाली भावनाओ का पता लगाते हुए वे उसके अन्तर्मन के भीतर बहुत दूर तक उतर जाते हैं, जहाँ अधकार है, कुरूपता है, मनुष्य की पाशविक इच्छाएं किलोल करती हैं और जहाँ पहुँच कर चेतन मन को अपनी असमर्थता पर निराशा होती है, मनुष्य को अपने ऊपर ग्लानि होती है।

साहित्य के अन्तर्मुखी प्रयोग और मनोविज्ञान के अन्तर्भेदी अनुसन्धान मे जिस सत्य का पता चला है, वह सुखदायी नही है। आदमी के भीतर जितनी ही खुदाई की गयी है, उतनी ही उससे दुर्गन्ध पैदा हुई है। आदमी जब तक गोपो-तोपो की नीति पर चलता था, तभी तक वह सुखी था। जब से उसने अपने मन का पर्दा उघार दिया, वह चिंतित और विषण्ण हो गया है। आग से खेलने का अधिकार वैसे तो बहुत बडा अधिकार है, मगर, जो आग से खेलता है, उसे जलना भी पडता है। कला जीवन से जन्म लेती है, मगर वह जीवन को बनाती और बिगाडती भी है। प्रकृतवाद ने जब मनुष्य को यह बताया कि तू अब भी जीव-धारी है, तू अब भी पशु है, तब मनुष्य मे यह घबराहट नही जगी कि वह पशुता से ऊपर उठकर, असली मानो मे, मनुष्य बनने का प्रयास करे। बल्कि, अपने स्खलनों को स्वाभाविक मान कर उसने नियत्रण की लगाम कुछ और ढीली कर दी। विज्ञान का प्रभाव सर्वत्र एक ही रूप मे पड रहा है। उससे हमारे ज्ञान मे वृद्धि होती है, मगर, आचरण मे सुधार नहीं होता। उससे हमारी शक्ति बढ़ती है, लेकिन, उस शक्ति के दुरुपयोग का लोभ हममे क्षीण नही होता। धर्म, नैतिकता

तथा जीवन-सबधी दृष्टिबोध शायद उतने उपेक्षणीय नही हैं, जितने साहित्य मे वे अब माने जा रहे हैं।

यह सब साहित्य मे क्यो हुआ, इसे ठीक से समझ सकना बडा ही कठिन कार्य है। रोमांटिक युग तक साहित्य के भीतर, कही न कहीं, यह मान्यता मौजूद थी कि सौन्दर्य का सेवन वही तक उचित है, जहाँ तक स्वास्थ्य पर उसका दुष्प्रभाव नही पडता हो। किन्तु रोमासवादी युग के बाद साहित्य मे मानवता के स्वास्थ्य की चिंता क्षीण होने लगी और यह ध्येय खुल कर मान लिया गया कि नये सौन्दर्य की खोज मे कलाकार को कही भी जाने का नैसर्गिक अधिकार है। बोदलेयर ने लिखा था कि नवीनता की तलाश मे हम स्वर्ग मे घूमने, नरक मे डूबने और अज्ञात मे भटकने को तैयार हैं।

That we would roam through Heaven, descend to Hell,
Deep in the unknown to find something New

तब से कविता दिनो-दिन अज्ञात मन के स्वर्ग और नरक में, अधिक से अधिक दूर तक, डूबती रही है, यद्यपि स्वर्ग रिल्के और इलियट का है, जो अपेक्षाकृत रक्तहीन हैं और नरक उनका है, जो 'रुह को खाबीदा' और 'बदन को वेदार' करके ससार मे यश लूट रहे हैं, बल्कि कई तो 'नोबुल-प्राइज-लौरियेट' कहला रहे हैं।

मार्क्सवादी विद्वानो की राय है कि साहित्य हमेशा समाज के अनुसार बदला करता है और इसमे सन्देह नही कि साहित्य को समझने मे यह सिद्धान्त बहुधा हमारी सहायता करता है। किन्तु बोदलेयर, रेम्बू, मलार्मे आदि का आविर्भाव क्यो हुआ, यह रहस्य समाज की पृष्ठभूमि पर पूरी तरह नही खुलता। सबसे बडी सामाजिक घटना तो यह थी कि सन् १८४८ ई० मे पेरिस म समाजवादी क्रान्ति हुई थी। इसका स्वाभाविक प्रभाव यह होना चाहिए था कि कवि समाज की ओर जोर से मुड जाते। लेकिन परिणाम इसके ठीक प्रतिकूल हुआ। कविगण समाज मे और भी दूर चले गये।

यदि विज्ञान की दृष्टि से देखें तो धरती सृष्टि का केन्द्र नही है, यह ज्ञान कोपरनिकस के समय से आ रहा था। हाँ, उन्नीसवी सदी मे दो घटनाएँ ऐसी अवश्य घटी, जिनका प्रभाव युग की पूरी विचारधारा पर पड सकता था। पहली घटना यह थी कि डारविन ने आदमी पर यह इलजाम लगाया कि वह बन्दर की सतान है। और दूसरी बडी घटना यह थी कि फ्रायड ने मनुष्य को यह बताया कि तुम्हारा अहम् (ईगो) अपने घर मे भी स्वतन्त्र नही है। वह उन घटनाओ की अधूरी सूचनाओ से चालित होता है, जो तुम्हारे भीतर के देशो म अज्ञात रूप से घटित हो रही हैं।

साहित्य पर फ्रायड का प्रभाव उन्नीसवी सदी मे नहीं पडा था। लेकिन,

प्रकृतवादी उपन्यासकार जिस दृष्टि से मनुष्य के आभ्यन्तर रूपो का अध्ययन कर रहे थे, उसका प्रभाव कवियो पर भी पडा होगा। लेकिन यह प्रभाव इतना अनिष्टकारी क्यो हुआ कि कविगण समाज से दूर चले गये? प्रकृतवादी उपन्यासकार तो अपने पाठको को ध्यान मे रखकर लिखते थे। फिर कवियो ने ही अपने श्रोताओ की उपेक्षा क्यो की?

यूरोप के कई आलोचको का अनुमान है कि रोमाटिक कविता अभिजातीय भावना की कविता थी। वैसी कविता लिखकर कवि समाज के अग्रणी तभी तक रह सकते थे, जब तक आभिजात्य का आदर और प्रभाव था। किन्तु जैसे-जैसे औद्योगिक क्राति का प्रसार हुआ, समाज मे सब कुछ लुढककर जनसाधारण की ओर जाने लगा तथा जिस ऊँचाई पर पहले जमीदार घरानो के शिष्ट और सम्भ्रान्त लोग अवस्थित थे, उस पर, धन के बल से, व्यापारी वर्ग पहुँचने लगा। अब कवियो के सामने दो ही मार्ग थे। या तो वे अपनी ऊँचाई से उतरकर जनसाधारण के बीच आयें अथवा व्यापारियो को अपना श्रोता समझें, जिनके भीतर अभी शिष्ट रुचि का विकास नही हुआ था। किन्तु, कवि ने इन दोनो मे से कोई भी रास्ता पसन्द नही किया। जनसाधारण के बीच जा कर वह अपना आभिजात्य गँवाना नही चाहता था, न वह उन्हें अपने समकक्ष समझने को तैयार था, जो केवल धन के बल पर समाज मे आदरणीय बनते जा रहे थे।

जैसे-जैसे समाज साधारणता से आक्रान्त होने लगा, वैसे ही वैसे, कवि अपने को और भी अभिजातीय समझने लगे। उनकी गजदत की मीनार कुछ और ऊँची हो गयी। अपनी रचना के विषय के लिए उन्होने समाज की ओर देखना छोड दिया और ध्यान उनका प्रत्येक विषय के उस पहलू पर जाने लगा, जिससे कला और कारीगरी मे चमत्कार पैदा किया जा सकता था, जीवन से भले ही वह दूर अथवा असम्बद्ध हो। शैली उन्होने एक खोज निकाली थी। विषय का महत्त्व उनके लिए उतना ही रह गया जितना कमीज टाँगने के लिए खूँटी का होता है। धीरे-धीरे वे इस सिद्धान्त पर पहुँच गये कि सामान्य मानवीय चेष्टाओ की उपेक्षा करके हमें सौन्दर्य का एक नया लोक, भाषा और शब्द से, तैयार करना चाहिए, जो जनता के कर्म-लोक से श्रेष्ठ हो। कवियो मे जब यह शक्ति नही रही कि बदलते हुए समाज मे वे अपने नीति-निर्णायक-पद को अक्षुण्ण रख सकें, तब उन्होने ठान लिया कि हम जादूगर बनकर समाज के मस्तक पर रहेंगे। मलार्मे, वर्लेन, रैम्बू और लफूर्ज भाषा और शब्दो की इसी जादूगरी को कविता का पर्याय समझते थे।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध में केवल वे ही साहित्यकार नहीं हुए, जो 'कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त मे विश्वास करते थे अथवा शैली पर जिनका विषय की अपेक्षा अधिक मोह था। इस काल मे इगलैण्ड मे मैथ्यू आर्नल्ड का जन्म हुआ था, जो कविता को समाज की आलोचना बनाना चाहते थे, जो यह मानते थे कि

कविता की रीढ शैली नही, विचार है। इसी काल मे टालस्टाय हुए, जो कला को नैतिकता के वृत्त से बाहर जाने देने को तैयार नही थे। और इसी युग मे बर्नार्ड शा का भी जन्म हुआ, जिन्होने अपने साहित्य मे विचारो के आगे भावों को कभी कोई स्थान नहीं दिया। किन्तु, लगता है, ये महापुरुष परपरा की सेना के सेनापति थे। उनकी ऊँचाई बहुत बडी और उनका आकार विशाल है, किन्तु, वे उस समय घटित होनेवाली कलात्मक क्रातियो के प्रतिनिधि नही है। क्राति उस धारा के खिलाफ *आयी थी, जिस धारा ने टालस्टाय, आर्नल्ड और बर्नार्ड शा को जन्म दिया था।* क्रान्ति की इस धारा के असली प्रतिनिधि प्राउस्ट, फ्लाउबेयर, इब्सेन, जोला और नीत्से थे।

बोदलेयर के साथ साहित्य मे जो क्रान्ति उठी, उसका मुख्य उद्देश्य नवीनता की खोज, सौन्दर्य की रचना और आनन्द का उपभोग था। *नैतिकता मुक्त आनन्द मे बाधक थी, अतएव, कलाकारो ने प्रचलित नैतिक रिवाजो को मानने से इन्कार* कर दिया। वे अपरिचित और अछूते सौन्दर्य की सृष्टि करना चाहते थे, अतएव, उन्होने उन सभी विषयो से मुँह मोड लिया, जो साहित्य के परिचित विषय रह थे। कवियो मे से कुछ ने तो शारीरिक सौन्दर्य को प्रमुखता दी और कविताओ मे वे चित्रकारी करने लगे और कुछ ने काव्य के भीतर चिंतन को प्रतिष्ठित करना आरभ किया। यह चिंतन विचारो की स्थापना के लिए नही था, क्योकि विचार कविता से निष्कासित किये जा रहे थे, प्रत्युत वह चिंतन भावो के साथ लिपटी सूक्ष्म छायाओ के सधान के निमित्त था, उसका ध्येय अनुभूतियो के साथ लिपटी उन झकारो को पकडना था, जो ध्वनि और सकेत के सिवा अन्य किसी भी यत्न से पकडी नही जा सकती।

भावो और विचारो के बीच कठोरता से विभाजन करने की जो प्रथा चली, उससे कविता दिनो दिन अधिक अमूर्त्त होने लगी। विचार खूँटे के समान होते हैं। उनसे बँधा कवि उतनी ही दूर तक जा सकता है, जितनी लम्बी जजीर का *उसने प्रबन्ध किया हो। किन्तु, भावना हवा मे तैरनेवाली चीज है। केवल भावना के बल पर चलनेवाला मनुष्य कहाँ से कहाँ पहुँचेगा, इसका कोई ठिकाना नही* है। नवीन दर्शन मे 'एबसर्डिटी' का सिद्धान्त कदाचित् विचार और भावना के बीच इसी अति विभाजन से उत्पन्न हुआ है और कविता जो उतनी अधिक बौद्धिक हो गयी, उसका भी कारण यही है कि विचारो के त्याग के बाद कविता के भीतर जो जगह खाली हुई, उसे भरने को कवियो को अत्यन्त कठोर चिंतन करना पडा है।

जिस पस्ती और घोर नैराश्य के स्वर आज के बीटनिक और क्रुद्ध युवकों के मुख से सुनायी देते हैं, उनसे मिलते-जुलते स्वर उन्नीसवी सदी में भी सुनायी पडे थे। अपने एक मित्र को पत्र लिखते हुए इब्सेन ने लिखा था कि 'कभी-कभी

मानवता का सारा इतिहास मुझे ऐसा दिखायी देता है, मानो, भरा जहाज बीच समुद्र मे डूब रहा हो। ऐसी अवस्था मे दूसरो के बचाने की बात नही उठती। असली चिन्ता यही होती है कि हम बचते है या नही।" इसी प्रकार एक अन्य लेखक हरमैन कोनरेडी ने लिखा था, "हमारे युग की मृत्यु हो गयी। महापुरुषो का समय समाप्त हो गया। हम सब के सब कमीने और छोटे लोग है। हम जो कुछ करते हैं स्वार्थ से करते हैं, किसी योजना के अधीन करते हैं और हमारी आत्मा हर समय कामिनी और कचन के लिए तडपती रहती है।"

नैतिकता का बधन तोडने में मजा तो है, मगर, जब उसका कुफल सामने आता है, क्रान्तिकारी दर्शन उससे हमारी रक्षा नही कर सकता। नीत्से ने बडी वीरता से घोषणा की थी कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी। किन्तु, बाद को चिन्तित होकर उन्होने भी कहा था कि "ईश्वर की मृत्यु उस हस्ती की मौत है, जो ससार में सबसे बडी और सबसे पवित्र थी। मगर, इस घटना की महत्ता हम नही समझ रहे हैं, क्योंकि उसकी तुलना में हमारा कद बहुत छोटा है। इस घटना की बराबरी हम तभी कर सकते हैं, यदि हम सब के सब ईश्वर बन जायें।"

जब तक जीवन साहित्य का ध्येय था, साहित्यिको मे निराशा की मात्रा न्यून, आशा और उमग का भाव अधिक था। किन्तु, जीवन से मुख मोडते ही उनकी समस्या विकराल हो उठी। अब वे अपना सारा चमत्कार शब्दो के प्रयोग में दिखलाने लगे, अरूप भावो को रूपायित करने मे प्रदर्शित करने लगे। भाषा या तो उनका साध्य बन गयी अथवा उसका प्रयोग वे अतल मे डूबी भावनाओ को पकडने के लिए करने लगे, जैसे झगड को कुएँ मे डाल कर खोयी हुई बाल्टी निकाली जाती है। मलार्मे, वर्लेन, रेम्बु, नीत्से और कार्ल क्रौस को पढते समय यह स्पष्ट भासित होता है कि जिस वास्तविकता को अभिव्यक्त करने का ये कलाकार प्रयास कर रहे हैं, वह शब्दो से भागती है, भाषा मे आने से इन्कार करती है। किन्तु, तब भी ये कवि अपनी कल्पना को तानते हैं, अपने दिमाग पर जोर डालते हैं और अपनी शक्ति को वहाँ तक खीचते हैं, जहाँ उसके टूट जाने का खतरा हो सकता है। इन कवियो मे जो असबद्धता दिखायी देती है, उसका भी एक कारण यही है कि इस रस्साकसी में भाषा चरमरा कर टूट गयी और पूर्वापर सम्बन्ध की कडियाँ विलुप्त हो गयी।

यदि बात यही तक रुकती, तो वह उतनी दुखदायी नही होती। किन्तु, भाषा के साथ-साथ अनेक कवि खुद टूट गये, उनकी चेतना विलुप्त हो गयी अथवा उसमे दरारें पड गयीं, जिसके कारण उनमे से अनेक को जीवन भर कष्ट भोगना पडा।

जर्मन कवि होल्डरलीन पागल हो गये थे। डाक्टरो ने कहा था, वे केवल तीन वर्ष और जियेंगे, किन्तु, पागलपन के साथ उन्हे ३६ वर्ष जीना पडा।

फ्रासीसी कवि जेरार द नेर्वाल को उन्माद की बीमारी हो गयी और उसी

अवस्था में उन्होंने आत्मघात किया।

चित्रकार वान गाग भी पागल हो गये थे और उसी अवस्था में उनकी मृत्यु हुई।

नीत्से सारे जीवन अर्ध विक्षिप्तता से ग्रस्त रहे।

बोदलेयर जीवन भर दरिद्रता, कर्ज, रोग और शोक से घिरे रहे। हूल वाल्टन ने उनके एक फोटो का उल्लेख किया है, जिसमें वे सनकी दिखायी देते हैं तथा जिसमें उनकी आकृति कड़वाहट और निराशा से भरी हुई है।

संसार के इतिहास में कविता के लिए रोटी, वस्त्र, भवन और परिवार के सुखों से वंचित रहनेवाले लोग बहुत हुए थे। किन्तु, उन्नीसवीं सदी में आ कर कला की ऊँची चढाई के पार करने की कोशिश में कलाकारों ने अपनी चेतना का बलिदान दिया, अपनी कीर्त्ति की कुर्बानी दी, अपने जीवन का अपने ही हाथों अन्त कर डाला।

मन की दुनिया जहाँ तक छानी हुई है, वहीं तक सीमित रहनेवाले कलाकार सुखी और सकुशल रहते हैं। किन्तु, मन की जो गलियाँ अननुसंधानित और अन्धकारपूर्ण हैं, उनके भीतर धँसनेवाले कलाकार का वही हाल होता है, जो कभी-कभी मोती खोजनेवाले गोताखोरों का होता है अथवा जो हाल पहले उन नाविकों का होता था, जो धरती के अज्ञात भागों का पता लगाने के लिए अपरिचित दिशाओं में निकल पडते थे। जो भी चिंतक संसार को परिचित से उठा कर सर्वथा अपरिचित धरातल पर ले जाना चाहता है, उसे इस अमानवीय कर्म का मूल्य चुकाना ही पड़ता है और जो चिंतक कई पीढियों का काम एक ही पीढ़ी में पूरा करना चाहता है, उसे यह मूल्य कुछ अधिक चुकाना पड़ता है।

मानव-मन के निगूढ अन्तराल में छिपी जिस नयी वास्तविकता को काबू में लाने के लिए इन कलाकारों ने भाषा के साथ बलात्कार किया, अपनी चेतना पर घातक वार झेले और अपने प्राणों का उत्सर्ग किया, वह वास्तविकता बीसवीं सदी के पूर्व ही साहित्य के अधिकार में आ गयी। कवि और उपन्यास-लेखक, दोनों इस अनुमान पर आगे बढे थे कि वास्तविकता का असली रूप मानसिक है, आभ्यंतरिक है। बीसवीं सदी के मनोवैज्ञानिकों की खोजों ने इस अनुमान को और भी पुष्ट बना दिया। यही नहीं, जब से परमाणु तोड़े गये हैं, तब से विज्ञान भी मानसिकता की ही ओर अग्रसर हो रहा है। सम्भव है, आगे चलकर यह प्रमाणित हो जाय कि जो कुछ हम देख रहे हैं, वह वास्तव में शून्य है, पोला है, कुछ नहीं के भीतर कुछ के होने का आभास है। सृष्टि कोई ठोस वस्तु नहीं, केवल कल्पना है।

विज्ञान की सफलता से भौतिकवादियों का यह विश्वास बढ़ गया था कि चूँकि बाहर का आधिभौतिक जगत ठोस अणुओं का बना हुआ है, इसलिए, मन

भी आधिभौतिक है और चेतना सूक्ष्म अणुओ की क्रिया का परिणाम है। किन्तु, परमाणु-भजन के बाद पता यह चला कि परमाणु ठोस नही हैं, वे पोले हैं। वे ऊर्जा हैं अथवा तरग है। यह घटना सकेत देती है कि विज्ञान मे भी हमारी प्रगति मानसिकता की ओर है।

भौतिकवादी लोग यह भी मानते थे कि देश और काल की सत्ताएं अलग-अलग और स्वतन्त्र है। किन्तु, नयी भौतिकी समझती है कि बात ऐसी नही है। देश और काल मिलकर, कही न कही, एकाकार हैं। उसी एकता से हमारे मन ने, अपनी सुविधा के लिए, देश और काल को तोड कर अलग-अलग कर लिया है। यह भी विज्ञान के मानसिकता की ओर गमन करने का ही सकेत है।

भौतिकवादी मानते थे कि शून्य ठोस कणो से पूर्ण है। ये कण विद्युत्, चुम्बक अथवा गुरुत्वाकर्षण से परस्पर खिचे हुए है और यही खिचाव उनकी गतियो का निर्धारण करता है। किन्तु, सापेक्ष्यवाद का सिद्धान्त अब यह बतलाता है कि विद्युत् और चुम्बक की शक्तियाँ वास्तविक नही हैं। वे हमारी अपनी कल्पना के निर्माण हैं। गुरुत्वाकर्षण की शक्ति और मोमेंटम के सिद्धान्त हमारे मन की रचानाएं हैं।

ससार अगर केवल यान्त्रिक और आधिभौतिक होता, तो विज्ञान की भाषा इजीनियर और मेकेनिक की भाषा होती, जैसा आज तक होता आया था। मगर, नयी भौतिकी की हर ऊँची बात अब गणित के फॉरमूलो मे कही जा रही है। यह मानसिकता की ओर गमन नही तो और क्या है? विज्ञान का हर कदम अब कण से तरग की ओर उठ रहा है, आधिभौतिकता से मानसिकता की ओर जा रहा है। ब्रह्माण्ड का जो नया चित्र भौतिकी ने खीचा है, उसमे तरग ही प्रधान है तथा उस तरग के अवयवो के विषय मे हमारी जो धारणा बनी है, वह मानसिक है।

नयी कविता इसी वैज्ञानिक युग की कविता है और उन्नीसवी सदी के फ्रासीसी कवि इस श्रेय के अधिकारी हैं कि अपनी सबुद्धि के बल से वास्तविकता के मानसिक अथवा आन्तरिक रूप पर उन्होने उस समय जोर देना आरम्भ किया, जब विज्ञान निरा यान्त्रिक था और ससार को वह यत्र समझता था। ससार यन्त्र तो शायद अब भी है, किन्तु, अब यह नही कहा जा सकता कि यह यन्त्र ठोस है अथवा उसके भीतर ऐसी घटनाएँ नही घटती, जो बुद्धि और यत्र की पहुँच के पार न हो।

तब भी उन्नीसवी सदी मे ये कवि शका से देखे जाते थे। बेलजाक के साथ एक काल्पनिक वार्तालाप मे हाफमेस्थाल ने बेलजाक के मुख से कहलवाया था.—

"सन् १८९० ई० के आसपास हम कवियों की मानसिक निक्षिप्तता के दृश्य देखेंगे। उनकी संवेदनशीलता अत्यन्त विकराल हो उठेगी।

वे ऐसी घड़ियों से गुजरेंगे, जो भयानक निराशा और पस्ती की घड़ियाँ होंगी। तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं के भीतर उन्हें बड़े-बड़े प्रतीक दिखायी देंगे और अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें कोई शब्द उपयुक्त नहीं प्रतीत होगा। और इस सब का परिणाम होगा एक सार्वभौम अस्वास्थ्य, जिसमें उच्च वर्ग के युवक और युवतियाँ गिरफ्तार हो जायेंगे।"

इस सार्वभौम अस्वास्थ्य का सारा जहर होल्डरलीन, नेर्वाल, वान गाग, बोदलेयर, मलार्मे, रेम्बू और नीत्से ने खुद पी लिया। अपने उत्तराधिकारियों के पास भेजने के पूर्व ही उन्होंने इस नयी वास्तविकता पर पूरा अधिकार पा लिया था। अब उस वास्तविकता पर काम करने के लिए किसी भी कवि या कलाकार को पागल होने की जरूरत नहीं होगी।

शुद्ध कविता का इतिहास—२

१. विभिन्न भाषाओं की प्रवृत्तियाँ
२. चित्रकला का कविता पर प्रभाव
३ अभिव्यंजनावाद

विभिन्न भाषाओं की प्रवृत्तियाँ

जब फ्रांस में बोदलेयर और मलार्मे रोमांसवाद से निकलकर प्रतीकवाद पर जा पहुँचे थे और रेम्बू की कविताओं में, अज्ञात रूप से, सुररियलिज्म की नींव पड रही थी, उस समय अंगरेजी के कवि किसी और धुन में थे। टेनिसन और ब्राउनिंग तो रोमांसवाद के ही पिछले खेवे के कवि थे। मारिस और रासेटी जब रोमांसवाद से अलग हुए, तब उन्हें इतना ही मालूम था कि कविता को चित्रकला के बहुत समीप होना चाहिए। उनके बाद स्विनबर्न और आस्कार वाइल्ड का आविर्भाव हुआ। इन कवियों पर बोदलेयर का प्रभाव जरूर था, लेकिन वे भी प्रतीकवाद की साधना में तत्पर नहीं हुए। उन्होंने फ्रेंच कवियों के प्रयोग से इतनी ही शिक्षा ली कि कविता में उपयोगिता और सोद्देश्यता का होना दोष है। कविता को केवल सुन्दर होना चाहिए और सौन्दर्य-विधान में अगर नैतिकता बाधा डालती हो, तो उसका तिरस्कार करना कवि का धर्म है। और ऐसा मानने में स्विनबर्न और आस्कार वाइल्ड का कोई खास दोष नहीं था। नये प्रयोगों का, सामान्यतः, यही प्रभाव पड सकता था कि कविता कविता के लिए लिखी जानी चाहिए। कवि का और कोई उद्देश्य नहीं होता है।

पिछले सौ वर्षों से फ्रासीसी के कवियों की सबसे बडी अभिलाषा यह रही है कि वे ऐसी कविताएँ रचें, जो शुद्ध और निर्मल हों अर्थात् उनमें विचार नहीं, केवल भाव हो, टिप्पणी नहीं, केवल देखने की चाह हो। कविता को नीति और राजनीति से स्वतन्त्र होना चाहिए। उसका आदर इसलिए नहीं होना चाहिए कि वह समाज को रास्ता दिखाती है या मनुष्य को और भी श्रेष्ठ होने की प्रेरणा देती है, बल्कि, इसलिए कि वह वस्तुओं के भीतर छिपी विलक्षणता का उद्घाटन करती है, मनुष्य की चेतना को चौंकाने का काम करती है और अरूप के संधान में भाषा को नियोजित करके उसकी शक्ति को बढाती है। कविता केवल कविता के लिए है। उसे अपने लिए जीना चाहिए और अपनी ही शक्ति से जीना चाहिए। कविता जब दर्शन बघारती है, तब वह अपने बल से कम, दर्शन के बल से अधिक जीती है। जब वह राजनीति को अपना उद्देश्य बनाती है, तब उसकी लोकप्रियता का कारण कवित्व कम, राजनीति अधिक होती है। और जब वह अपना सम्बन्ध धर्म से जोडती है, तब उसका प्रभाव कवित्व के कारण कम, धर्म के कारण अधिक

फैलता है। अतएव, कविता की सच्ची शक्ति की परख तभी सम्भव है जब वह धर्म, दर्शन, राजनीति और नैतिकता से मुक्त होकर अपना सारा प्रभाव अपनी शक्ति से उत्पन्न करे।

यह अत्यंत गहन अर्थ में निर्वासन की कविता थी; अपने देश से निर्वासन की कविता; अपने काल से निर्वासन की कविता, युग के विचारों से निर्वासन की कविता; यहाँ तक कि, अन्त में, वह अर्थों से भी निर्वासित हो कविता बन गयी। कविता का यह ध्येय कैसे प्राप्त हो, इस प्रश्न को लेकर गहन, कठोर, भयानक चिंतन आरंभ हुआ, जो फ्रांस में पिछले एक सौ वर्षों से चलता रहा है। इस गंभीर चिंतन का एक परिणाम यह हुआ कि मनोविज्ञान और अध्यात्म शास्त्र की अनेक समस्याएँ कविता की समस्या बन गयी और जहाँ कवित्व को लहराना चाहिए था, वहाँ निगूढ चिंतन की लहरें उठने लगी। जहाँ तक जीवन था, वहाँ तक उपयोगिता की गंध भरी थी और, सिद्धान्त के स्तर पर, कवियों ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वे कविता को इस गंध की महक भी नहीं लगने देंगे। निदान, कविता उस लोक की ओर उडी, जो मानव-बुद्धि की रेखा के पार है। इस क्रम में पहले तो वह मनुष्य को मानवोत्तर शक्तियों से जोड़ने का प्रयास करने लगी, पीछे वह अवचेतन और अचेतन के अंधकार में प्रविष्ट हो गयी, जो सुररियलिस्टों का अत्यन्त आकर्षक क्षेत्र है। जाग्रत बुद्धि की सीमा के परे जो धुँधला, अरूप देश दिखायी पडा, कविगण उसकी ओर जोर से बढ़े। किन्तु, यह लोक जितना ही अछूता और नवीन था, उतना ही वह खतरनाक भी साबित हुआ। जरार द नेर्वाल ने इस धुँधली भूमि की ओर पहला इशारा किया था और उसके बाद के प्रायः सभी महाकवि उस भूमि में प्रवेश करने को लालायित रहे हैं। किन्तु, इस प्रयास से कविता में जितना अछूता सौन्दर्य उभरा है, उससे कविता की कई गुनी अधिक क्षति सामान्य पाठकों के बीच हुई है।

१. जर्मन भाषा की प्रवृत्ति

फ्रांस में शुद्ध कवित्व की जो प्रवृत्ति दिखायी पड़ी, उसका आभास जर्मनी में पहले-पहल नीत्से (१८४४-१९००) ने दिया था। नीत्से जर्मन रोमांटिकों की ठीक पीठ पर आये थे जिनमें होल्डरलीन (१७७०-१८४३), नोवालिस (१७७२-१८०१) और हाइने (१७९७-१८५६) प्रधान थे। वैसे, गेटे (१७४९-१८३२) की भी गिनती रोमांटिकों में ही की जानी चाहिए, किन्तु, जर्मनी में उनकी शैली को क्लासिक मानने का रिवाज है। गेटे ने जिस शैली का आविष्कार या निर्माण किया था, उसमें कुछ दिनों तक ताजगी बनी रही, किन्तु, धीरे-धीरे वह अलंकरण की वस्तु हो गयी। इस शैली से काव्यरसिकों को जो विरक्ति हो रही थी, उसका प्रमाण पहले-पहल मेयर (१८२५-१८९८) में मिला, जिनकी लिरिक का

या यों कहें कि एक प्रकार का काव्यात्मक अस्तित्ववाद उनका सिद्धान्त बन गया। उनका प्रभाववाद वस्तुपरक न रहकर पूर्ण रूप से वैयक्तिक अथवा आत्मनिष्ठ बन गया और वे ऐसी कविताएँ लिखने लगे, जिन्हें वही समझ सकता है, जिसे उस प्रकार के दर्शन तथा उस प्रकार की भावधारा की शिक्षा दी गयी हो। वे कवियों के कवि हैं और समझ में गरचे उनकी कविताएँ कम आती हैं, किन्तु, समकालीन काव्यधारा को उन्होंने जिस जोर से प्रभावित किया है, उसके कारण उनके नाम का उल्लेख सर्वत्र किया जाता है।

मलार्मे के प्रसग में कागज के क्वाँरेपन की जिस वेदना का उल्लेख ऊपर किया गया है, उस वेदना की अनुभूति रिल्के को भी थी। वे भी किसी ऐसे भाव की प्रतीक्षा मे रहते थे, जो पहले किसी और को अनुभूत नही हुआ हो। "मैं उन सभी बातों में विश्वास करता हूँ, जो पहले कहीं नहीं गयी है। मैं अपने प्रिय से प्रिय भावों को मुक्त अभिव्यक्ति दूँगा और एक दिन वह वस्तु, खुद-ब-खुद, मेरे समीप आ जायगी, जिसकी कामना करने का साहस किसी को भी नहीं हुआ है।"

आगे चलकर शुद्ध कविता इस बात पर जोर देने लगी कि कविता का प्रत्येक सौन्दर्य शारीरिक होता है, दृष्टिगम्य होता है और जो कुछ दृष्टिगम्य नहीं बनाया जा सकता, उसे कविता से बाहर ही छोड देना चाहिए। किन्तु, प्रतीकवाद का लक्ष्य संपूर्णता थी। मलार्मे एब्सोल्यूट पर आसक्त थे और रिल्के का कहना था कि "हमे निस्सीमता की आवश्यकता है। हम अनन्त के बीच रहना चाहते हैं, क्योंकि हम जो सकेत देते हैं, उसे केवल अनन्त ही संभाल सकता है। किन्तु, हम जानते हैं कि हम जिस दुनिया में रहते हैं, वह सीमित और सकीर्ण है। तो हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि हम सीमित की चौहद्दी के भीतर अनन्तता की सृष्टि करें, क्योंकि यह युग असीम के साथ अपना परिचय भूल चुका है।"

२. रूसी भाषा की प्रवृत्ति

रूस में प्रतीकवाद की झलक सन् १८९० ई० के बाद दिखायी पड़ने लगी। उपयोगितवाद के विरुद्ध एक हलकी-सी प्रतिक्रिया रूस मे सन् १८८० के बाद से ही प्रत्यक्ष होने लगी थी, किन्तु, प्रतीकवाद ने साकार रूप १९०० से लेकर १९१० के बीच धारण किया और इसके सबसे बडे कवि अलेक्सान्द्र ब्लाक (१८८०-१९२१) हुए। रूसी प्रतीकवाद केवल कविताओ तक सीमित न रहकर सास्कृतिक आन्दोलन बन गया। इस आन्दोलन का प्रभाव गद्य और पद्य, दोनो प्रकार के साहित्य पर पडा और समग्र रूसी साहित्य एक नवीन आभा से द्योतित हो उठा। रूसी साहित्य का प्रतीकवादी काल रूसी भाषा का द्वितीय स्वर्ण-युग समझा जाता है। कहते हैं, इस आन्दोलन के कुछ थोड़े-से बीज पहले की भी रूसी कविताओ मे पाये जाते हैं। किन्तु, अधिकांश मे इस आन्दोलन की प्रेरणा फ्रास से आयी थी और

रूस में भी कवि बोदलेयर, वर्लेन और मलार्मे को ही अपना आदर्श समझते थे। फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के समान रूस के प्रतीकवादी भी वास्तविकता के उस रूप को महत्त्व देते थे, जिसकी वैयक्तिक अनुभूति कवि को होती है। उनका भी यह विश्वास था कि दृश्य जगत् का मूल अदृश्य में है, अरूप आदर्श में है और दृश्य तथा अदृश्य के बीच जो सम्बन्ध है, उसकी अभिव्यक्ति केवल प्रतीकों में की जा सकती है। यह और कुछ नहीं, बोदलेयर के 'कारेमपोंडेंस' सिद्धान्त की आवृत्ति थी। फ्रांस की तरह रूस में भी प्रतीकवादी कवि संगीत की आत्मा को कविता के भीतर पचाने को बेचैन थे। रूस में यह प्रवाद भी चला था कि प्रतीकवाद केवल साहित्यिक आन्दोलन नहीं, एक प्रकार का धार्मिक भाव है, जिसका पौरोहित्य कवि कर रहे हैं।

सन् १६१०ई० के आस-पास रूसी काव्य-क्षेत्र में सौंदर्यबोध और तत्त्व-बोध के बीच संघर्ष छिड़ गया और उसके परिणामस्वरूप प्रतीकवादी आन्दोलन शिथिल पड़ने लगा। सन् १६१० में ही कुजमिन का एक निबन्ध 'रमणीय सुस्पष्टता के बारे में' नाम से प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध में लेखक ने कवियों को सलाह दी थी कि उन्हें वस्तुओं के यथातथ्य वर्णन पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए, विस्तृत के बदले उन्हें संक्षिप्त होना चाहिए तथा बराबर इस बात का खयाल रखना चाहिए कि वे शब्दों का अपव्यय अथवा दुरुपयोग न करें। यह कार्यक्रम प्रतीकवादियों के धुंधले रहस्यवाद और शैलीगत दुरूहता के खिलाफ आया था। इस आन्दोलन को परिणति तक पहुँचाने का श्रेय एकमिस्ट-सम्प्रदाय ने लिया, जिसका रूसी कविता में नेतृत्व प्रायः १६१७ ई० तक चलता रहा था।

एकमिस्ट आन्दोलन बहुत ज्यादा दिन नहीं ठहरा, किन्तु, थोड़े दिनों में ही उसने कवियों पर यह प्रभाव भली-भाँति बिठा दिया कि कविता की महिमा बिम्बों की स्वच्छता एवं अभिव्यक्ति की पूर्णता में है। गुमिलेव और अन्ना अख्मतोवा इस धारा के विलक्षण कवि हुए। यह आन्दोलन एक तरह से वही आन्दोलन था, जिसका जर्मन नाम अभिव्यंजनावाद और अंग्रेजी नाम चित्रवाद है।

रूसी भाषा में नवीनता का एक तीसरा आन्दोलन भविष्यवाद के नाम से चला था। किन्तु, इस आन्दोलन का ध्येय शुद्ध कवित्व नहीं था। इस आन्दोलन का घोषणा-पत्र सन् १६१२ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'जन-रुचि के मुँह पर एक तमाचा', यह उस घोषणा-पत्र का शीर्षक था और उस पर हस्ताक्षर करनेवाले लोगों में मायाकोव्स्की का भी नाम था। इस घोषणा-पत्र में निम्नलिखित बातें मुख्य रूप से कही गयी थीं।

१. पुश्किन, डोस्टावास्की और टालस्टाय को आधुनिकता के जहाज से नीचे फेंक दो।

२ कविता को प्रतीकवादियों की आध्यात्मिक निराकारता से मुक्त करो तथा

उसे समकालीन राजनैतिक एव औद्योगिक जीवन से उलझने के योग्य बनाओ।
३ जो केवल परम्परा के कारण सुन्दर है, अन्यथा नीरस और निष्प्राण है, उसे छोड दो।
४ कविता मे जीवन का स्पन्दन भरने के लिए एक नयी काव्यात्मक भाषा तैयार की जानी चाहिए।

इस आन्दोलन के अग्रणी कवि ख्लेबनिकोव थे, किन्तु, उनकी कोई भी कविता ऐसी नही उतरी, जो पूर्ण मालूम होती हो। मायाकोव्स्की भी इसी धारा के कवि थे। व क्रान्तिकारी थे और कविता का उपयोग समाज-सेवा के लिए करने के पक्षपाती थे। किन्तु, उनकी बिम्ब योजना से स्पष्ट भासित होता है कि चित्रवाद अथवा अभिव्यजनावाद का उन पर काँफी प्रभाव था। वे ऐसे कवि थे, जिसके बारे मे यह कहा जा सकता है कि शैली के गुणो पर मुग्ध रहने वाला कलाकार क्रान्ति का पैगम्बर बन गया। टेनिसन और ब्राउनिंग पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनकी शैली विषय के साथ नही उभरती थी, बल्कि वे शैली को विषय के ऊपर ओढा देते थे। किन्तु, मायाकोव्स्की पर ऐसा कोई आक्षेप नही लगाया जा सकता। उनकी शैली भाव के साथ उभरती है और उनके भावो की सारी भगिमा उनकी शैली से लिपटी मिलती है।

—

३ अगरेजी की प्रवृत्ति

शेली, कीट्स, बायरन और वर्ड्स्वर्थ के ठीक बाद अगरेजी कविता के सबसे बडे नाम टेनिसन, ब्राउनिंग और मैथ्यू आर्नाल्ड के नाम है। किन्तु, इन कवियो के भीतर न तो रोमासवाद के विरुद्ध कोई तीखी प्रतिक्रिया थी, न ऐसी कविताएँ लिखने का लोभ जो विचारो से मुक्त हो। किन्तु, विक्टोरिया-युग मे ही अगरेजी मे ऐसे कवि उत्पन्न हुए, जो दिमाग की अपेक्षा आँखो पर अधिक आश्रित रहना चाहते थे, जो कविता म चित्रकारी के गुणो को प्रमुखता देने को तैयार थे।

इस युग के सबसे बडे कलाविवेचक रस्किन थे। उन्होने यह स्थापना रखी कि इटली का चार सौ साल पहले का कलाकार रफैल, गरचे, क्लासिक कलाकार था, किन्तु, उसके चित्रों मे प्राण नही हैं। अतएव, कलाकारो को चाहिए कि वे उस प्रणाली पर चलने की कोशिश करें, जिस पर रफैल से पूर्व के चित्रकार चलते थे। इस प्रकार पूर्व-रफैल शब्द का आविष्कार हुआ और सन् १८४८ ई० मे पूर्व-रफैल सप्रदाय की स्थापना कर दी गयी, जिसके सदस्य कवि और चित्रकार, दोनो हो सकते थे। इस सप्रदाय के सदस्यो मे अगरेजी के दो सुकवि, रोसेटी और मोरिस भी थे, जो एक साथ कवि और चित्रकार थे।

चित्र की इस नयी पद्धति की विशेषताएँ क्या थी, इसकी तफसील म जाने की यहाँ कोई खास जरूरत नहीं है। केवल इतना ही जानना काफी है कि अगरेजी

साहित्य मे रोमासवादियो के अपकर्ष के बाद यह प्रवृत्ति दिखायी पडी कि कविता और चित्रकारी को परस्पर समीप आना चाहिए। इस मैत्री मे विजय चित्रकारी की थी, क्योकि लाख कोशिश करने पर भी चित्रकार का चिंतन कूँची के सहारे नही चल सकता। अगर वह बातो को दूर तक सोचना चाहे, तो एक हद के बाद सहारा उसे लेखनी का लेना पडेगा। और चित्रण का थोडा काम गरचे कलम को भी करना पडता है, लेकिन, कूँची के साथ गहरी दोस्ती वह तभी निभा सकती है, जब चिंतन की प्रखरता को वह मन्द कर दे। किन्तु, मौरिस और रासेटी ने इस दोस्ती का बहुत अच्छा निर्वाह किया और कविता मे चित्र को महत्त्व देकर उन्होने बीसवी सदी मे उठने वाले इमैजिज्म या चित्रवाद की पूर्व-पीठिका तैयार कर दी। एक ही व्यक्ति कवि भी हो और चित्रकार भी, यह साधना यथेष्ट दिखायी नही पड़ी। लोगो ने यह प्रयोग भी आरम्भ कर दिया कि एक ही भाव कविता और चित्र, दोनो का उपयोग कर सकता है या नहीं। रासेटी एक दिन एक चित्र और एक सानेट पर एक साथ काम कर रहे थे कि उनके एक मित्र ने कहा, "अगर मैं तुम्हारी जगह पर होता तो चित्र को फ्रेम मे निकालकर उसकी जगह पर सानेट को फिट कर देता।"

कविता मे चित्रकारी की महिमा स्थापित करने वालो के सिवा उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अगरेजी मे दो कवि ऐसे भी हुए, जिनका दृष्टिकोण बोदलेयर के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता था। स्विनबर्न और आस्कार वाइल्ड, दोनो के भीतर हम कर्म की उपेक्षा, ज्ञान से भागने का भाव और शैली के प्रति एक प्रकार का पक्षपात देखते हैं। वाइल्ड की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "आदमी जब कर्म करता है, वह परिस्थितियो का गुलाम हो जाता है। जब वह चिंतन करता है, वह परिस्थिति का स्वामी बन जाता है।" विचित्र सयोग की बात है कि कविता जीवन के दायित्व से मुक्त हो जाय, यह विचार सभी देशो मे लगभग एक साथ और आप से आप जगने लगा था। वाइल्ड की एक उक्ति कला के बारे मे यह भी मिलती है। "जैसे सजावट के लिए निर्मित वैनेशियन शीशे का टुकडा आध्यात्मिकता का कोई सन्देश नही देता, उसी प्रकार, चित्र का उद्देश्य आध्यात्मिक प्रेरणा का दान नही है। तसवीरें हमारी आत्मा का स्पर्श रेखाओ की सच्चाई के जरिये नही करती। विषय कोई वस्तु नही है। असली काम विषय को किसी सृजनशील, आविष्कारात्मक शैली के द्वारा अंकित करना है और शैली की यही आविष्कारमयी भगिमा चित्र का प्राण है। कविता का आनन्द भी उसमे वर्णित विषय से उत्पन्न नही होता, वह लयमयी भाषा के आविष्कारपूर्ण प्रयोग से आता है।"

कविता और कला को लेकर युग के हृदय मे जो नयी धारणा उत्पन्न हो रही थी, उसकी सबसे प्रबल अभिव्यक्ति हम आस्कार वाइल्ड मे पाते हैं। डोरियन ग्रे नामक अपने छोटे-से उपन्यास की अत्यन्त सक्षिप्त भूमिका मे इस नयी धारणा को

उन्होने काफी सुस्पष्टता और निर्भीकता के साथ व्यक्त किया है।

"कलाकार रमणीय वस्तुओं का निर्माण करता है। कला का उद्देश्य अपने को प्रकाशित करना और कलाकार को छिपाना होता है। पुस्तकें नैतिक या अनैतिक नही होती। वे या तो अच्छी तरह से लिखी होती हैं या बुरी तरह से। उन्नीसवीं सदी में वस्तुवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, वह उस आदमी का क्रोध था, जिसने अपना चेहरा आइने में देखा था। और उसी सदी में रोमांसवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया उठी, वह भी उसी आदमी का क्रोध था, जब आइने में उसे अपना चेहरा दिखायी नहीं देने लगा। कलाकार में नैतिक भावना नाम की चीज़ नही होती है। कलाकार के भीतर नैतिक भावना का होना शैली का एक ऐसा अपराध है, जिसे अक्षम्य समझना चाहिए। किसी भी वस्तु को सिद्ध करने का प्रयास कलाकार का धर्म नहीं है। भाषा और भाव, कलाकार की दृष्टि में, कला के औजार है। पाप और पुण्य कलाकार के लिए कला के कच्चे माल हैं। शैली की दृष्टि से देखें तो सभी कलाओं की शैली संगीत की शैली है। भावना की दृष्टि से विचार करें तो सभी कलाओं की भावनाएँ अभिनेता की भावनाएँ हैं। कला की किसी कृति के बारे में जब मतभेद प्रबल हो, तब समझना चाहिए कि वह कृति नयी है, जटिल है और जानदार है। आलोचक जब आपस में झगड़ते हैं, वह मुहूर्त कलाकार की शान्ति का मुहूर्त होता है। अगर कोई व्यक्ति उपयोगी वस्तु का निर्माण करता है, मगर, उसकी बड़ाई नही करता, तो वह क्षम्य है। अक्षम्य वह व्यक्ति है, जो उपयोगी वस्तु तैयार करके उसकी घोर रूप से प्रशंसा करता है। सभी कलाएं बिलकुल अनुपयोगी होती हैं।"

स्विनबर्न शेली और बायरन की धारा के कवि थे, किन्तु, रोमांटिक परम्परा से वे काफी दूर भी हो गये थे। साहित्य सामाजिक जीवन की माँग और समाज की रुचि का भी ध्यान रखे, स्विनबर्न इस पक्ष में नही थे। उलटे, उनका झुकाव कला को वासनापूर्ण विषयों से भरने की ओर था। वे पूर्व-रफेलाइट सम्प्रदाय के अनुगामी और रोसेटी के अत्यन्त प्रशंसक मित्र थे। जॉन हीथ स्टब्स ने उन्हें मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि से पीड़ित माना है। उन्हें मिरगी भी आती थी और एक साथ वे आत्मपीडक और पर-पीडक भावनाओं के भी शिकार थे। शृंगार के वर्जित और विकृत रूप की ओर वे बड़े उत्साह से दौड़ते थे। कोई आश्चर्य नही कि बोदलेयर के प्रति उनमें अपार भक्ति थी और जो अनुमान बोदलेयर के पुंस्त्व के बारे में लगाया जाता है, वही बात स्विनबर्न के विषय में भी कही जाती है अर्थात् वे नपुंसक थे। उन्होंने धर्म-निरपेक्ष आनन्द का सिद्धान्त चलाया था और वे सभी प्रकार के

नैतिक नियत्रणो के विरुद्ध थे। स्टर्म उन्हे नैराश्य, विफलताबोध और नपुसकता से पीडित कवि मानते हैं।

बोदलेयर, आस्कार वाइल्ड और स्विनबर्न, इनमे छोटी-मोटी समानता कई बार दिखायी पडती है, किन्तु, उनके बीच सबसे बडी समानता काम-विकार को लेकर थी। नैतिकता की साहसपूर्ण अवज्ञा की जो परम्परा इस प्रकार के कवियो ने चलायी, वह भी आगामी आन्दोलनो का एक अग बन गयी। यह परम्परा सिद्धान्त के कारण चली या वह आचरण से सिद्धान्त मे पहुँची, इसका निर्णय आसान नही है। अलकरणप्रियता और सौन्दर्यबोध की ओर झुकाव रस्किन और मैथ्यू आर्नाल्ड का भी था। किन्तु, उनका दृष्टिकोण पवित्रतावादी रहा था। वे कला को सुन्दर तो रखना चाहते थे, किन्तु, उसे नैतिक बधना से मुक्त करने को तैयार नही थे। आर्नाल्ड और रस्किन के इस पवित्रतावाद का विरोध पेटर ने किया। उन्होंने यह मतवाद चलाया कि जब तक कलाकार नैतिक चिकित्सा मे गिरफ्तार है, वह सौन्दर्य को सही अभिव्यक्ति देने मे असमर्थ रहेगा। जब कलाकार को नैतिक दुविधा से मुक्ति मिल जाती है, तभी सौन्दर्यानुभूति का क्षण कला की एक मात्र वास्तविकता बन जाता है।

किन्तु, शुद्धता की दृष्टि से अगरेजी के कवि पिछडे हुए थे। अभी वे इसी उलझन में ग्रस्त थे कि कविता केवल चित्रो से बन सकती है या उसके भीतर कुछ विचार भी रखना आवश्यक है। स्विनबर्न ने दोनो ही प्रकार की कविताएँ लिखी थी। आगे जब चित्रवादी आन्दोलन प्रकट हुआ, तब आधुनिकता की खोज मे इलियट और एजरा पौंड ने फ्रास के कवि बोदलेयर, रेम्बू और लफूर्ज की ओर देखा। मगर, इसके मानी ये हैं कि फ्रेंच मे जो प्रश्न रेम्बू ने उन्नीसवी सदी के बीच मे पूछे थे, अगरेजी मे उन प्रश्नो के पूछने की जरूरत इलियट को ही हुई, उनके पूर्वजो को नही।

क्या इलियट की कविता शुद्ध कविता है ?

रेम्बू और मलार्मे के बाद फ्रेंच, जर्मन और अगरेजी भाषाओं मे नवीनता और शुद्धता के जो आन्दोलन चले, कवियो ने शुद्ध काव्य की कल्पना को साकार करने के लिए जो घोर आत्म मथन किया, उसके परिणामस्वरूप, दो कवि ऐसे उत्पन्न हुए, जिनके शिखर ससार के प्रत्येक भाग से दिखायी देते है। इनमे से एक हैं जर्मन कवि रिल्के, जिनका देहान्त सन् १९२७ ई० मे हुआ और दूसरे हैं अगरेजी के कवि इलियट, जिनका अवसान अभी पिछले साल हुआ है।

इलियट के आविर्भूत होते ही अगरेजी काव्य का चित्रवादी आन्दोलन समाप्त हो गया, मानो, कविता जहाँ पहुँचना चाहती थी, वह मजिल उसे इलियट मे आकर प्राप्त हो गयी। किन्तु, क्या इलियट शुद्ध कवि हैं ? अर्थात् वे क्या ऐसे

उन्होने काफी सुस्पष्टता और निर्भीकता के साथ व्यक्त किया है।

"कलाकार रमणीय वस्तुओं का निर्माण करता है। कला का उद्देश्य अपने को प्रकाशित करना और कलाकार को छिपाना होता है। पुस्तकें नैतिक या अनैतिक नही होती। वे या तो अच्छी तरह से लिखी होती है या बुरी तरह से। उन्नीसवी सदी मे वस्तुवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, वह उस आदमी का क्रोध था, जिसने अपना चेहरा आइने मे देखा था। और उसी सदी मे रोमासवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया उठी, वह भी उसी आदमी का क्रोध था, जब आइने मे उसे अपना चेहरा दिखायी नहीं देने लगा। कलाकार मे नैतिक भावना नाम की चीज नही होती है। कलाकार के भीतर नैतिक भावना का होना शैली का एक ऐसा अपराध है, जिसे अक्षम्य समझना चाहिए। किसी भी वस्तु को सिद्ध करने का प्रयास कलाकार का धर्म नही है। भाषा और भाव, कलाकार की दृष्टि में, कला के औजार है। पाप और पुण्य कलाकार के लिए कला के कच्चे माल है। शैली की दृष्टि से देखें तो सभी कलाओ की शैली सगीत की शैली है। भावना की दृष्टि से विचार करें तो सभी कलाओं की भावनाएँ अभिनेता की भावनाएँ हैं। कला की किसी कृति के बारे मे जब मतभेद प्रबल हो, तब समझना चाहिए कि वह कृति नयी है, जटिल है और जानदार है। आलोचक जब आपस मे झगड़ते है, वह मुहूर्त कलाकार की शान्ति का मुहूर्त्त होता है। अगर कोई व्यक्ति उपयोगी वस्तु का निर्माण करता है, मगर, उसकी बडाई नही करता, तो वह क्षम्य है। अक्षम्य वह व्यक्ति है, जो उपयोगी वस्तु तैयार करके उसकी घोर रूप से प्रशसा करता है। सभी कलाएं बिलकुल अनुपयोगी होती है।"

स्विनबर्न शैली और बायरन की धारा के कवि थे, किन्तु, रोमाटिक परम्परा से वे काफी दूर भी हो गये थे। साहित्य सामाजिक जीवन की माँग और समाज की रुचि का भी ध्यान रखे, स्विनबर्न इस पक्ष मे नही थे। उलटे, उनका झुकाव कला को वासनापूर्ण विषयों से भरने की ओर था। वे पूर्व-रफैलाइट सप्रदाय के अनुगामी और रोसेटी के अत्यन्त प्रशसक मित्र थे। जॉन हीथ स्टब्स ने उन्हे मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि से पीडित माना है। उन्हे मिरगी भी आती थी और एक साथ वे आत्मपीडक और पर-पीडक भावनाओं के भी शिकार थे। शृगार के वर्जित और विकृत रूप की ओर वे बड़े उत्साह से दौड़ते थे। कोई आश्चर्य नही कि बोदलेयर के प्रति उनमें अपार भक्ति थी और जो अनुमान बोदलेयर के पुंस्त्व के बारे मे लगाया जाता है, वही बात स्विनबर्न के विषय मे भी कही जाती है अर्थात् वे नपुसक थे। उन्होने धर्म-निरपेक्ष आनन्द का सिद्धान्त चलाया था और वे सभी प्रकार के

नैतिक नियन्त्रणों के विरुद्ध थे। स्टब्स उन्हें नैराश्य, विफलताबोध और नपुंसकता से पीड़ित कवि मानते हैं।

बोदलेयर, आस्कार वाइल्ड और स्विनबर्न, इनमें छोटी-मोटी समानता कई बार दिखायी पड़ती है, किन्तु, उनके बीच सबसे बड़ी समानता काम विकार को लेकर थी। नैतिकता की साहसपूर्ण अवज्ञा की जो परम्परा इस प्रकार के कवियों ने चलायी, वह भी आगामी आन्दोलनों का एक अंग बन गयी। यह परम्परा सिद्धान्त के कारण चली या वह आचरण से सिद्धान्त में पहुँची, इसका निर्णय आसान नहीं है। अलंकरणप्रियता और सौन्दर्यबोध की ओर झुकाव रस्किन और मैथ्यू आर्नाल्ड का भी था। किन्तु, उनका दृष्टिकोण पवित्रतावादी रहा था। वे कला को सुन्दर तो रखना चाहते थे, किन्तु, उसे नैतिक बंधनों से मुक्त करने को तैयार नहीं थे। आर्नाल्ड और रस्किन के इस पवित्रतावाद का विरोध पेटर ने किया। उन्होंने यह मतवाद चलाया कि जब तक कलाकार नैतिक विचिकित्सा में गिरफ्तार है, वह सौन्दर्य को सही अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहेगा। जब कलाकार को नैतिक दुविधा से मुक्ति मिल जाती है, तभी सौन्दर्यानुभूति का क्षण कला की एक मात्र वास्तविकता बन जाता है।

किन्तु, शुद्धता की दृष्टि से अंगरेजी के कवि पिछड़े हुए थे। अभी वे इसी उलझन में ग्रस्त थे कि कविता केवल चित्रों से बन सकती है या उसके भीतर कुछ विचार भी रखना आवश्यक है। स्विनबर्न ने दोनों ही प्रकार की कविताएँ लिखी थीं। आगे जब चित्रवादी आन्दोलन प्रकट हुआ, तब आधुनिकता की खोज में इलियट और एजरा पौंड ने फ्रांस के कवि बोदलेयर, रेम्बू और लफूर्ज की ओर देखा। मगर, इसके मानी ये है कि फ्रेंच में जो प्रश्न रेम्बू ने उन्नीसवीं सदी के बीच में पूछे थे, अंगरेजी में उन प्रश्नों के पूछने की जरूरत इलियट को ही हुई, उनके पूर्वजों को नहीं।

क्या इलियट की कविता शुद्ध कविता है ?

रेम्बू और मलार्मे के बाद फ्रेंच, जर्मन और अंगरेजी भाषाओं में नवीनता और शुद्धता के जो आन्दोलन चले, कवियों ने शुद्ध काव्य की कल्पना को साकार करने के लिए जो घोर आत्म-मंथन किया, उसके परिणामस्वरूप, दो कवि ऐसे उत्पन्न हुए, जिनके शिखर संसार के प्रत्येक भाग से दिखायी देते हैं। इनमें से एक हैं जर्मन कवि रिल्के, जिनका देहान्त सन् १६२७ ई० में हुआ और दूसरे हैं अंगरेजी के कवि इलियट, जिनका अवसान अभी पिछले साल हुआ है।

इलियट के आविर्भूत होते ही अंगरेजी काव्य का चित्रवादी आन्दोलन समाप्त हो गया, मानो, कविता जहाँ पहुँचना चाहती थी, वह मंजिल उसे इलियट में आकर प्राप्त हो गयी। किन्तु, क्या इलियट शुद्ध कवि हैं ? अर्थात् वे क्या ऐसे

कवि हैं, जो विचारों की छूत से बचकर चलता है जो केवल ऐसे भावों का अंकण करता है जिनका कर्म से कोई संबंध नहीं है ? और क्या उनकी कविताएँ संदेश-मुक्त हैं, जीवन से छिन्न हैं, वास्तविकता से अस्पृष्ट हैं और उनके भीतर मनुष्य के लिए कोई संदेश नहीं है ?

हमारा ख्याल है इलियट नये कवि हैं, किन्तु वे उस अर्थ में शुद्ध नहीं हैं, जिस अर्थ में शुद्धता की कल्पना आन्दोलनकारी कर रहे थे। फ्रेंच, जर्मन और अंगरेजी भाषाओं में प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद और चित्रवाद के नाम से जो भी प्रयोग किये गये थे, उन्हें इलियट ने ठीक से समझा, उन पर स्वामित्व प्राप्त किया और तब इस शक्ति के साथ वे उस ध्येय में लग गये, जो सभी महाकवियों का ध्येय है। जो भी कला विश्व-जीवन के प्रभावों को आत्मसात् करने से घबराती है, जो भी कला मानवता की विवेक-चेतना से अलग रहना चाहती है, जो भी कला दृष्टि बोध को स्वीकार नहीं करती, वह अभी कच्ची है, अपरिपक्व है, धुंधली और पोली है। अगर कविता जन जीवन के प्रभाव से भागती रही, दृष्टिबोध की जिम्मेदारी समझकर उससे कतराती रही, मानवता की विवेक चेतना से अछूती रही, तो वह चाहे जितनी भी बिम्बपूर्ण हो, उसे अकाल ही काल कवलित होना पड़ेगा।

इलियट पूरे अर्थ में जीवन के कवि हैं। उनके भाव समाज से आते हैं। उनकी दृष्टि समाज के खोखलेपन पर है। स्पैंगलर ने भविष्यवाणी की थी कि पाश्चात्य सभ्यता का पतन समीप है। इस भविष्यवाणी की गहरी अनुभूति यूरोप के जिन थोड़े से लेखकों और कवियों को हुई थी, उनमें इलियट अन्यतम थे। इलियट ने इसी मरणासन्न सभ्यता की कविता लिखी है और, परोक्ष रूप से, मनुष्य को यह संदेश भी दिया है कि अगर विनाश से बचना चाहते हो तो विज्ञान पर मत भूलो, नयी सभ्यता से मिलने वाले सस्ते सुखों से परहेज करो और उन मूल्यों को स्वीकार करो, जिनका प्रतीक धर्म है। रोमांटिक कवियों से इलियट इस बात में भिन्न थे कि रोमांटिक कवि युग के साथ होने का दावा करके भी, वास्तव में, युग के साथ नहीं थे। वे युग नहीं, सौन्दर्य के पुजारी थे, बुद्धि नहीं, भावना के प्रेमी थे और संतुलन नहीं, आवेश की ओर थे। बीसवीं सदी का असली चित्र इलियट में उभरा, क्योंकि इलियट इस सदी का पानी खींचकर पौधे के समान बढ़ थे। उनकी भाव-दशा संयत और मुद्रा विचारमग्न थी। उनके बिम्ब, विचार और लय समन्वित थे और उस समन्वय पर एक विचित्र प्रकार का नियंत्रण था, जिसके कारण इलियट थोड़ा ही कहकर बहुत अधिक कह जाते थे। चीखें चिल्लाहट, क्रन्दन, विलाप और विस्फोट इलियट की कविता में नहीं हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता शब्दों, भावनाओं, विचारों और मनोदशाओं के प्रति उनकी कठोर सचाई है। यही सचाई उनकी शैली को संक्षिप्त और ठोस बना देती है और इसी संक्षिप्तता के कारण ऐसा अनुभव होता है कि जितना हम समझते रहे हैं, इलियट की कविताओं में

समझने के लिए उससे कही अधिक अर्थ प्रच्छन्न अथवा विद्यमान् हैं।

इलियट वह कवि नही हैं, जो यह जानकर निराश और उच्छृंखल हो जाता है कि अब समाज मे कहीं कोई स्थिर मूल्य नही है, अतएव, दायित्वहीनता को कला का सबसे आवश्यक गुण बन जाना चाहिए। वे ऐसे दायित्वपूर्ण गभीर कवि थे, जो यह मानता है कि अगर मनीषियो ने समाज की चिंता छोड दी, तो समाज छिन्न भिन्न हो जायगा। वे तो कुरूपता मे से सौन्दर्य और पाषण्ड के भीतर से सत्य की उपलब्धि करना चाहते थे।

कई लोग यह भी इशारा करते हैं कि इलियट जब मरे, तब वे नवीन नही रहे थे। ऐसे लोग नये युग का आरम्भ पिकासो से मानते हैं। इलियट उनकी दृष्टि मे वह कवि हैं, जिसके साथ पुराने युग का अत होता है। वास्तव मे नये युग का आरभ इलियट से नही, पिकासो से मागा जाना चाहिए। ये सारी फालतू बातें है। इलियट नये युग के कवि हैं और नये प्रयोगो की सारी खूबियाँ उनके बस मे आ गयी थी। किन्तु साहित्य मे वे आतिशबाजी खेलने को नही आये थे। उन्हे कोई गभीर काम करके कविता को फिर से प्रतिष्ठा दिलवाना था। रोमांटिक शैली के वे विरुद्ध थे। उनका कहना था कि जीवन मे रोमासवाद का महत्त्व हो सकता है, किन्तु, कला के क्षेत्र मे अब उसका कोई महत्त्व नही है। ईमानदार होने के कारण वे यह भी समझते थे कि आलोचक भाव और विचार के बीच जिस आसानी से विभाजन कर सकता है, उस आसानी के साथ यह विभाजन कवि नही कर सकता। इसी-लिए, उनका कहना था कि कविता मे विचार नही लिखे जाते, विचारो का केवल भाव-पक्ष लिखा जाता है। शैली और भाव के द्वन्द्व पर उनकी एक और सूक्ति मिलती है। "कविता का सौन्दर्य उसकी शैली मे है, किन्तु, उसका गाभीर्य भावो के गाभीर्य मे परखा जाता है।" और उन्होंने यह भी कहा था कि जब मैं महान् काव्य की बात करता हूँ, तब मेरा अभिप्राय शुद्ध काव्य से नही होता है। अर्थात् शुद्ध कविता चाहे जितनी शुद्ध हो, किन्तु केवल शुद्ध होने से वह महान् नही हो जाती। महान् काव्य कोरा शुद्ध काव्य भी हो सकता है तथा वह ऐसा काव्य भी हो सकता है, जिसमे विचार भी हो और समाज के लिए सदेश भी।

शुद्ध कविता का आन्दोलन बिना चुनौतियो के नही चला है। आन्दोलन-कारी कवि विचार और भावना का विभाजन जितनी ही बारीकी से करते गये, उतनी ही वह वस्तु, जिसे वे प्राप्त करना चाहते थे, पोली और अरूप होती गयी, उतना ही साहित्य मे 'एबर्सर्डिटी' अथवा बेहूदी असभवता का दर्शन उभरता गया। यह विभाजन कविता को बहुत ही महँगा पड़ा है। ज्यो-ज्यो समाज मे कविता का सम्मान क्षीण हुआ, त्यो त्यो कवियो के भीतर रोष जागा है, वे इस शैली को छोड-कर परम्परा की ओर मुडने को बेचैन हुए हैं और उन्होने ऐसे आन्दोलनो का सूत्र-पात किया है, जो काव्य को निराकार से हटाकर फिर साकार बनाना चाहते हैं।

कविता में भविष्यवाद का आन्दोलन इसी असतोष के कारण उत्पन्न हुआ था। यह आन्दोलन पहले तो फ्रांस में उठा और बाद को रूस में। मेरिनेत्ती नामक एक फ्रेंच कवि ने इस आन्दोलन का घोषणा पत्र लिखते हुए सन् १९०९ ई० में कहा था कि 'हम भीड के गीत गायेंगे, उत्तेजित मजदूरों के गीत गायेंगे, आनन्द के गीत गायेंगे, बगावत के गीत गायेंगे, हम बारूद के उन कारखानो के गीत गायेंगे जो रात भर हाहाकार करते रहते हैं हम उन कारखानो के गीत गायेंगे जो बिजली की चादनी मे रात भर काम करते है।' इसी से मिलता-जुलता आन्दोलन वह था, जो इसी नाम से सन् १९१२ ई० मे रूस म उठा था।

विचारों का कविता म नैसर्गिक स्थान है किन्तु, कवि और दार्शनिक उनके प्रयोग भिन्न उद्देश्यों के लिए करते हैं। दार्शनिक की दिलचस्पी विचारो की सत्यता मे होती है, कवि की केवल अभिव्यक्ति में। दार्शनिक हमे विचारो म विश्वास करने को आमन्त्रित करता है। किन्तु, कवि उनका वर्णन हमे प्रसन्न करने को करता है, विचलित और आन्दोलित करने को करता है।

इलियट मे विचार तो थे, किंतु, कवि की कल्पना म पिघलकर वे भाव बन गये थे। लेकिन उनकी शैली दुरूह थी। उनकी कविताएं पाठको से प्रगाढ ज्ञान की माग करती हैं। समाज ने १९३० ई० तक आकर इलियट की अपूर्व महत्ता स्वीकार कर ली थी। किन्तु इसी समय कवियो का एक नया दल मैदान म आया और उसने शुद्ध कविता के विरुद्ध एक आन्दोलन छेड दिया। इस दल के नेता ओडन थे। इन लोगो का कहना था कि कविता समाज के उपयोग के लिए होती है और हमारे पास इतना समय नही है कि हम दुरूहता म मज लें अथवा ससार से विमुख होकर अपने अन्दर डूब जायें या फैशन के लिए नित्य नये प्रयोग किया करें। किन्तु, जिन आन्दोलनो से शिक्षा लेकर इलियट बडे थे, उन आन्दोलनो से कुछ शिक्षाएँ ओडन और उनके साथियो ने भी ली और वे परम्परा से जुडी हुई कविताएँ नयी तकनीक मे लिखने लगे। सन् १९४० के आसपास अग्रेज कवियो का प्रयोगवादी आन्दोलन समाप्त हो गया और नवीनता का जामा पहनकर पारपरीण शैली साहित्य मे वापस आ गयी। छूंछा हवाई खेल लोगो को सचमुच रिक्त दिखायी देने लगा और भावो के बहाने विचार फिर से लिखे जाने लगे।

ओडन की विशेषता यह है कि वे भावनात्मक कम बुद्धिवादी अधिक हैं, अत एव, उनकी धारा से असतुष्ट कवि फिर भावना की ओर मुडने लगे। यह द्वितीय महायुद्ध का समय था और ससार से त्रस्त आत्मा कुछ ऊँची, धुँधली उडान चाहने लगी थी। लगता है डायलन टामस का जन्म पाठकों की इसी तृषा को शान्त करने को हुआ था। डायलन टामस सुररियलिस्ट समझे जाते है किंतु, उनकी कविताओ म अर्थ का अभाव नहीं है। परन्तु, उनकी लोकप्रियता से अभिभूत होकर जिन कवियो ने उन्हे घेर लिया, उनमे से अधिकाश नकली लोग थे। इन्हे केवल इतना

ही ज्ञान था कि जो भी आदमी देखने मे नया लगता है, वह नवीन है। उन्होंने अनुकरण के बल पर नयी कविताएं जरूर लिखी, किन्तु, उन्होंने काव्य से अर्थ को विदा कर दिया।

जापानी और चीनी भाषाओ की प्रवृत्तियाँ

यूरोप के चित्रकार जब परपरा की परिपाटी से निकलकर चित्र की नयी शैली की खोज कर रहे थे, उस समय चीन और जापान के चित्रो से उन्हे बडी प्रेरणा मिली थी। प्रभाववाद ने अन्तत जिस शैली को जन्म दिया, उस शैली का बहुत कुछ आभास चीन और जापान के चित्रो मे परपरा से चला आ रहा था। चीन और जापान के चित्रकारो के प्रधान विषय प्रकृति के विभिन्न रूप थे और वे दृश्य के सार-रूप का ही अकण करते थे। कम से कम रेखाओ के जरिये अधिक से अधिक दृश्य की व्यजना उनकी विशेषता थी और, कृषि-प्रधान सभ्यता के कलाकार होने के कारण, वे सीधे-सादे ग्रामीण जीवन के चित्र भी बिना किसी भेद-भाव के अंकित करते थे।

यही हाल चीन और जापान के कवियो का भी था। यह ध्यान देने की बात है कि अगरेजी मे जब कविता के भीतर चित्रवादी आन्दोलन का आरभ हुआ, उस समय एजरा पौण्ड ने अनेक चीनी कविताओ के अनुवाद अगरेजी मे तैयार किये थे। एजरा पौण्ड नये आन्दोलन के नेता के रूप में प्रकट हुए थे और उनका जीवन भर चीनी कविताओ के अनुवाद मे लगा रहना यह सूचित करता है कि चीनी कविताओ मे उन्हे कुछ चीज दिखायी पडी थी, जिसे वे अगरेजी के नये काव्य में पचाना चाहते थे।

चीनी कविताओ का वह गुण क्या था? चीन मे दो दार्शनिको के मतवाद परस्पर एक दूसरे को दबाने के प्रयास मे थे। कनफ्यूसियस प्रवृत्तिमार्गी थे। वे ज्ञान का उपयोग समाज के लिए करना चाहते थे। किन्तु, लाओत्से का सिद्धान्त निवृत्ति-मार्ग का सिद्धान्त था। वे सारे ज्ञान को फालतू समझते थे और उपदेश देने के बदले आदमी के भीतर वे कोई रहस्यवादी अनुभूति जगाना ज्यादा पसन्द करते थे। 'ताओ-ते-किङ' लाओत्से की छोटी-सी विख्यात पुस्तक है, जो श्रीमद्भगवद्-गीता के समान सारपूर्ण और गूढ है। यद्यपि उपदेश ताओ ते-किङ (जीवन-मार्ग) मे भी हैं, किन्तु, वे उपदेश उपदेशवादिता के विरुद्ध पडते हैं। ताओ वह मार्ग है जो ज्ञान से सीखा नही जा सकता। ताओ वह तत्त्व है, जिसकी शब्दो मे व्याख्या नही की जा सकती। "भला आदमी तर्क नहीं करता और जो बहस करता है, वह भला आदमी नहीं होगा।" "ससार का ज्ञान तुम पर छोडे बिना भी प्राप्त कर सकते हो और ताओ को देखने के लिए खिडकी पर जाना जरूरी नहीं है। तुम जितनी ही दूर जाओगे, तुम्हारा ज्ञान उतना ही कम होगा।" "दुनिया को छोड देने से

दुनिया जीती जाती है। जो आदमी दुनिया को जीतने के लिए बार-बार कोशिश करता है, दुनिया उसके हाथ से निकल जाती है।" "जब कानूनों की संख्या बढ़ती है, समाज मे अपराधी अधिक हो जाते है।" "जब मैं लोगो को सुधारने की चिंता छोड देता हूँ, लोग आप से आप सुधरने लगते हैं। जब मैं शान्त हो जाता हूँ, प्रजा भी शान्त होने लगती है।"

लाओत्से का दर्शन आयासहीनता का दर्शन है। मनोविज्ञान यह शिक्षा अब देने लगा है कि जानबूझ कर न तो सिकुड़ने की कोशिश करनी चाहिए, न फैलने की। जो धारा तुम्हारी ओर आ रही है, उसे रोकने की कोशिश मे अपनी शक्ति का अपव्यय मत करो। इसी प्रकार, जो वस्तु तुम से दूर है, उसे पाने की कोशिश में इन्द्रियो को सताना, उन पर जोर देना बुरा काम है। लाओत्से ने भी इसी प्रकार सहज धर्म की, आयासहीन धर्म की बात कही थी। "काम ऐसे करो कि मालूम हो, तुम कोई काम नहीं कर रहे हो। अकर्म ही सबसे बडा कर्म है।"

सभ्यता का बोझ नये मनुष्य को भीतर ही भीतर तोड रहा है। जिसने शास्त्र नही सीखा है, वह क्या जानता है कि पाप किस चिडिया का नाम है ? सुर्रियलिज्म का सभ्यता-विरोधी अभियान, कहीं न कहीं, किसी सत्य पर आधारित है। लाओत्से द्वारा प्रतिपादित आयासहीनता और अविरोध का प्रभाव चीनी साहित्य पर स्पष्ट दिखायी देता है। इसीलिए चीनी काव्य की भंगिमा नयी कविता की भंगिमा से मिलती-जुलती है।

वैसे तो, सारे इतिहास मे कनफ्युसियस ने लाओत्से को दबाये रखा, किन्तु, चीनी कवियों और लेखकों की चिंताधारा अधिकतर लाओत्से से ही प्रभावित रही थी। चीनी कविताओ मे जो एक प्रकार के फक्कड़पन के भाव हैं, जो लापरवाही और मस्ती है, उसका कारण लाओत्से का प्रभाव है। चीनी कविताएँ संसार के सभी देशा की कविताओं से इस बात को लेकर भिन्न हैं कि इन कविताओ मे वैयक्तिक भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति है जिनके दर्पण मे हम उस कवि के स्वभाव और जीवन की भी थोडी झाँकी पा लेते हैं जिसका जीवनचरित अनुपलब्ध है। समाज-सेवा का काम चीनी कविताओं ने भी किया था किन्तु, उनके भीतर एक ऐसी सहजता और ऐसा अछूतापन है कि यत्किंचित् सोद्देश्य होती हुई भी वे शुद्ध कविता के बहुत ही समीप पहुँच जाती हैं। यही कारण है कि यूरोप मे ज्यों-ज्यों शुद्ध कविता का आन्दोलन जोर पकडता गया, त्यों-त्यो यूरोपीय भाषाओं मे चीनी कविताओं के अनुवाद की माँग बढती गयी।

वेणुवन की छाँह मे बैठा अकेला
मैं कभी बंसी, कभी सीटी बजाता हूँ।
खूब खुश हूँ, आदमी कोई नही आता।
चाँद केवल रात मे आ झाँकता है।

सूर्य, पर, दिन मे चला जाता बिना देखे।
कौन दे उसको खबर इस कुज मे कोई छिपा है ?

इस कविता मे जो फक्कडपन, लापरवाही और मस्ती है, वह अधिकाश चीनी कविताओ की विशेषता है और इस कारण पिछले पचास वर्षो मे चीनी कविताओं के अनुवाद यूरोप मे खूब पढे गये हैं। चीनी कविताएँ सामाजिक व्यग्य के लिए भी लिखी गयी थी, मगर, टोन उनका तब भी अहिंसक और लापरवाह था। बाकी कविताएँ तो ऐसी ही हैं जिनमे मनुष्य के सुधारने का ध्येय बिलकुल गौण है। ये कविताएँ कवियो ने अपनी मौज के लिए लिखी थी। वैसे, चीन म कविताएँ दोस्तो को तोहफो के रूप मे भेजने को भी लिखी जाती थी और पर्व-त्योहार पर आनन्द मनाने के लिए भी। इसी प्रकार, अतिथियो के स्वागत और विदाई मे भी चीन मे कविताएँ लिखने का रिवाज है। सब मिलाकर देखें तो दिखायी यही देता है कि चीनी कविताओ का उद्देश्य समाज-सुधार नही, मनोरजन और मन-बहलाव है। जो बातें शास्त्रो मे कही जाने के योग्य हैं, वे चीन मे कविताओं मे नही कही जाती थी। कविता के द्वारा व्यक्ति अपनी वैयक्तिक भावना की अभिव्यक्ति करता था, अपने स्वभाव का परिचय देता था, जो वस्तु आनन्द और मनबहलाव की है, उसकी ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करता था।

जब चीन का यूरोप से सपर्क हुआ, यूरोप ने चीनी कविता से शुद्धता की प्रेरणा ली, सक्षिप्तता और प्रभाववाद का सबक लिया। किन्तु, बदले मे, चीन को प्रगतिशीलता के भाव मिले, कविताओ द्वारा प्रचार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। यह अच्छा हुआ या बुरा, इसका पता शायद एक दो सौ वर्षो के बाद चलेगा। अभी तो एशिया हीन भावना से ग्रस्त है। चूँकि यूरोप शारीरिक विजय मे एशिया से बहुत आगे है, इसलिए, हम यूरोप के शरीर ही नही, उसके मन का भी अनुकरण करना चाहते हैं। स्थिति ऐसी है कि यूरोप का हर अतीत एशिया का वर्तमान बन रहा है और जिन चीजो को यूरोप छोड चुका है, उन्हें भी हम तभी छोड़ेंगे, जब उनकी आजमाइश एक बार एशिया में भी हो जाय।

चीन और जापान की सस्कृति, प्राय, मिलती-जुलती है। किन्तु, कनफ्युसियस का प्रभाव जापानी कविता पर बिलकुल नही पडा। चीन मे वैचारिक सघर्ष कनफ्युसियस, लाओत्से और बुद्ध के बीच था। लेकिन, चीन के राजे कनफ्युसियस के इतने बडे भक्त थे कि जो विद्वान् मन से लाओत्से और बुद्ध का प्रेमी होता, वह भी, नौकरी के लोभ मे, यही कहता था कि वह कनफ्युसियस का अनुगामी है। किन्तु, जापान मे ऐसा कोई वैचारिक सघर्ष नही था। अतएव, जापानी भाषा मे कविता की प्रवृत्ति समाज-सेवा की ओर ज्यादा नही गयी। जैसे जापानी चित्र आँखो के सुख के लिए होते थे, मन की प्रसन्नता के लिए होते थे, उसी प्रकार जापानी

कविता का भी ध्येय मनोरंजन था, किसी ऐसे सौन्दर्य का उद्‌घाटन करके पाठकों को चकित करना था, जो सौन्दर्य उन्हें पहले दिखायी नहीं देता था।

जापानी काव्य में हाइकू और टका नामक दो संक्षिप्त छन्द इतने लोकप्रिय हुए कि जापान के सभी बड़े नगरों में हाइकू और टका क्लब स्थापित हो गये और, हज़ारों की संख्या में, कविगण इन छन्दों के ज़रिये लोगों का मनोरंजन करने लगे। टका पाँच पंक्तियों का छन्द होता है, किन्तु, हाइकू में केवल तीन पंक्तियाँ होती हैं। टका बहुत प्राचीन छन्द है, किन्तु, कवियों ने हाइकू का आविष्कार सत्रहवीं सदी में किया था।

कला को प्रचार का माध्यम बनाने की प्रवृत्ति जापान में कभी चली ही नहीं। चूँकि सामाजिक समस्याएँ जापान में कला की समस्याएँ न बन सकीं, इसलिए, जापानी चित्र के समान जापानी कविता भी प्रकृति को ही अपना मुख्य विषय मानती रही। जापनी कवि वर्णन की तफ़सील में जाने से परहेज करता था। इशारों और संकेतों से जितना अर्थ देना संभव है, उतने ही अर्थ पर कवियों को संतोष हो जाता था। जो बातें कथ्य के निचोड़ में नहीं समा सकती, वे बातें जापानी कवि के लिए त्याज्य थीं। इंग्लैण्ड के दो कवि, रोसेटी और मारिस, एक साथ कवि और चित्रकार भी थे। किन्तु, ऐसे कवि जापान में असंख्य हुए हैं, जो एक साथ कवि भी थे और चित्रकार भी। और यही हाल चित्रकारों का भी था। अनेक कवि शब्दों के ज़रिये कविताएँ रचकर, फिर, रेखाओं के ज़रिये उन्हीं भावों के चित्र भी बना देते थे। और चित्रकार भी चित्र रचकर उसके पार्श्व में एकाध छन्द रच देते थे। इंग्लैंड का चित्रवादी आन्दोलन जापानी काव्य की इस चित्रप्रियता से प्रभावित हुआ और जापानी कविता का ऐसा ही प्रभाव जर्मनी के अभिव्यंजनावाद पर भी पड़ा। उक्ति-लाघव, अर्थगर्भता तथा ध्वनि और शब्द-प्रयोग में मितव्ययिता, ये जापानी कविता के मुख्य गुण थे और यूरोप के कवि जब नयी कविता के लिए समुचित शैली का संधान कर रहे थे, उस समय जापानी काव्य के इन लक्षणों ने, परोक्ष रूप से, उनकी सहायता की।

जापानी कविताएँ, सचमुच, विलक्षण होती हैं और, गरचे, एब्सोल्यूट पर आक्रमण उनका ध्येय नहीं है, फिर भी उनकी ध्वनि उस गहराई का स्पर्श अवश्य करती है, जो किसी न किसी हद तक अनिर्वचनीय है।

उड़ गयी वह कोयल क्या
जिसकी पुकार ने
भरी रात में मुझे नींद से जगा दिया?
तब भी, लगता है, उसका गीत
मेरे तकिये के पास पड़ा है।

× × ×

मैं केवल वाह ! कह सकता हूँ
चेरी के उन फूलों के लिए
जो योशिनो पर्वत पर खिलते हैं।

× × ×

चुप तो हूँ, मगर सोच रहा हूँ।
मैं बातें भले न करूँ,
मगर मुझे तुम दीवार मत समझ लेना।

जापान में हाइकू और टंका का प्रयोग अब भी उतना ही प्रचलित है, जितना पहले था। लेकिन, अब जापान में भी यूरोपीय कविताओं के ढंग की कविताएँ लिखी जाने लगी हैं। वे लंबी होती हैं और यदा-कदा प्रगतिशील भी। किन्तु, ये कविताएँ जापान के शिष्ट पाठकों को संतोष नहीं देतीं। उनकी शिकायत यह है कि ये कविताएँ बहुत ज्यादा खुलकर बोलती हैं और जहाँ एक हलका-सा इशारा काफी होता, वहाँ भी कवि कई-कई पंक्तियाँ लिख डालते हैं।

चित्रकला का कविता पर प्रभाव

बोदलेयर का यह कहना सत्य है कि एकता का तार सभी कलाओ के भीतर अनुस्यूत होता है। विशेषत यह एकता काव्य और चित्रकला के बीच कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। उससे भी बडी बात यह है कि कला-चेतना के भीतर जब भी कोई नयी दिशा प्रकट होती है, तब वह चित्र मे पहले, कविता मे बाद को दिखायी देती है। मध्यकालीन भारत मे अजता और मोगल कलमो के मिलन से प्रेरित होकर जब कला ने नयी उडान भरी, तब उसके प्रमाण चित्रकला मे पहले दिखायी पडे, रीति की कविताओ मे कुछ बाद को। यह बात दूसरी है कि पीछे चलकर कविता चित्रकला के आगे-आगे चलने लगी और कुछ दिनो तक चित्र कविताओं को देखकर बनाये जाते रहे। इसी घटना की आवृत्ति द्विवेदी-युग मे हुई, जब रवि वर्मा के चित्र और द्विवेदीयुगीन काव्य एक-दूसरे के प्रतिबिम्ब बन गये। यहाँ भी चित्र पहले आये थे और उनके अनुरूप कविताएँ बाद को लिखी गयी थीं। नन्दलाल बोस के चित्र और रवीन्द्रनाथ की कविता के बीच भी साम्य है और यदि भारत की सामूहिक कला-चेतना की पृष्ठभूमि पर नन्दलाल बाबू के चित्रो को देखा जाय तो कहना यही पडेगा कि इतेतर भारत मे रोमाटिक शैली की कविता बाद को लिखी जाने लगी, पहले उसका आभास भारतीय कलाकारो के चित्रो मे दिखायी पडा था।

और सबसे विलक्षण बात तो यह है कि रोमाटिक चेतना के विरुद्ध भारतीय काव्य मे, नयी कविता के नाम से, जो नया कलात्मक आन्दोलन उठनेवाला था, उसका भी आदि विस्फोट रवीन्द्रनाथ के चित्रो के भीतर से हुआ था। रवीन्द्रनाथ रोमाटिक कवि थे और रोमासवादी शैली मे उन्होने जमकर पचास साठ वर्ष तक लिखा था। एक ही शैली में आधी शताब्दी तक लिखकर भी वे उस शैली से ऊबे नही, यह उनकी जीवनी शक्ति का अद्भुत प्रमाण है। किन्तु, ऊब एक हद तक उन्हे महसूस हुई थी। लेकिन, इस ऊब को उन्होने अपनी कविताओ मे आने नही दिया। उसे राह देने को उन्होने कूँची का सहारा ले लिया। रवीन्द्रनाथ की कविता और उनके चित्र दो विरोधी दिशाओ से आये थे। कविता वे सदेह वहन के लिए लिखते थे, सौन्दर्य और परमात्मा के प्रति आत्मनिवेदन के लिए लिखते थे, किन्तु, चित्रो मे केवल उनकी मनोदशा की अभिव्यक्ति मिलती है, उनके भीतर

अर्थ और संदेश नहीं हैं।

रवीन्द्रनाथ अत्यंत जागरूक कवि थे। संसार के कोने-कोने में कला जो नयी करवटें ले रही थी, उनका उन्हें पूर्ण ज्ञान था। इतना ही नहीं, कला की नयी ऐंठन और बेचैनी का रवीन्द्रनाथ के अन्तर्मन पर प्रभाव भी पड़ा था। वही प्रभाव उनके चित्रों में प्रकट हुआ। रवीन्द्रनाथ कलम से रोमांटिक और कूँची से सुर्रियलिस्ट थे। उनकी लेखनी का ध्यान इसलिए भंग नहीं हुआ कि उनके भीतर के कोलाहल को उनकी कूँची बाहर निकाल देती थी। चित्रकारी के शौक ने रवीन्द्रनाथ की सुर्रियलिस्टिक अनुभूतियों को चित्रों में अंकित करके उन्हें उस सुकोमल शैली पर जमाये रखा, जो दीर्घ साधना के कारण उनके प्राणों को उतनी प्यारी हो गयी थी।

चित्रों में भी कवित्व होता है और कविताओं में भी चित्र होते हैं। गरचे चित्रों के भीतर छिपे कवित्व तक पहुँचना केवल विशेषज्ञों का काम है, किन्तु, कविता में उगनेवाले चित्रों का आनन्द साधारण पाठक भी उठा सकते हैं। हाँ, *कविता में अब जो गन्ध और स्पर्श के चित्र आने लगे हैं, उनका आनन्द उठाने के* लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

चित्र और कवित्व के संयोग के जो दृष्टान्त भारत में दिखायी पड़े, वैसे दृष्टान्त अंगरेजी और फ्रेंच भाषाओं में भी दिखायी पड़े थे। महारानी विक्टोरिया के युग में अंगरेजों में एक खास तरह की कविताएँ लिखी गयी थीं, जिनका विशेषण प्रि-रफ़ैलाइट (अर्थात् रफ़ैल से पूर्व की शैली) बताया जाता है। रफ़ैल इटली का मध्यकालीन चित्रकार था। उसकी शैली रूढ़िग्रस्त समझी गयी थी। अतएव, कवियों ने अपने लिए चित्रों की उस शैली को आदर्श माना, जो रफ़ैल से पूर्व प्रचलित थी। चित्र-कला काव्य-कला को केवल प्रभावित ही नहीं करती, वह काव्य-कला में रूपान्तरित भी हो जाती है। कला-चेतना का मूल-रूप तो नहीं *बदलता, केवल उसके आस्वादन का माध्यम बदल जाता है। चित्र में जिस सौंदर्य* का आस्वादन हम आँखों से करते हैं, कविता में उसी सौन्दर्य का रस हमें मन और कल्पना के द्वारा मिलता है। उस समय अंगरेजी में रोसेटी और विलियम मारिस नामक दो कवि हुए, जो कवि होने के साथ-साथ चित्रकार भी थे। इस युग के प्रयोग का परिणाम यह निकला कि कविता में शारीरिकता उभरने लगी, रंगों की चमक बढ़ने लगी और मन की बजाय आँखों के लिए आहार प्रचुर मात्रा में तैयार होने लगा। प्रि-रफ़ैलाइट कवि, अज्ञात रूप से, आगामी चित्रवाद अथवा इमेजिज्म की पूर्व-पीठिका तैयार कर रहे थे।

प्रभाववाद

फ्रेंच भाषा में, कविता के भीतर, इम्प्रेसनिज्म अथवा प्रभाववाद नामक जो आन्दोलन उठा, वह भी कविता से पहले चित्र-कला का ही आन्दोलन

था। यह आन्दोलन फ्रांस के तत्कालीन उस्तादों की सुकोमल, शान्त और आत्म-प्रशंसा के भाव से पीड़ित, सुकुमार शैली के खिलाफ उठा था। बात यह हुई कि मोनेत नामक एक चित्रकार ने सन् १८७४ ई० में तूफान में सूर्यास्त का एक चित्र बनाया और उसका नाम इम्प्रेसन रखा। इससे कला-प्रेमियों की रुचि को एक धक्का-सा लगा और उस चित्र का मजाक उड़ाने को वे कहने लगे कि लो, अब चित्र भी इम्प्रेसन होगा, वह घटना का वर्णन नहीं करेगा, अर्थ या विचार नहीं देगा, उसमें न इतिहास होगा, न भूगोल, केवल टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ होंगी। यहीं से इस कला का नाम इम्प्रेसनिज्म पड़ने लगा। जनता झूठ नहीं कह रही थी। जब से प्रभाववाद का आगमन हुआ, चित्र निरर्थक नहीं, तो अर्थहीन अवश्य हो गये हैं।

इम्प्रेसनिस्ट अथवा प्रभाववादी चित्रकार अपने को वस्तुवादी कहते थे, किन्तु, वस्तुवाद से उनका आशय प्रचलित आशय से भिन्न था। वृक्ष की असली वास्तविकता उस वृक्ष के तने, डालियों और पत्तों में होती है। किन्तु, हम जिसे देखते हैं, वह दस, बीस या सौ-दो-सौ गज अलग से देखी जानेवाली वास्तविकता होती है। समीप से देखने पर पत्ते एक-दूसरे से अलग दिखायी देते हैं, किन्तु, दूर से देखने पर वृक्ष हरियाली के पुंज-सा दिखायी देता है। प्रभाववादी चित्रकारों की दृष्टि में वृक्ष की वास्तविकता वह नहीं है, जो वृक्ष के पास से दिखायी देती है। वह वह है, जो दूर से दृष्टिगत होती है। वास्तविकता वृक्ष नहीं, वन है। अगर चित्रकार वृक्ष का ब्यौरेवार चित्र बनाने लगेगा, तो वन उसके हाथ से निकल जायगा। ब्यौरे की चित्रकारी फोटो से मिलती-जुलती है और फोटो चित्र नहीं होता, वह मात्र फोटो होता है। इसीलिए, प्रभाववादियों की दृष्टि में असली चित्र वह है, जो ब्यौरे को छोड़कर साररूप प्रभावों का अंकण करता है। जब कला में नख-शिख-वर्णन की परिपाटी प्रचलित थी, चित्र में नारी-रूप के एक-एक ब्यौरे के अंकण का महत्त्व था। किन्तु, प्रभाववादी चित्रकार, ब्यौरे में न जाकर, केवल कुछ रेखाओं के जरिये नारी के उस नारीत्व का अंकण करता है, जो उसकी विशेषता है, उसकी असली वास्तविकता है।

प्रभाववादी चित्रकार अधिक रेखाएँ नहीं खींचते। वे कम से कम रेखाएँ खींचकर दृश्य का सम्पूर्ण प्रभाव दिखलाना चाहते हैं। वे मैदान की विस्तृत हरियाली दिखाते समय घास की पत्तियों का अंकण तफसील में नहीं करते। वे भीड़ दिखाते हैं, आदमी नहीं। और आदमी का चित्रण करते समय भी वे मर्दानगी का अंकण करते हैं, नारीत्व के भाव को दिखलाते हैं। वस्तु का अंकण प्रभाववाद का ध्येय नहीं है। वह वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाले प्रभाव का चित्रण करता है।

कोई-कोई विद्वान् प्रभाववादी प्रवृत्ति का मूल बैरोक-सम्प्रदाय की चित्रकारी में खोजते हैं, जब रिनासाँ-कला के खिलाफ प्रतिक्रिया आरम्भ हुई थी और ढाँचे (आउट लाइन) के खिलाफ युद्ध छिड़ गया था। उस समय सारा जोर वाता-

चरण के निर्माण पर दिया जाता था और कूँची की भाषा अस्पष्ट होने लगी थी। इन सबका परिणाम यह हुआ था कि चित्रो मे रहस्यमय सकेत भरने लगे थ तथा उनके भीतर मोहकता और स्वाभाविकता भी कुछ अधिक दिखायी देने लगी थी।

यूरोप के कलाकार १८वी सदी के अन्त से ही कला मे नवीनता की जिज्ञासा करने लगे थे। तब तक प्रचलित कला के सभी विचारो और शैलियो की सभावनाएँ शायद खत्म हो चुकी थी और कलाकार का व्यक्तित्व किसी हद तक वैयक्तिक अभिव्यक्ति की ओर लोभ से देखने लगा था। पारपरीण कला का दोष यह था कि वह सभ्यता का अलकरण बनकर जीना चाहती थी, केवल भावनाएँ जगाकर अपना अस्तित्व कायम रखने के पक्ष मे थी। वह किसान और मजदूर के चित्र बनाने से परहेज करती थी, क्योकि किसान और मजदूर समाज के सबसे रूपवान् व्यक्ति नहीं थे। इस प्रवृत्ति से ऊबकर कलाकार प्रकृतवाद और यथार्थवाद की ओर भी गये, किन्तु, सन्तोष उन्हे कही भी नही मिला। उस समय यूरोप पर वैज्ञानिक पद्धति और विचार का गहरा प्रभाव था, जैसा वह आज भी है। अतएव, विज्ञान के प्रभाव मे आकर कलाकार भावना और वैचारिकता के विरुद्ध हो गये। वे किसी ऐसी शैली की खोज मे थे, जिसमे वही चीज चित्रित की जा सके, जो आँखो को दिखायी पडती है। उपदेश, शिक्षा, आलोचना या टिप्पणी के वे विरुद्ध थे। प्रभाववाद ऐसी ही शैली का नाम है। वह दिखनेवाली चीज के सार का अकण करता है और अपनी ओर से न तो कोई निष्कर्ष निकालता है, न शिक्षा या उपदेश अथवा किसी प्रकार की टिप्पणी देता है। साथ ही, वह ससार के प्रत्येक पदार्थ को चित्रकारी का विषय मानता है।

कहते हैं, सन् १८६७ ई० मे पेरिस मे जापानी कला की एक प्रदर्शनी हुई थी। उस प्रदर्शनी मे फ्रास के चित्रकारो पर जापानी चित्रो का काफी प्रभाव पडा। जापानी चित्र-कला से उन्हे यह सकेत मिला कि कला का सार वस्तुओ के ब्यौरो का ग्रहण करने मे नही, उन्हें छाँटने या छोडने मे है। कला खड का चित्रण जान-बूझ कर करती है और इसलिए करती है कि अश के द्वारा वह पूर्ण का ज्ञान सकेत के द्वारा कराना चाहती है। चित्रण सम्पूर्ण वास्तविकता का नहीं, उसके सार-भूत केन्द्र-बिन्दु का होना चाहिए, उस सुदृढ तत्त्व का होना चाहिए, जिसमे सभी गधो का कोष है, सभी रगो की झकार है। ससार का जो प्रभाव कलाकार के मन पर पडता है, उसी का अकण उसका वैयक्तिक काव्य है। अनुभूति और चित्रण मे कोई भेद नही है। जब कलाकार प्रकृति के आमने-सामने आय, उसे भूल जाना चाहिए कि कला का कोई अपना अस्तित्व है। प्रकृति हमे जैसी दीखे, उसका तद्वत् चित्रण करना ही कला का कार्य है। जापानी और चीनी चित्रो मे प्रकृति का अस्तित्व मनुष्य से स्वतन्त्र दिखायी देता है। प्रकृति वहाँ असीम

की अभिव्यक्ति होती है, ब्रह्माण्ड की प्रमुख शक्ति-सी दिखायी देती है और जीव, जन्तु तथा मनुष्य उसकी निस्सीमता के सामने छोटे दिखायी देते हैं।

चित्रकारी की प्रभाववादी पद्धति ब्योरे को छाँटकर साराश के चित्रण से प्रभाव उत्पन्न करती थी। जब यह पद्धति काव्य में स्वीकृत हुई, कवि भी वर्ण्य विषय में से ब्योरे को छाँटने लगे और कथ्य के साराश के वर्णन से उसकी सम्पूर्णता का प्रभाव उत्पन्न करने लगे। दूर से देखने पर हरे वृक्ष भी नीले या श्याम वर्ण के दिखायी देते हैं। दूर से देखने पर रग चटकदार नहीं दीखते, वे मटियाले या भूरे दिखायी देते हैं। इसका प्रभाव कविता पर यह पड़ा कि काव्य में से भी रगो की तीक्ष्णता गायब होने लगी और उसका रूप भूरा या मटियाला होने लगा।

ब्योरे का वर्णन मध्ययुगीन कला की विशेषता थी, जब समाज में सामतशाही का जोर था और राजसी पोशाको की चमक दमक देखने को ज्यादा मिलती थी। प्रभाववादी आन्दोलन के आरम्भ होते ही कला उस दुनिया से निकलकर यन्त्र-युग में प्रवेश करने लगी, अभिजातीयता के शिखर को छोड़कर जनसाधारण के जीवन की ओर बढ़ने लगी। प्रभाववादी कला का उपयोग गुजरे हुए जमाने के चाकचिक्य के चित्रण के लिए भी किया जा सकता था, किन्तु, व्यवहार में इस कला ने यन्त्रयुग के साथ अपना नाता जोड़ लिया, नग्न वास्तविकता को अपना विषय बना लिया। यही कारण है कि हम जहाँ भी देखते हैं, प्रभाववाद और वस्तुवाद का गठबधन हमें सर्वत्र दिखायी देता है। प्रभाववाद ने कविता के ढाँचे की रेखाओ को अस्पष्ट बना दिया, उसके रगो की चटकदारी को मन्द कर दिया। प्रभाववादी कविताओ में अक्सर रग बुझे-बुझे होते हैं, आकार धुँधले और आकृतियाँ अस्पष्ट होती हैं। स्पष्ट ही, यह जीवन की उस वास्तविकता का चित्रण है, जो कुछ दूर से दिखायी देती है। और दूर से दिखायी देने पर चीजें धुँधली और अस्पष्ट ही दिखायी देंगी।

विज्ञान के प्रभाव के कारण कला आवेगो को दबाकर सयत होना चाहती थी, रेखाओ के मामले में मितव्ययी होना चाहती थी, दृश्यो का चित्रण हू-ब-हू करना चाहती थी, अतिरजन से बचना चाहती थी, वास्तविक और कठोर होना चाहती थी, ईमानदार और सत्यवादी होना चाहती थी। उसकी ये सारी अभिलाषाएँ प्रभाववाद से, कुछ दूर तक, पूरी हुईं। किन्तु, धारा अब परम्परा से टूट चुकी थी और वैयक्तिक भावनाओ की बाढ़ के कारण कलाकार नित्य नये प्रयोगो की ओर उन्मुख होना चाहते थे। उनके लिए कोई भी प्रयोग अन्तिम प्रयोग नहीं था, कोई भी वाद अन्तिम वाद नहीं था।

परम्परा के दो लक्षण हैं। पहला तो यह कि वह अनुशासन देती है, रुकावट डालकर पानी को गहरा बनाती है। और दूसरा यह कि अपनी सीमा तक पहुँचा-.र कलाकार को वह आगे की राह दिखाती है। किन्तु, यरोप के कलाकारो ने

परम्परा के अनुशासन-पक्ष का तिरस्कार कर दिया और वे नवीन प्रयोगों की ओर इस उत्साह से बढने लगे कि चित्र कला अबूझ पहेली बन गयी और जनता के भीतर यह भाव जगने लगा कि चित्र-कला अब हमारी नहीं रही। वह कलाकारों की कठ-पुतली बन गयी है। कलाकार उसे अपनी इच्छा के अनुसार नचा रहे हैं। इन्हीं नये प्रयोगों से डाडावाद, सुररियलिज्म, क्यूबिज्म, प्वायटिलिज्म आदि अनेक आन्दोलन उत्पन्न हो गये।

डाडावाद

डाडा का अर्थ 'हाबी हार्स' यानी खिलौने का घोडा होता है। इस दृष्टि से डाडावादियों के चित्र वैसे होने चाहिए, जैसे चित्र खिलौने के घोडों पर चढनेवाले बच्चे खीचते हैं। बच्चों का रेखा-अकण अटपटा होता है, उनकी बोली भी अटपटी होती है। डाडा कलाकार इसी तुतलाहट को महत्त्व देते हैं। जो कुछ अभी सभ्यता की छून से बचा हुआ है, जो कुछ भी प्राकृतिक, निश्छल और निर्विकार है, वही वास्तविकता का असली रूप है। इसलिए, अटपटी बोली और टेढी-मेढी रेखाएँ ही वास्तविकता को पकड सकती हैं।

डाडावादियों की दृष्टि में ससार विश्रृंखलताओं का समूह है। इसके जितने तत्त्व हैं, परस्पर धक्का-मुक्की मचा रहे हैं। आदमी बदलकर वृक्ष हो रहा है। वृक्ष, परिवर्तन के क्रम में, रूपान्तरित होकर मनुष्य बन रहे हैं। वास्तविकता का मौलिक रूप अव्यवस्था है, कोलाहल है, विश्रृंखलता है। और अन्त में जाकर भी वास्तविकता विश्रृंखल और अव्यवस्थित ही रह जाती है। अतएव, वस्तुवादी कलाकार अव्यवस्था और विश्रृंखलता का ही कलाकार होता है।

डाडा सम्प्रदाय की स्थापना सन् १९१६ ई० में ज़ूरिख में हुई थी। इसके संस्थापक हान्स अर्प और ट्रिस्टन जारा थे। जब सन् १९१९ ई० में जारा पेरिस आये, यह आन्दोलन उनके साथ फ्रांस पहुँच गया और वहाँ फ्रास के चितकों और कलाकारों ने इस आन्दोलन को फ्रांसीसी रूप दे दिया। फ्रास में इस आन्दोलन से प्रभावित होने वालों और उसे प्रभावित करने वाला में सबसे बडा नाम आन्द्रे ब्रेतो (१८९६-००) का माना जाता है। जिस तरह के चितन से डाडा की उत्पत्ति हुई थी, उस तरह का चितन फ्रास में डाडा के आगमन के पूर्व से ही चल रहा था। डाडा का फ्रास में आगमन सन् १९१९ ई० में हुआ, किन्तु सन् १९१७ ई० में ही अपोलिनैर (१८८०-१९१८) ने लिखा था, "प्रेरणा का असली और सबसे बडा स्रोत अब आश्चर्य है, चकित करने, कुतूहल उपजाने और रुचि को धक्का देने का भाव है। साहित्य और कला में जो आन्दोलन पहले गुजर चुके हैं, उनसे हमारा नया आन्दोलन उसी मात्रा में भिन्न होगा, जिस मात्रा में हम चकित करने और रुचि को धक्का देने के कौशल का उपयोग करेंगे।"

सुररियलिज्म के समान डाडा भी केवल कला का आन्दोलन नहीं था, वह राजनैतिक भावनाओं से भी युक्त था। अपनी जन्मभूमि यानी जर्मनी में डाडा उग्र वामपंथी विचारधारा के साथ था और फ्रांस में भी उसका झुकाव बुर्जुआ समाज के विरुद्ध ही रहा। डाडा कला दुस्साहसी प्रयोग की कला थी, उसका स्वरूप पूर्णतः वैचारिक और निराकार था तथा बुर्जुआ समाज की रुचि के वह बिलकुल विरुद्ध पड़ती थी।

डाडा की आत्मा नकारात्मक थी। उसका जोर अस्ति नहीं, नास्ति पर था। "सुन्दर क्या है? असुन्दर क्या है? बड़ा, मजबूत और कमजोर क्या है? कार्पेन्टर क्या है? रेनान क्या है? नहीं जानता हूँ। मैं कौन हूँ? नहीं जानता हूँ, नहीं जानता हूँ, नहीं जानता हूँ।"

डाडावाद के मनसूबे क्या थे, इसका कुछ पता रीवियर के इस उद्‌गार से चलता है। "आत्मा जब तक किसी वस्तु के साथ स्वीकारात्मक संबंध जोड़े, उसके पूर्व ही उस पर टूट पड़ो। उसे उस समय पकड़ो, जब उसका तारतम्य किसी से नहीं बैठा हो अथवा बैठा हो तो मात्र उस प्रकार, जैसे आदिकालीन समाज में होता था। वस्तुओं के भीतर जो तर्कसम्मत एकता है, उसकी जगह पर बेहूदी असंभवता के ऐक्य की कल्पना करनी चाहिए। असंभवताओं की एकता ही चीजों की मौलिक एकता है।"

डाडावाद से प्रेरित कविताएँ दुर्बोध ही नहीं, अपठनीय भी निकलीं। डाडा कवि कृतियों के नियोजन और रचना में विश्वास नहीं करते थे। शब्दों को वे आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नहीं मानते थे। शब्दों का वे चयन नहीं करते थे, उन्हें केवल घटित होने देते थे। साहित्य पर डाडावाद का प्रभाव तनिक भी स्थायी नहीं हुआ। हाँ, अगर यह समझा जाय कि डाडा का प्रभाव सुररियलिस्ट आन्दोलन में जीता है, तो यह बात, एक हद तक, सच मानी जा सकती है।

सुररियलिज्म

सुर (sur) का अर्थ ऊपर होता है। अतएव, सुररियलिज्म, इस पूरे शब्द का अभिप्राय उस कला से है, जो वास्तविकता से ऊपर उठ कर काम करती है। हिन्दी में सुररियलिज्म का अनुवाद अति-यथार्थवाद के नाम से किया जाता है, किन्तु, जो वास्तविकता दृश्य या चेतन के नीचे अथवा उससे बहुत दूर है, वह वास्तविकता है या कोई और तत्त्व, यह कहना कठिन है। सुररियलिज्म इस धारणा के अधीन काम करता है कि जब तक हम जाग्रत रहते हैं, वास्तविकता से हम छिन्न रहते हैं। सामाजिक आचार, विचार और परंपरा की जकड़ में रहते-रहते मनुष्य के भीतर निषेधात्मक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। उसके भीतर की वास्तविकता जो बात बोलना चाहती है, ये प्रवृत्तियाँ उसे वह बात बोलने नहीं देतीं। हमारा जो

असली रूप है, उसे प्रकट करने का साहस हम मे नही है। हम जो बातें बोलना चाहते हैं, उन्हे हम लज्जा के कारण नही बोलते हैं, भय के कारण नही बोलते हैं। वास्तविकता जिस रूप मे प्रकट होना चाहती है, निषेधात्मक प्रवृत्तियाँ उसे उस रूप मे प्रकट होने नही देती। जब हम जाग्रत होते है हम सुयश के लोभ से चालित होते हैं, निन्दा के भय से चालित होते हैं, संस्कृति और सौजन्य की भावनाओ के अधीन रहते हैं। हम अपने ऊपर रोक लगाते हैं, नियंत्रण लगाते हैं, अवरोध की पोशाक पहनकर सुसंस्कृत और सभ्य दिखायी देना चाहते है। यह मनुष्य की असली वास्तविकता नही है। अतएव, आज तक जो साहित्य लिखा गया, वह नकली है, अधूरा है अयथेष्ट है।

किन्तु, जब हम सो जाते हैं, हमारी असली वास्तविकता काम करने लगती है। निद्रा मनुष्य की असली स्वतन्त्रता की स्थिति है, जब नियंत्रण और अवरोध दूर हो जाते है और हमारा जो असली रूप है, वह काम करने लगता है। अतएव, हमारी असली वास्तविकता वह है, जिसकी ओर हमारे स्वप्न संकेत करते हैं। हम असल मे क्या हैं, इसकी जैसी व्याख्या हमारे स्वप्न करते हैं, वैसी व्याख्या तर्क और ज्ञान से संभव नही है। अतएव, स्वप्न का चित्रण ही हमारे आन्तरिक जीवन, हमारी असली वास्तविकता का सही चित्रण है।

जो लोग सामाजिक घटनाओ और राजनैतिक क्रान्तियो को साहित्यिक परिवर्तन का कारण मानते हैं, उनका ख्याल है कि डाडा और सुररियलिज्म, ये दोनो आन्दोलन उस परिस्थिति के विरुद्ध कलाकारो के क्षोभ से जनमे थे, जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न हुई थी। प्रथम विश्व-युद्ध में बहुत-से चिंतक और कलाकार युवक युद्ध के मोर्चों पर लड़ने को भेजे गये थे। वे जब युद्ध से लौटे, प्रौढ चिंतको का चिंतन उन्हें कुछ पिछडा हुआ सा दिखायी पडा, प्रौढ कलाकारो की चेतना उन्हे समय के 'गियर' से कुछ बेमेल-सी लगी। फ्रांस मे सुररियलिस्ट आन्दोलन के नेता आन्द्रे ब्रेतो गिने जाते हैं। वे और उनके अनुगामी युवक प्रचलित साहित्यिक वाग्मिता और एकरसता से बिलकुल ऊबे हुए थे। ब्रेतो ने विख्यात कवि क्लाडेल और चिंतक शिरोमणि बर्गसाँ के खिलाफ अपना असंतोष व्यक्त किया था। जो लोग सुररियलिस्ट बननेवाले थे, वे केवल काव्य और कला की ही प्रचलित शैलियों से असन्तुष्ट नही थे, युग का सारा जीवन-दर्शन ही उन्हें खोखला और निस्सार दिखायी देता था। वह सारा का सारा युग उनकी चेतना पर दुःस्वप्न के समान छाया हुआ था। रेडियो से क्षण क्षण जो शब्दो के कोलाहल का प्रवाह बहता था, उससे उन्हें दुनिया और भी सन्निपात-ग्रस्त प्रतीत होती थी और साहित्य के नाम पर मान्यता-प्राप्त लोग जो कुछ लिख रहे थे, उसे वे भाषा का व्यभिचार समझते थे।

आन्द्रे ब्रेतो ने सन् १९२४ ई० मे सुररियलिज्म का जो घोषणा-पत्र प्रकाशित

किया, उसमे उन्होंने सबसे ज्यादा जोर इस बात पर दिया कि सुररियलिज्म का सबसे बड़ा आधार स्वतन्त्रता है और कलाकार के लिए मुक्ति का पहला अर्थ कला के नियमो से मुक्ति है जिसे वह प्रतिमा-भजन की शैली मे व्यक्त करता है। ब्रेतो ने कविता म सुररियलिज्म का आदर्श रेम्बू और मलार्मे को माना तथा चित्रकला में वान गाग, मतीसे और पिकासो को।

यूरोप और अमरीका के काव्य पर सबसे बड़ा प्रभाव इम्प्रेसनिज्म और सुररियलिज्म का पड़ा है। अन्य छोटे-मोटे वादों का प्रभाव समाप्त हो गया है, किन्तु प्रभाववादी, विशेषत, सुररियलिस्टिक कविताएँ यूरोप मे आज भी लिखी जा रही हैं। बल्कि, कहना चाहिए कि यूरोपीय काव्य की सबसे बड़ी प्रवृत्ति अभी सुररियलिस्टवाद की ही प्रवृत्ति है। अतएव, उचित है कि हम यह जानने की कोशिश करें कि जो लोग सुररियलिज्म के कर्णधार हैं, कला के बारे मे उनकी मान्यताएँ कैसी हैं।

इस प्रसग में पिकासो ने जो कुछ कहा है, उसे देखकर अचभा होता है। उनका कहना है कि—

१. "कला सत्य नहीं होती। वह एक ऐसा असत्य है, जिसे देखकर हम सत्य की अनुभूति प्राप्त करते हैं। कलाकार को असत्य का चित्रण इस कौशल से करना चाहिए कि उसे देखकर दर्शक सत्य की अनुभूति तक जा सके।

२ "कला जब अनुसधान की ओर बढती है, तब वह गलती करती है। ऐसे कलाकार, असल म, उस वस्तु का चित्रण करना चाहते हैं, जो अदृश्य है और जिसका चित्र बनाना असभव कार्य है।

४ 'कला और प्रकृति एक नही हैं। कला मे हम चित्रण उसका करते हैं, जिसका अस्तित्व प्रकृति मे नही है।

४ 'कला की दृष्टि से ढाँचे के मानसिक, अतीन्द्रिय, वास्तविक अथवा शुद्ध ऐंद्रिय रूपो मे कोई भेद नही है। अस्तित्व केवल ढाँचो का होता है। और सभी ढाचे असत्य के ढाँचे हैं जिनसे वास्तविकता अथवा सत्य की अनुभूति उत्पन्न होती है।

५ 'लोग शिकायत करते हैं कि क्यूबवाद उनकी समझ मे नही आता। किन्तु, क्यूबवाद अन्य विधाओ के ही समान चित्रकला की एक विधा है। मैं अगरेजी नही जानता हूँ, तो क्या इससे मैं यह समझूँ कि उस भाषा का अस्तित्व ही नही है ?

६ "अमूर्त कला केवल चित्रकारी है। चित्रकारी को छोड़ कर और कोई भी कला अमूर्त नही होती। चित्रकार को भी आरम्भ तो किसी न किसी वस्तु से ही करना पड़ता है किन्तु बाद को उसे वास्तविकता के सभी निशानो को मिटा देना चाहिए।

७ "सौन्दर्य की शिक्षा नही दी जा सकती, न सौन्दर्य की भावना प्रशिक्षण

ने द्वारा जगायी जा सकती है। कला सौन्दर्य के नियमो से नही बनती, बल्कि, नियमो के घेरों के परे उस प्रेरणा से, जिसे दिमाग और सहज प्रवृत्ति ग्रहण करत हैं।

८ "हर आदमी कला को समझना चाहता है। किन्तु, वह पक्षी क सगीत को क्यो नही समझता ? वह रात्रि और पुष्प तथा दुनिया की अन्य वस्तुओ को, बिना समझे ही, प्यार क्यों करता है ? दुनिया मे बहुत सी ऐसी चीजें हैं, जो प्यारी हैं, मगर उनका अर्थ आदमी को नही मालूम है। बस, कला भी उन्ही वस्तुओ मे से एक है।

९. "कोई भी दर्शक मेरे चित्रो को उस प्रकार कैसे जी सकता है जैसे उन्हे मैंने जिया है ? कोई क्या जानता है कि मेरे चित्र कितनी दूर से आते हैं ? मेरे स्वप्न, मेरी प्रवृत्तियाँ, मेरी इच्छाएँ और मेरे विचार, ये कितने अनुभवो के बाद परिपक्व हुए हैं ? क्या यह सम्भव है कि जो भी व्यक्ति चाहे, उनके भीतर प्रवेश पा जाय ? इसीलिए तो मैं चाहता हूँ कि चित्रकारो को तानाशाह माना जाना चाहिए।"

विचित्र बातें! और उसके मुख से जिसका नाम घर घर मे फैला हुआ है! यह मानसिक विक्षिप्तता है, कला का कोई दूरगामी उभार है अथवा युग के मस्तिष्क का कोई रोग, इसका विवेचन शायद आगे चलकर काल करेगा, यदि सभ्यता तब तक कायम रह गयी।

कौन सुररियलिस्ट है और कौन नही, इस विषय मे, ब्रेतों की सूची बराबर ही फैलती और सुकडती रही है। समझा यह जाता है कि सूची के इस घटन-बढने का कारण सात्विक न्याय नहीं, प्रत्युत, ब्रेतों का अपना स्वभाव है, जिस पर मौसिमी दोस्ती और दुश्मनी का प्रभाव पडता रहता है। इस आन्दोलन के आरम्भ मे सुररियलिस्टो के बीच आपसी कलह ने बडा ही उग्र रूप धारण किया था। गाली-गलौज, कटुता, निन्दा और जातनिकाले के उस समय इतने उदाहरण सामने आये थे कि यह आन्दोलन अत्यन्त सकीर्ण और सम्प्रदायवादी बन गया था। वैसे, साहित्यिक आन्दोलनो के कटु पक्ष पर ध्यान न देना ही उचित मालूम होता है किन्तु, सार्त्र-जैसे चिन्तको ने यह बात स्वीकार की है कि दलबन्दी, कटुता और सकीर्णता इस आन्दोलन के स्वभावगत लक्षण हैं।

सुररियलिज्म केवल काव्यगत आन्दोलन नही है। उसके अनुगामियो का दावा है कि यह आन्दोलन नवीन जीवनदर्शन का आन्दोलन है। "सुररियलिज्म अभिव्यक्ति का कोई नया और आसान तरीका नही है, न यह कविता का अध्यात्मशास्त्र है। यह एक माध्यम है, जिसके जरिये आत्मा अपनी सपूर्ण मुक्ति प्राप्त करना चाहती है।" अन्यत्र सुररियलिज्म की ओर से किये गये प्रचार मे यह वाक्य भी मिलता है कि "हम क्रान्ति के विशेषज्ञ हैं।"

जहाँ तक सुररियलिज्म के साहित्यिक पक्ष का प्रश्न है, अपने घोषणा-पत्र मे

ब्रेता न कहा था, "साहित्य में जो कुछ आश्चयजनक और आकस्मिक है, जो कुछ भी मन को चकित करनेवाला है, उससे लोग घृणा करते है। वे उपेक्षा और मजाक के नीचे उसे दबा कर मार डालना चाहते हैं। इस बार हमारा लक्ष्य इसी घृणा और उपेक्षा पर प्रहार करना है। सक्षेप म, हम कहना चाहते हैं कि जो कुछ आश्चयजनक है, वह हमेशा सौन्दयपूर्ण होता है, जो कुछ भी आश्चर्यजनक है, वह सुन्दर है—नहीं, सौन्दय का एकमात्र निवास आश्चय म है।"

एक अन्य सुररियलिस्ट (अरागोन) ने कहा था, "सुररियलिज्म प्रेरणा का एक स्वीकृत स्वरूप है। वह केवल स्वीकृत ही नहीं है, उसका प्रयोग भी किया जाता है। यह प्रेरणा ऐसी नहीं है, जो अचानक आती हो और अव्याख्येय होकर रह जाती हो। वह एक ऐसी शक्ति है, जो उपयोग मे लायी जाती है।"

आचार्यों के अनुसार इस आन्दोलन का ध्येय मनुष्य को लौटाकर कल्पना के उद्गम पर ले जाना है। 'आदमी अगर लौटकर उस बिन्दु पर पहुँच जाय, जहाँ से कल्पना का जन्म होता है, तो उसकी सारी चिन्ताधारा नवीन हो जायगी, सारा जीवन ताजगी से भर जायगा।" 'मनुष्य अपना चिनक और विधाता आप होता है। वह अपने आपका होकर रहे, इसकी जिम्मेवारी भी उसी की है। जब कामनाएँ अराजकता की अवस्था म हो और क्षण क्षण दुर्दमनीय हो रही हो, तब भी आदमी को अपनी कामनाओ के साथ बँधा रहना चाहिए। कविता मनुष्य को इसी बात की शिक्षा देती है।'

सुररियलिस्टिक कविताओ के बारे मे समाज की सामान्य धारणा यह है कि ये कविताएँ गैरजिम्मेवारी की कविताएँ हैं, सन्निपाती और उन्मत्त चेतना के उद्गार हैं। किन्तु, सुररियलिस्ट कवि अपने को जीवन से भिन्न नहीं समझते हैं। उलटे, उनका विश्वास है कि वे जीवन के गहन अन्तराल से बोलते हैं, मन की उस कदरा मे बोलते हैं, जहाँ तक कूँची और कलम की पहुँच पहले नहीं हुई थी। और सुररियलिज्म प्रधानत मनुष्य के अवचेतन की खोज है, वह कविता से अधिक जीवन के लिए चिंतित है। "सुररियलिज्म कविता की शैली नहीं है। यह कराहती और करवटें लेती हुई उस आत्मा की पुकार है जिसने निराशा से आजिज आकर अपनी सभी बेडियो के काट डालने का निश्चय किया है।'

सुररियलिज्म अपने को आत्मा के उद्धार का दर्शन मानता है। चित्र और कविताएँ आनुषगिक वस्तुएँ है। हाँ, चित्रो और कविताओ की रचना के समय आत्मा जिस पीडा का अनुभव करती है, जो ऐंठन महसूस करती है, वह भी आत्मा के ही उद्धार की प्रक्रिया है।

इस विचारधारा का ध्येय जीवन अवश्य रहा होगा, क्योकि जीवन को बदलने के प्रयास मे बहुत से सुररियलिस्ट कवि साम्यवादी हो गये थे। एक समय ब्रेतो खुद साम्यवादी थे। साम्यवाद से उनका सम्बन्ध विच्छेद सन् १९३५ ई० मे हुआ।

किन्तु, कला मे सुररियलिज्म मनोविज्ञान के मार्ग से चलता है और उस पर फ्रायड के अनुसधानो का पूरा प्रभाव है। ब्रेतो ने अपने १६२४ वाले घोषणा-पत्र मे साइकिक (स्वत) लेखन पर इसलिए जोर दिया था कि इस क्रिया से विचारो की असली प्रक्रिया को अभिव्यक्ति मिल सकती है। विचार शुद्ध तभी आते हैं, जब लेखक पर बुद्धि का नियत्रण न रहे और लेखक अपनी नैतिक तथा कलात्मक धारणाओ को अपने को प्रभावित करने का अवसर प्रदान नही करे।

स्वत लेखन का प्रयोग कई कवि करते थे। कहते है, इसका कुछ थोडा मजा येट्स ने भी चखा था। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो निद्रा मे जाकर बोलने का अभ्यास करते थे। रावर्ट डेसनो नामक एक फ्रासीसी कवि इस कला मे बडे ही माहिर थे। कहा जाता है, नीद मे वे सुररियलिस्टिक कविताएँ बका करते थे।

उन्नीसवी सदी मे बोदलेयर, रेम्बू और मलार्मे ने कविता को मनुष्य का धर्म बनाना चाहा था। सुररियलिज्म उसी प्रवृत्ति का विकास बनकर आया। किन्तु, उन्नीसवी सदी के कवियो से सुररियलिस्ट इस बात मे भिन्न रहे कि पहले के कवि भाषा की जादूगरी मे विश्वास करते थे, किन्तु, सुररियलिस्टो का अधिक जोर कल्पना की शक्ति पर पडा। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि इस वाद ने कृति के निर्माण पर बल न देकर बल उस मानसिक प्रक्रिया पर दिया, जिससे कृतियो की प्रेरणा आती है। उन्नीसवी सदी की प्रवृत्ति कविता को लोकोत्तर धरातल पर ले जाने की थी। सुररियलिस्टो को लोकोत्तर लोक का पता मन की अपार गहराई मे चला, उपचेतन मे चला। किन्तु, उपचेतन की आवाज सुनने मे वे इतने ध्यानस्थ हुए कि कविता के स्वरूप की महिमा उनके सामने, आपसे आप, गौण हो गयी।

सुररियलिस्ट साधना और मनोविज्ञान

सुररियलिज्म कविता की शैली है अथवा मनोवैज्ञानिक अनुसधानो का कोई मार्ग, यह बात स्पष्ट रूप से बतायी नही जा सकती। दिखायी यही पडता है कि वह काव्यात्मक कम, मनोवैज्ञानिक अधिक है। स्वत लेखन का उद्देश्य यह था कि चेतन के नीचे जो अचेतन मानस है, वह भाषा मे अपनी अभिव्यक्ति पा सके। चेतन मन वह है, जिसे हमने शिक्षित किया है, जो हमारे सस्कारो, वर्जनो और निषेधो की जजीरो से आबद्ध है। इसीलिए हमारा जो रूप चेतन मे स्थित है, वह हमारा ठीक ठीक सहज रूप नही है। हमारे सहज रूप की अभिव्यक्ति अचेतन ही दे सकता है, अगर उसे उसकी भाषा प्राप्त हो जाय। सुररियलिज्म इसी भाषा के सधान की साधना है।

शुद्ध मनोविज्ञान वह शायद इसलिए नही है कि उसका ध्येय अवचेतन का उपयोग रचनात्मक निर्माण के लिए करना है, मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के निरुपण की चिन्ता सुररियलिस्टिक कवियो मे दिखायी नही देती। सृजनशीलता की प्रक्रि-

याओं को समझने का एक ही मार्ग है यानी उस समुद्र में डुबकी लगाना, जो चेतन के नीचे छिपा हुआ है, जो बुद्धिवाद की सतह के नीचे बहता है। वैसे, रचना की प्रक्रिया में विचार और भावना, दोनों काम करते हैं, किन्तु, बुद्धि का महत्त्व रचना के आरंभ होने के बाद शुरू होता है। उससे पूर्व इस प्रक्रिया की मुख्य प्रेरणा भावना होती है, विवेकहीनता होती है, असंबद्धता होती है। रचना की शक्ति को जगाने तथा उसका अध्ययन करने के लिए अब मनोविज्ञान में एक नयी शाखा उत्पन्न हुई है, जिसे साइनेटिक्स (synetics) कहते हैं। इस शाखा के अनुसंधानों से पता यह चला है कि असंबद्धता और अप्रासंगिकता में गये बिना न तो कोई अच्छी कविता लिखी जाती है, न वैज्ञानिक कोई आविष्कार कर पाता है।

कवि और वैज्ञानिक, दोनों को, समाधि के क्रम में, बुद्धि-सम्मत धरातल से उठकर उस धरातल पर जाना पड़ता है, जहाँ बुद्धि के नियम नहीं चलते, जो धरातल अप्रासंगिक और विवेक-मुक्त है, जहाँ चिन्तन तथ्यों के अनुसार नहीं चलता, फैंटासी में चलता है। फैंटासी और विवेक-मुक्तता, दोनों ही अचेतन अथवा अवचेतन की स्थितियाँ होती हैं। अतएव, प्रत्येक आविष्कार और प्रत्येक कविता, जन्म से पूर्व, अवचेतन से प्रेरणा ग्रहण करती है।

हमारा चेतन ही नहीं, अचेतन अथवा अवचेतन मन भी स्मृतियों से भरा हुआ है और मुक्त संगति अथवा "फ्री एसोसियेशन" स्मृति का धर्म है। एक स्मृति के साथ अनेक स्मृतियाँ जुड़ी होती हैं। एक वस्तु की याद आने पर हमें उससे मिलती-जुलती अनेक वस्तुओं की याद आने लगती है। इसी क्रिया का नाम मुक्त संगति की क्रिया है। स्मृति का स्वभाव "फाईलिंग" है। वह एक प्रकार की सभी स्मृतियों को अपनी एक फाइल में जमा करती है और अन्य प्रकार की स्मृतियों को अन्य फाइलों में। अवचेतन में स्मृति के खाने अलग-अलग हैं। सुख की स्मृतियाँ सुख के साथ और दुःख की स्मृतियाँ दुःख के साथ संचित रहती हैं। जब हम किसी एक घटना की याद करते हैं, तब उस तरह की अनेक घटनाएँ हमें स्वतः याद आने लगती हैं। जेम्स ज्वायस की चेतना-प्रवाह वाली शैली इसी मुक्त-संगति के नियम पर आधारित है। एक झरने की याद करने पर दूसरा झरना याद आता है, फिर किनारे के फूल याद आते हैं, फिर वे लोग याद आते हैं जिनके साथ हम वहाँ गये थे। और उनमें से किसी के साथ अगर हमने प्रेम किया हो, तो फिर उस व्यक्ति के सम्बन्ध की दूसरी बातें भी याद आने लगती हैं। यही चेतना-प्रवाह का रूप है।

हिपनोसिस में चेतन को दबाकर अवचेतन को ऊपर लाने का काम किया जाता है और तब आदमी बहुत-सी ऐसी बातें भी बोल जाता है, जिनका पता चेतनावस्था में उसे भी नहीं होता। इस पद्धति से आदमी ने पूर्वजन्म तक की बातें कही हैं और जाँच करने पर वे सही पायी गयी हैं। अब मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि हिपनोसिस का सहारा लिए बिना भी आदमी साधनापूर्वक चेतन

से उतर कर अचेतन मे जा सकता है और अपने भीतर से ऐसी अनुभूतियाँ निकाल सकता है, जिनका पता उसके चेतन मन को नही है।

जो कुछ भी प्रासगिक है, बुद्धि-सम्मत और तर्कयुक्त है, वह सीमित है। सीमाओ से बाहर फैला मैदान वह है, जिसे हम स्वप्न, दिवास्वप्न अथवा कल्पना कहते हैं। इस मैदान की कही भी कोई सीमा नही है। जब तक मनुष्य इस क्षेत्र की निस्सीम विस्तीर्णता मे नही पहुँचता, कविता और आविष्कार उसे नही सूझते हैं। रचना के पूर्व, विषय और शैली की अवधारणा के पूर्व, आदमी उन्माद की एक हलकी अवस्था मे प्रवेश करता है। तभी उसे आविष्कारक शक्ति प्राप्त होती है। सृजनशीलता बराबर विवेक-मुक्तता की स्थिति से उत्पन्न होती है।

सुररियलिज्म आन्दोलन का जब आरभ हुआ, मनीषी बुद्धिवाद की अतिशयता से ऊबे हुए थे, धर्म की कट्टरता उन्हे पसन्द नही थी, प्रचलित दर्शन उन्हे बेमानी लगता था और जो दुनिया उन्हे विरासत मे मिली थी, उससे वे नाराज थे। अतएव, उन्होने मुक्ति का नारा बडे जोर से बलन्द किया, गरचे इस नारे का साहित्य से बाहर कोई प्रभाव नही पडा। ससार को बदलने के प्रयास मे जैसे मलार्मे तथा उनके अनुयायियो की भाषा की जादूगरी नाकामयाब सिद्ध हुई थी, उसी प्रकार, सुररियलिस्टो की उपचेतन–आराधना और अपने को एक नये अनुशासन के अधीन लाने का प्रयास भी व्यर्थ हुआ। कोई आश्चर्य नही कि कितने ही क्लान्त सुररियलिस्टो ने चिन्तन से निराश होकर कर्म की राह पकडी और वे साम्यवाद की ओर चले गये।

जो लोग साहित्य मे रहे, उनके सामने कई प्रकार की कठिनाइयाँ दिखायी देने लगी। उन्होने रह-रहकर इतनी विभिन्न शैलियों के प्रयोग किये थे कि केन्द्रित उपलब्धि उनकी छूँछी दीखने लगी। उनके दिलासे के लिए ब्रेतो ने कहा था कि "यह शैली दूषित नही है। इसमे स्वप्न और कर्म के बीच जो खाई दीखती है, उसे पाटनेवाले कवि शीघ्र ही उत्पन्न होगे।"

कविता कर्म-लोक की उपेक्षा करके जादूगरनी बनने चली थी, किन्तु, अब उसे यह अनुभव होने लगा कि ज्ञान जब कर्म का तिरस्कार करता है, तब अनादर कर्म का नही होता, प्रत्युत, ज्ञान ही छूँछा होने कारण तिरस्कृत हो जाता है।

किन्तु, साहसी सुररियलिस्ट कवि इस पर भी हार मानने को तैयार नहीं थे। अपनी रचना की सार्थकता सिद्ध करने को वे लाजिक की ओर भी अवहेलना करने लगे, बिम्ब-विधान मे और भी छूट लेने लगे और उनकी कविताएँ चेतना अथवा अर्ध-चेतना की खण्डित अभिव्यक्तियाँ बनने लगी। ऐसा दीखने लगा, मानो, ये कविताएँ जागर्ति और स्वप्न के बीच की कडियाँ खोज रही हो।

सुररियलिस्ट कवि सभ्यता, नैतिकता और तर्कशास्त्र को दया से देखते हैं। वे जिस लोक मे जाना चाहते हैं, वह लोक सभ्यता के पीछे छूट चुका है, वह लोक

नैतिक नियमो और तर्क के सोपानो के लिए अगम्य है। नैतिकता और तर्क मनुष्य के ऊपरी लिबास हैं। अपने रक्त और मास के अन्दर आदमी कुछ और होता है। इसी कुछ और का सधान सुर्रियलिज्म का ध्येय है। सुर्रियलिस्टों की दृष्टि मे कोई तुतलानेवाला बच्चा वास्तविकता के अधिक समीप है। वह बोलने मे तर्क के पूर्वापर नियमो का ख्याल नही रखता, इसीलिए वह अछूती वास्तविकता की वाणी बोलता है।

सन् १९३२ ई० मे ब्रेतो ने एक निबन्ध लिखा था, जिसमे उन्होने कहा था कि सभ्यता तूफान से सिकुड रही है, किन्तु मनुष्य उस तूफान के केन्द्र मे स्थिर और अकप है। यह भी कि मैं मनुष्य की उस शक्ति से युक्त करना चाहता हूँ, जिसे निद्रा कहते हैं, जिस शक्ति के द्वारा वह उस रात्रि के अक मे पहुँच सकता है, जहाँ असख्य मनुष्यो और वस्तुओ का निवास है। अतश्चेतन, उपचेतन और अचेतन मे दूर तक धँसने की प्रवृत्ति सुर्रियलिज्म की सबसे बडी शक्ति समझी जाती है।

विद्वानो का मत यह है कि इतना कुछ होने पर भी फ्रास मे न तो एक कविता लिखी गयी, जिसे हम शुद्ध शुद्ध सुर्रियलिस्टिक कविता कह सकें, न वहाँ कोई एक ऐसा कवि उत्पन्न हुआ, जो सुर्रियलिज्म का खाँटी प्रतिनिधि माना जा सके। फिर भी, यह आन्दोलन यूरोप मे जम गया और वहाँ अभी भी ऐसी कविताएँ लिखी जा रही हैं, जो सुर्रियलिज्म से प्रभावित मानी जाती हैं।

सुर्रियलिस्टो ने प्रयोग का जो साहस दिखाया, उससे कविता की सामान्य धारणा परिवर्तित हो गयी। 'वस्तुवादी कलाकार का ध्येय मनुष्य और उसके जीवन को एकाकार करना होता है। किन्तु, सुर्रियलिस्ट कलाकार कवि और उसके भवितव्य (डेस्टिनी) के बीच सम्पर्क स्थापित करना चाहता है। कलाकार और उसके भवितव्य के एकाकार होने से कला की महिमा बढ जाती है। जो वस्तुएँ मौजूद हैं, उनसे छुटकारा हम इसलिए चाहते हैं कि हम उन वस्तुओ के सम्पर्क मे आयें, जो मौजूद होनेवाली हैं। कविता तो असली वही है, जिसे हम खतरो के बीच से उठाते हैं। कविता का साम्राज्य आश्चर्यजनक का साम्राज्य है, जो परिचित होते होते वास्तविक हो जाता है। आश्चर्य के विश्लेषण का प्रयास फालतू प्रयास है। स्वप्न देखना कल्पको का स्वभाव है स्वप्नद्रष्टाओ का स्वभाव है और स्वप्न वे उसकी व्याख्या किये बिना देखते हैं।'

सुर्रियलिस्टो की आशा यह है कि एक दिन ऐसा आयेगा, जब अभ्यस्त होते-होते वास्तविकता के ऊपरवाली वास्तविकता सामान्य वास्तकिकता बन जायेगी। यानी चेतन और अचेतन के बीच की दीवार धराशायी हो जायेगी।

नयी चित्र कला अत्यन्त बौद्धिक है, अत्यन्त विश्लेषणात्मक है। उसका मूल ध्येय ढाँचा है, शैली है, कथ्य या विषय नही। नयी चित्रकला का प्राय प्रत्येक सम्प्रदाय कट्टरपथी है। इसीलिए, नयी कला मे जीवन का सत्य मुखरित नही होता, न

उससे किसी कल्पना या 'विजन' का सङ्केत मिलता है। कला का ध्येय विश्लेषण नहीं होना चाहिए। कला गणित का फरमूला नहीं, एक लपट है, एक आग है, जो हम अदृष्ट रूप को रूपायित करने को प्रेरित करती है। कहते हैं, नयी कला जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु, वह जीवन के किस रूप की प्रतिनिधि है ? शायद उन प्रवृत्तियों की, जो आदिम और कुरूप हैं, शायद उन अन्ध आवेगों की, जो अभी ठीक से समझे भी नहीं गये है, शायद स्नायविक उत्तेजनाओं की और लोहू में दौड़ने वाली सनसनाहटों की, जो आत्मनियन्त्रण को कमजोर बनाती हैं। कला ने नये नये प्रयोग खूब किये लेकिन, साथ ही उसने अपने को उन गुणों से भी अलग कर लिया, जिस गुणों के कारण कला मनुष्य के ऊर्ध्व अभियान में सहायक होती थी। और कविता पर भी उसका प्रभाव इसी प्रकार अनिष्टकारी सिद्ध हुआ है।

अभिव्यंजनावाद

अभिव्यजनावाद अभिव्यक्ति की खूबियो का आन्दोलन है। अभिव्यक्ति की खूबियों का ध्यान सभी युगो के श्रेष्ठ कवियो को रहा था। किन्तु, पहले के कवि उक्ति और चित्रण की सुन्दरता को साध्य नही, साधन मानते थे। उनका लक्ष्य उक्ति और चित्रण का प्रयोग कथ्य को प्रभावशाली बनाने को करना था। किन्तु, अभिव्यजनावादी आन्दोलन ने कथ्य की महिमा को तिरस्कृत कर दिया। वह जोर इस बात पर देने लगा कि कविता कथ्य के प्रचार का माध्यम नही है। कवि का काम सिर्फ यह है कि वह जो भी बात कहे स्वच्छता से कहे, सुस्पष्टता के साथ कहे, कम से कम शब्दो मे कहे तथा अपनी अनुभूतियो को चित्रो और बिम्बो मे परिवर्तित करके कहे। चित्र बनाते समय चित्रकार की जो मनोदशा होती है, कविता रचते समय कवि की भी मनोदशा वैसी ही होनी चाहिए। कलाकार-धर्म कवि का सबसे बडा धर्म है और अभिव्यक्ति की चुस्ती और सफाई को छोडकर उसे और किसी बात की चिन्ता नही करनी चाहिए।

रोमासवाद और अभिव्यजनावाद के बीच कला के दो बडे आन्दोलन, प्रतीकवाद और प्रभाववाद के रूप मे, उठे थे। इन दोनो आन्दोलनो का प्रभाव अभिव्यजनावाद की पीठ पर था, मगर यह नया आन्दोलन अपने से पहले के दो आन्दोलनो से कुछ भिन्न भी था। प्रतीकवाद का स्वभाव अन्योक्तियो मे बोलने का था। वह प्रसगो और सकेतो के द्वारा अनुभूतिया का चित्रण करता था, बल्कि, अनुभूतियो के साथ लिपटी अरूप छायाएँ उसे अधिक लुभाती थी। इस पर से कुछ आलोचको का मत यह बना है कि प्रतीकवाद से अभिव्यजनावाद इस अर्थ मे भिन्न है कि प्रतीकवादी कवि बराबर वस्तुओ के भीतर धँसने की कोशिश करते है, जबकि अभिव्यजनावादी कवि सतह पर के दृश्य सौन्दर्य को ही यथेष्ट समझते है। यह सिद्धान्त की बात हो सकती है, किन्तु, व्यवहार मे, अभिव्यजनावादी कवि भी वस्तुओ के भीतर झाँकने से बाज नही आते। वस्तुओ के जो पक्ष आँखो से ओझल हैं, उन्हे वे भी दृश्य रूप प्रदान करते हैं। शायद यह मानना अधिक युक्तिसगत है कि चित्रण की सफाई अभिव्यजनावाद की अपनी साधना है और वस्तुओ के भीतर झाँकने की प्रवृत्ति प्रतीकवाद से आया हुआ प्रभाव।

अभिव्यजनावाद से प्रभाववाद इस अर्थ मे भिन्न था कि प्रभाववाद यद्यपि

वस्तु के अनावश्यक पक्षो को छोडकर वर्णन उसके सार तत्व का करता था, किन्तु, उसके बिम्ब विषय के साथ जुडे रहते थे। प्रभाववादी कविता मूल मे रोमाटिक वृत्ति लिये चलती थी। फर्क यह था कि वह हड्डी तक नग्न थी और रग की रोमाटिक चटकदारी उसमे नही थी। किन्तु, अभिव्यजनावाद के बिम्ब विषय से जुडे नही होते थे। एक भेद दोनो के बीच यह भी था कि प्रभाववाद मे वस्तु पर टिप्पणी करने की थोडी गुजाइश थी, लेकिन, अभिव्यजनावादी कवि व्याख्या और टिप्पणियो से बिलकुल अलग रहना चाहते थे।

अभिव्यजनावाद और चित्रवाद, ये एक ही प्रवृत्ति से उत्पन्न दो आन्दोलन थे। अभिव्यजनावाद का प्रवर्तन सन् १९१२ ई० के आस पास जर्मनी मे हुआ और चित्रवादी आन्दोलन उसके एक साल बाद इग्लैण्ड मे उत्पन्न हुआ। ये दोनो आन्दोलन कला के आन्दोलन थे, जिसका अर्थ यह है कि उनका लक्ष्य विषय नही था, शैली थी, उक्ति की भगिमा और चित्रण की सफाई थी। इन दोनो आन्दोलनो पर विज्ञान का प्रभाव था। वे भाव और भाषा मे आवेशमयता के विरुद्ध थे और अनुभूतियो का चित्रण वैज्ञानिक सुनिश्चितता से करना चाहते थे। आवेश और भावुकता मानवता के कैशोर्य के लक्षण है। वैज्ञानिक युग के मनुष्य को आविष्ट और भावुक नही होना चाहिए।

अभिव्यजनावाद कविता मे शुद्धता लानेवाले आन्दोलन का परिपाक था। सन् १९१२ ई० के आसपास जिस प्रवृत्ति का नाम अभिव्यजनावादी आन्दोलन पडा, वह प्रवृत्ति दरअसल उतनी नयी नही थी। वह युग-युग से कविता की मुख्य प्रवृत्ति रहती आयी थी। प्रत्येक युग के श्रेष्ठ कवि की चरम-क्षमता ज्ञान-कथन अथवा वास्तविकता के विश्लेषण मे नही, प्रत्युत, चित्रण की सजीवता और पूर्णता मे परखी गयी थी और जैसी पक्तियो को हम आज शुद्ध कविता कहते हैं, वैसी पक्तियाँ प्रत्येक अच्छे कवि की रचनाओ मे आती थी और आलोचको के यहाँ उन पक्तियो का मान भी कुछ अधिक होता था। और जैसे-जैसे कविता प्रगति करती जा रही थी, कवियो का लोभ शुद्ध कवित्व की ओर बढता जा रहा था।

रोमाटिक कविता के बारे मे आज हमारी राय यह हो गयी है कि वह शुद्ध न होकर सदेश दान की कविता थी, तटस्थ न होकर जीवन की समस्याओ मे उलझने की कविता थी। किन्तु, कविता की जो यात्रा शुद्धता की ओर थी, उसमे रोमासवाद ने बाधा न डालकर कुछ सहायता ही पहुँचायी थी। हिन्दी के छायावादी और यूरोप के रोमाटिक कवियों के बारे मे यह नहीं कहा जा सकता कि वे कविता न लिखकर ससार पर केवल फतवे दिया करते थे। रोमाटिक कवि व्यक्तिवादी थे और अपने आप पर रीझने का भाव उनका तब भी कायम रहता था, जब वे नबी अथवा पैगम्बर की भूमिका अदा करते थे। उनका एक मन तो ससार का अध्ययन करता था और दूसरा मन उस मन से प्यार, जो बाहर ससार के विश्लेषण मे लगा

लगा हुआ था। इसीलिए, रोमांटिक कविता केवल भावनात्मक ही नहीं, चिन्तनशील भी दिखायी देती थी, मानो, कविता अनुभूति की अनुभूति बनाना चाह रही हो, मानो, कविता कविता के बारे में कविता होना चाहती हो।

अभिव्यंजनावाद का आन्दोलन डाडा और सुररियलिज्म से दो-चार वर्ष पहले उठा था, किन्तु, इन सभी आन्दोलनों पर प्रभाववादी विचारधारा का असर था। असल में, भिन्न-भिन्न देशों में आन्दोलनों के नाम भिन्न-भिन्न पड़ गये, लेकिन, मूलतः सभी आन्दोलनों का ध्येय एक ही था यानी उस स्वप्न को साकार करना जिसे रैम्बू और मलार्मे ने देखा था। यह स्वप्न एक ऐसी कविता का स्वप्न था, जो ज्ञान-दान नहीं करती है, जिसे नीति-अनीति की विचिकित्सा नहीं सताती, न मनुष्यों के सुधार की चिन्ता होती है, जो अभिव्यक्ति की पूर्णता के बाद और कुछ भी करने की इच्छा नहीं रखती। जर्मन कवि बेन (१८८६-१९५६) जर्मन भाषा के इलियट समझे जाते थे। उन्होंने आदर्श काव्य का लक्षण बताते हुए कहा था "आदर्श काव्य वह है, जो पूर्णतः काव्य है, जिसके भीतर न तो कोई आशा है, न विश्वास, जो किसी को भी सम्बोधित नहीं होता, जो केवल शब्दों के आकर्षक आकलन से विरचा जाता है।"

रोमांसवाद और प्रतीकवाद, दोनों ही आन्दोलनों ने इस बात पर जोर दिया था कि कविता वस्तुओं की सतह पर नहीं मिलती, वह उनके भीतर की अथवा उनके परे की चीज है। यह काव्य का भौतिकोत्तर (तत्त्व-ज्ञानात्मक अथवा मेटाफिजिकल) पक्ष था, जो नयी कविता का गुण-विशेष समझा जाने लगा। अभिव्यंजनावादी कवि की तुलना एक लेखक ने लम्बी और पैनी छुरीवाले उस सदमस्त सर्जन से की है, जो आदमी की रूह का पता लगाने के लिए उसके शरीर पर शल्यक्रिया करता है। अभिव्यंजनावादी कवि स्वप्न-द्रष्टा और कल्पनाशील थे। भाषा उन्होंने बोलचाल की चुनी थी और शब्द वे बहुत थोड़े रखते थे। अभिव्यंजनावाद में शब्दों की मितव्ययिता का महत्त्व इतना अधिक हो गया कि एक आलोचक ने लिखा है कि 'मिस्टर इलियट शब्द को इस दृष्टि से तोलते हैं, मानो, वे आगामी पीढ़ी को टेलिग्राम भेज रहे हों।" अभिव्यंजनावादी कवि कविता की पंक्तियों को बिम्बों में सजाते थे और उनके बिम्ब काफी केन्द्रित, सुदृढ़ और तेज होते थे। इन कविताओं में उनकी जो मनोदशा व्यक्त होती थी, वह एक नये प्रकार के आनन्द की मनोदशा थी। वह जीवन के प्रति एक नयी क्रान्ति का मनोभाव था।

अभिव्यंजनावाद और चित्रवाद में एक फर्क यह देखा गया कि अभिव्यंजनावादी कवि कभी कभी भारी-भरकम शब्दों का भी प्रयोग कर डालते थे। उनका बिम्बों का आकलन मनमाने ढंग पर होता था, जिससे उनके चित्र कभी-कभी अवास्तविक हो जाते थे। व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों पर उनका ज्यादा जोर था

और शैली मे दृश्य और श्रव्य, दोनो तत्त्व कुछ अधिक रहते थे। इसके विपरीत, चित्रवादियो के शब्द हल्के और अधिक सहज होते थे काव्य के दृश्य गुणो पर उनका ज्यादा जोर था और उनकी कविताएँ चित्रमयी अधिक होती थी। किन्तु, चित्रवाद का अगरेजी कविता पर जितना प्रभाव पडा, अभिव्यजनावाद का जर्मन कविता पर उससे अधिक प्रभाव पडा है।

इग्लैण्ड मे चित्रवादी आन्दोलन का सूत्रपात सन् १६०८ ई० मे हुआ, जब हूल्म नामक एक कवि ने अगरेजी कविता मे क्रान्ति लाने को कवियो के एक क्लब की स्थापना की। हूल्म की घोषणा थी कि 'बडे से बडे रोमाटिक कवियो के प्रति भी मुझे आपत्ति है। मुझे उनकी नीरसता, एकरसता और मदता पर आपत्ति है, जिसके कारण वे किसी भी ऐसी चीज को कविता नही मान सकते, जो किसी बात का विस्तार नही करती हो या किसी विषय को लेकर धुतकारती-फुफकारती न हो। रुचि अब इतनी बिगड गयी है कि अगर कोई कविता सूखी और कठोर हो या खाँटी क्लासिक ढग की हो, तो लोग उसे कविता ही नही मानते हैं। रोमाटिको को यह पता ही नही है कि अनत्युक्तिपूर्ण वर्णन ही कविता का न्यायसगत ध्येय है। उनकी दृष्टि मे कविता वह चीज है, जिसके बहाने 'अनन्त' के चारो ओर भावनाओ का तूफान खडा किया जाता है।"

नये कवि भावुकता को काव्य का दुर्गुण मानते हैं। जाजियन कवियो की निन्दा करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि 'ये कवि इतने भावुक थे कि मरे हुए गधे के पास बैठकर वे इस प्रकार रोते थे, मानो, वह उनका भाई रहा हो।"

कविता दर-असल होनी कैसी चाहिए, इस बारे मे हूल्म का विचार यह था कि "कविता की रचना मुजेक-विन्यास के समान कठोर काम है। जैसे मुजेक का हर बिन्दु ठीक-ठीक आकार का होता है, वैसे ही कविता की प्रत्येक पक्ति सुगढ और ठुकी हुई होनी चाहिए। हमारा प्रत्येक शब्द ठोस होना चाहिए, सुनिश्चित होना चाहिए और वैयक्तिक होना चाहिए। हमारे प्रत्येक शब्द पर एक बिम्ब चिपका होना चाहिए और हमे कोई भी शब्द ऐसा नही रखना चाहिए, जो लद्धड या पुलपुला हो।"

भावनाओ के बिना कविता नही बन सकती, यह बात हूल्म भी मानते थे। किन्तु, उनका कहना था कि 'भावना किसी न किसी ठोस स्वप्न का आधार लेती है अथवा वह स्वर पर अवलम्बित होती है। प्रत्येक भावना शारीरिक होती है।" अर्थात् कविता मे भावना की सार्थकता तभी है, जब वह चित्र मे बदली जा सके, अनुरूप लय, नाद या ध्वनि मे परिवर्तित की जा सके। इसी सिद्धान्त के कारण चित्रवादी काव्य अरूप विचारो के बिलकुल विरुद्ध जा पडा और वह उन स्वच्छ, सुनिश्चित और सुस्पष्ट बिम्बो पर जोर देने लगा, जो कल्पना की आँख

से देखे जा सकते हैं।

आगे चलकर इस आन्दोलन का नेतृत्व एजरा पौण्ड और इलियट ने किया। बिम्बवादी कवियों को उनका धर्म समझाते हुए एजरा पौण्ड ने लिखा था, "दार्शनिक और वर्णनात्मक कविताएँ मत लिखो। अरूपता से तुम्हें भय मानना चाहिए और बिम्ब केवल ऐसे रखने चाहिए जो साकार और सुस्पष्ट हो, जो तराशे हुए पत्थर के समान ठोस हो।"

नयी कविता के और भी लक्षण बताते हुए एजरा पौण्ड ने कवियों को सलाह दी थी :—

"फालतू शब्दों का प्रयोग मत करो। विशेषण तब तक मत लगाओ, जब तक वह वस्तु के भीतर प्रच्छन्न किसी गुण-विशेष को प्रकट न करता हो"।

"अरूपता के फेरे में मत पडो। जो बात किसी अच्छे गद्य मे कही जा चुकी है, उसी बात को पद्य मे कहने का प्रयास व्यर्थ है।"

"अलकार मत रखो। अगर रखो तो उन्हे बहुत ही उच्च कोटि का होना चाहिए।"

"वैचारिक बनने अथवा ध्यान मे किसी वैचारिक ध्येय को रखने की कोशिश मत करो। यह काम तुच्छ दार्शनिकों का काम है।"

"कविता मे सगीत लाना जरूरी नहीं है। लेकिन अगर संगीत लाना ही हो तो उसे इतनी उच्च कोटि का होना चाहिए कि उस पर विशेषज्ञ रीझ सकें।"

"कविता मे साबुन के प्रचारक की शैली को स्थान मत दो, प्रत्युत, कविता रचते समय वैज्ञानिक पद्धति का ध्यान करो। वैज्ञानिक मनुष्य मान्यता की आशा तब तक नही करता, जब तक वह किसी नयी वस्तु का आविष्कार न कर ले और नयी वस्तु का आविष्कार करने के पूर्व वह पहले के सभी आविष्कारो से परिचय प्राप्त करता है।"

"तुकें तभी सार्थक समझी जाती हैं, जब उनमे आकस्मिकता हो, आशा के विपरीत कोई जमने वाली बात हो।"

"कल्पना की आँखो को जो कविता अपील करती है, वह अनुवाद मे भी ठहरेगी। जो कविता कानो के लिए है (अर्थात् जो सगीत या नाद के कारण प्रिय लगती है), वह दूसरी भाषा मे उतारी नही जा सकती।"

"मुक्त छन्द की ओर तभी जाओ, जब उसके भीतर छन्द से अधिक सुन्दर सगीत उभर रहा हो, कोई ऐसी लय उत्पन्न हो रही हो, जो अधिक सत्य हो, वस्तु के साथ उभरनेवाली भावना का अधिक सार्थक अग हो।"

"जो भी व्यक्ति कविता मे ठोस काम करना चाहता है, उसके लिए कोई भी छन्द मुक्त नहीं हो सकता।"

पौण्ड के ये उद्गार हमने उनके कई निबधो से सकलित करके यहाँ इसलिए

एकत्र किये हैं कि ये सभी किरणें नयी कविता को एक साथ आलोकित कर सकें और हमें यह पता चले कि नयी कविता के आन्दोलन से उसके नेता-कवियों ने क्या-क्या आशाएँ की थी।

सभी सास्कृतिक आन्दोलनो के समान चित्रवाद का आन्दोलन भी सामान्य जन रुचि के प्रतिकूल था। पौण्ड ने शुद्ध कविताओं के कई सग्रह सम्पादित किये थे। किन्तु, इन सकलनो का जनता ने कोई भी सम्मान नहीं किया। कहते हैं, उन दिनों एक सग्रह ऐसा भी निकला था, जिसमे सभी युगो की अगरेजी की चुनी हुई ऐसी कविताएँ सकलित थी, जिनमें उपदेश नहीं थे, विचार नहीं थे, जीवन मरण की समस्या का स्पर्श नहीं था, देशभक्ति नहीं थी, समाजसुधार की चिन्ता नहीं थी, दुखी मनुष्यों के लिए दर्द नहीं था, न अन्याय की निन्दा थी, न न्याय के लिए पक्षपात था, यहाँ तक कि उनमें ईश्वर-भक्ति के भी भाव नहीं थे। स्पष्ट ही, यह सग्रह इसलिए तैयार किया गया होगा कि लोग समझ सकें कि शुद्ध कविता से नये कवियों का अभिप्राय कैसी कविताओं से है। किन्तु, इस सग्रह को भी जनता ने नहीं पूछा, क्योंकि जनता हमेशा ऐसी कविताओं की खोज में रही है, जो उसे जीने की प्रेरणा दे सकें, जो उसके भीतर उदात्त भावो का सचार कर सकें।

किन्तु, कविगण हर तरह की कुर्बानी देकर शुद्ध कविता के प्रयोग को सफल करने को कटिबद्ध थे। एजरा पौण्ड का नये कवियों को यह भी उपदेश है कि वे जनता की रुचि का प्रभाव अपने ऊपर नहीं पड़ने दें और विशेषज्ञों की प्रशसा पाकर सन्तुष्ट रहें। 'सभी अच्छी कलाओं का लक्षण है कि व समकालीन रुचि के विरुद्ध पडती है।' "आज जिस चीज से विशेषज्ञ ऊबे हुए हैं, उससे कल जनता भी ऊबेगी।' यह भी कि 'जिस कवि की एक आँख बराबर जनता पर लगी हुई है, उसे सही शब्द नहीं सूझेंगे। वह कवि कविता का असली काम नहीं कर सकेगा।"

नये कवि वस्तु के सभी आवरणों के भीतर धँसकर कोई सौन्दर्य, कोई विलक्षण अभिव्यक्ति खोज रहे थे। किन्तु, जनता की आदत है कि वह सभी सुन्दरताओं के भीतर अर्थ खोजती है, सभी कविताओं के भीतर कोई उपयोगिता मन्त्र ढूँढती है। अतएव पौण्ड ने लिखा, "जो लोग कविता के बारे में उपयोग का प्रश्न उठाते हैं, वे कभी यह भी पूछ सकते हैं कि तारा में सुनी जगह क्यों रखी जायँ, गुलाब के पौधों का क्या उपयोग है, पट क्यों लगाये जायँ और उद्यानों की योजना की सार्थकता क्या है।"

उपयोगिता के घेरे के टूटने के बाद नैतिकता की बारी आयी। सिद्धान्त-आचार्य के नाद जो भी रहे हो, किन्तु अनुपयोगी और अनैतिक काव्य ससार में बराबर लिखे जाते रहे हैं। शेक्सपियर को एक समय जानसन ने अनैतिक माना था। इधर आकर शेक्सपियर की निन्दा टालस्टाय ने भी लिखी। किन्तु, इन आलोचनाओं से

शेक्सपियर का मान नही घटा। जनता उन्हे हमेशा प्यार करती रही है। अतएव, नये कवि इस निश्चय पर आ गये कि कला कि कृति नैतिक है या नही, यह प्रश्न विवेच्य नही है। विवेच्य विषय यही हो सकता है कि उस कृति मे अभिव्यक्ति की पूर्णता दिखायी देती है या नही। एजरा पौण्ड ने लिखा है, "जो कला सुनिश्चित नही है (यानी जिस कला मे शैथिल्य है, पुलपुलापन है और जिसकी अभिव्यक्ति स्वच्छ और कसी हुई नही है), वही कलाओ मे अधम समझी जायगी। जो कला बुरी है, वही अनैतिक भी है। इसके विपरीत, जो कला अच्छी है, वह अनैतिक होती हुई भी गुणो की खान है।"

अगर अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करने की प्रक्रिया मे, उसे सुन्दर बनाने के प्रयास मे नैतिकता के बाँध कही टूट जाते हो, तो इसका दोष कलाकार के माथे नही जाना चाहिए। क्रोशे ने तो यहाँ तक कहा है कि कलाकार को नैतिकता का बघन तोडने का पूरा अधिकार है। अगर इससे समाज की कोई हानि होती हो, तो सरकार को चाहिए कि वह पुलिस की सख्या बढा दे, लेकिन, कलाकार का कोई अधिकार न छीने।

एजरा पौण्ड का यह भी ख्याल था कि नयी कविता का आन्दोलन सभी देशो की कविताओ को राष्ट्रीय धरातल से उठाकर अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर ले जायेगा। उनका कहना था कि, "कविता की आलोचना विश्व कविता के आधार पर की जानी चाहिए।" उन्होने फ्रासीसी कवि लफूर्ज की प्रशसा यह कहकर की है कि, 'वे ऐसी भाषा नही लिखते, जो एक ही देश मे प्रचलित या लोकप्रिय हो। लफूर्ज उस अन्तर्राष्ट्रीय भाषा मे लिखते है, जिसे सभी देशो के शीर्षस्थ, सुसस्कृत लोग समझ सकते है।' ससार की सभी भाषाओ के बीच कोई एक ऐसी भाषा छिपी हुई है, जिसका अनुवाद सभी भाषाओ मे सुगमता से किया जा सकता है। एजरा पौण्ड उसी भाषा की ओर कवियों का ध्यान दिला रहे थे।

लेकिन पौण्ड ने सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया कि कवि को जब तक पूर्ण रूप से अनुकूल शब्द न मिलें, उसे सतोष नही करना चाहिए। "कविता मे प्रशिक्षण का ठोस सिद्धान्त यह है कि कवि असतोष के विज्ञान को समझे।" कविता मे शब्दो के अपव्यय से बचना चाहिए। "रेम्बू के बिम्ब इसलिए स्वच्छ हैं कि उनपर ऐसे शब्दो का बोझ नही है, जो कोई काम नही करते हो।"

(पौण्ड ने यह भी लिखा है कि प्रत्येक युग मे एक-दो व्यक्ति ही होते हैं, जिनके पास कहने की कोई बात होती है और वे उस बात को सही अभिव्यक्ति देकर नयी दृष्टि का प्रवर्तन करते हैं। हूल्म की धारणा इससे भिन्न नही थी। काव्य-रचना का औचित्य वे कवि की उस शक्ति मे बताते थे, जिसके द्वारा वह वस्तुओ के भीतर कोई ऐसी चीज देख लेता है, जो पहले किसी को दिखायी नही पडी थी और उस चीज से उत्पन्न प्रभाव को वह इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि

पाठक के भीतर वही संवेदना जग जाती है, जिसका अनुभव कवि ने स्वयं किया है। किन्तु, दृष्टि की इस नवीनता का प्रमाण दो एक कवियों में ही दिखायी पडा। बाकी सभी कवियों का जोर रूप के ठीक ठीक चित्रण पर ही पडा, जो चित्रवादी आन्दोलन का, काव्य का, ठोस अवदान था।

चित्रवादी आन्दोलन ने इस बात पर भी जोर दिया कि चूंकि कोई भी प्रेरणा, अनुभूति का कोई भी क्षण बहुत देर तक नही ठहरता, इसलिए कविता छोटी ही हो सकती है। कविता यदि उत्तेजना या प्रेरणा की अवस्था का उद्‌गार है अथवा यदि वह अनुभूति की सही सही अभिव्यक्ति है, तो वह लबी हो ही नही सकती। लबी वह इसलिए हो जाती है कि कविगण अनुभूति की व्याख्या करने लगते हैं, उसका वर्णन करने लगते है उससे शिक्षा निकालने की कोशिश करते हैं और व्याख्या, वर्णन तथा शिक्षा निकालने की प्रवृत्ति कविता के लिए बाह्य प्रवृत्ति है। वस्तुओ का जो प्रभाव हमारे मन पर पडता है, वह क्षण भर को ही कौंध मे आता है। इसी क्षण को शब्दो मे बांध देना असली कवित्व है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रभाववादी आन्दोलन के पीछे कुछ थोडा प्रभाव जापानी चित्रो का भी था। जापानी और चीनी चित्रो का प्रभाव अगरेजी के चित्रवाद पर भी पडा। जापान और चीन के लघु चित्र (मिनियेचर) स्वच्छ और प्रभावकारी होते हैं। उनमे रेखाएं कम खीची जाती हैं, मगर, जो खीची जाती हैं, वे सुस्पष्ट होती हैं तथा विरोधी रगो के मिश्रण से उनमे प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। इन्हीं चित्रो के समान जापानी कविता मे टका और हाइकू नामक कविता की विधाएँ चलती हैं, जिनमे पक्तियां बहुत थोडी होती हैं और जो क्षण-जीवी अनुभूतियो का हू ब हू चित्रण करके समाप्त हो जाती हैं। अगरेजी के चित्र-वादी काव्य पर टका और हाइकू कविताओ का भी प्रभाव पडा। अनेक चित्रवादी कविताएं ऐसी हैं, जो पांच सात पक्तियो मे ही समाप्त हो जाती है।

चित्रवादी आन्दोलन बडी ही आतुरता और बेचैनी के साथ कवियो को यह समझाना चाहता था कि काव्य म अकाव्यात्मक विवरणो के लिए स्थान नही है। कविता का मुख्य गुण चित्रमयता है। कविता की असली शोभा वह है, जो आंखो से देखी जा सकती है और जो विचार या भाव चित्र मे रूपान्तरित नहीं किये जा सकते, उन्हे कवि को निर्मम होकर छोड देना चाहिए। कविता ज्ञान नहीं है, उपदेश नहीं है, शकाओं का समाधान नही है न समस्याओं से उलझने का प्रयास है। वह चित्र है, दृश्य सौन्दर्य है और सभी सौन्दर्य शारीरिक होता है। किन्तु, तब भी ऐसे कवि थे जो ठोस वास्तविकता की चोट खाकर बेचैन थे और जिनका मन बौद्धिक शकाओं से बेहाल था। चित्रवाद ऐसे कवियो की बहुत अधिक सहायता नही कर सका। ऐसे एक कवि (आलडिगटन) ने लिखा था, "मैं तुम तक कैसे पहुँच सकता हूँ?

तुम मेरी बाँहो मे आबद्ध हो किन्तु, तुम्हारा जो सार रूप है, वह अब भी मुझसे दूर है। तुम्हारी आत्मा की रीढ तक पहुँचना मेरे लिए दुष्कर कार्य है।" व्याजान्तर से यह इस बात की स्वीकृति थी कि महज ढाँचे और आकार का चित्रण तथा रगो का खेल आत्मा की गहराई तक जाने का मार्ग नही है।

रोमाटिक युग तक कविता मे प्रेरणा और आवेश का स्थान आदर का स्थान रहा था, यद्यपि, समझा यह जाता था कि क्लासिक शैली का गाभीर्य वही कवि ला सकता है, जो प्रेरणा और आवेश को नियत्रण मे रख कर चले। किन्तु जैसे-जैसे शुद्ध कविता का आन्दोलन आगे बढा, कविगण आवेश की वाछनीयता पर शका करने लगे। फ्रासीसी कवि पॉल वैलरी (१८७१-१९४५) ने घोषणा की थी कि, "प्रेरणा और उन्माद की अवस्था मे मास्टरपीस की रचना करने की बजाय मैं होश हवास मे रहकर कोई कमजोर चीज लिखना ज्यादा पसन्द करूँगा।" जर्मन भाषा मे इस प्रवृत्ति का सकेत बहुत पहले ही मिल चुका था। होल्डरलीन (१७७०-१८४३) नये आन्दोलन के आरभ से बहुत पूर्व स्वर्गीय हो चुके थे। किन्तु, उन्होने भी कहा था, "होश हवास की प्रशान्त मुद्रा जब कवि को छोड देती है, उसी समय कवि की प्रेरणा भी उससे विदा हो जाती है। बडे कवि कभी भी अपने हाथ से बाहर नही होते हैं।"

प्रेरणा की गर्मी और अनुभूति की बेचैनी कवि को उन्मत्त बना देती है, यह शिक्षा हम ससार के सभी महाकवियो के जीवन से निकाल सकते है, यद्यपि यह भी सत्य है कि प्रत्येक महाकवि, अभिव्यक्ति के लिए शब्द खोजते समय, एक हद तक, धीरज और शान्ति से काम लेते थे। किन्तु, कविता के नये आन्दोलन का जोर आवेश के विरुद्ध पडने लगा। उसका सारा जोर कारीगरी पर पडने लगा, पच्चीकारी पर पडने लगा। परपरा से कवि कारीगर और विचारक साथ-साथ होते आये थे। किन्तु, नये काव्य मे कारीगरी का महत्त्व इतना बढ गया कि कविगण विचारो की छाया से बचने का मार्ग ढूंढने लगे। कवियो को चित्रकारी का लोभ बहुत अधिक होने लगा और वे यह बात भूलने लगे कि कवि और चित्रकार हमेशा एक नही रह सकते। कलम और कूँची, दोनो चित्र गढ सकते हैं, किन्तु, दोनों की शक्ति एक ही नही है। उदाहरणार्थ चितन लेखनी का स्वाभाविक धर्म है। कूँची चितन से भले ही मुक्त हो जाये, लेखनी उससे पूरा छुटकारा नही पा सकती। किन्तु, नया आन्दोलन विचारो से सम्पूर्ण मुक्ति को अपना ध्येय बना रहा था। कविता मे कथ्य का कोई महत्त्व नही है। जो भी महत्त्व है, शैली का है। शब्दो के अर्थ का कोई अर्थ नही। कविता मे जो कुछ है, वह चित्र है, जो कुछ है, वह नाद है।

सन् १९१३ ई० मे बिम्बवादियो ने अपना जो सकल्प प्रकाशित किया, उसमे कहा गया था कि यह धारणा गलत है कि कुछ विषय कविता के उपयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे, जिन पर कविता नही लिखी जा सकती। अतएव, नये कवि को

विषय चुनते समय पूरी स्वाधीनता से काम लेना चाहिए। हमे शब्द सामान्य भाषा से चुनने चाहिए और उन्ही शब्दो को चुनना चाहिए, जो सुनिश्चित और ठोस हो। जो शब्द केवल लगभग ठीक है, उनका त्याग करना ही धर्म है। जो शब्द अलङ्कृति को छोडकर अपने साथ और कोई शक्ति नही लाते, उनका भी हमे त्याग ही करना है। हमे ऐसी कविता रचनी है, जो ठोस हो, सुनिश्चित और स्वच्छ हो। धूमिल, अस्पष्ट और गोलमटोल बातें, चाहे वे कितनी भी खूबसूरत क्या न हो, कविता मे नही लायी जानी चाहिए। पुरानी लय पुरानी मनोदशा की पोशाक है। हमे अपने युग की मनोदशा के अनुरूप नयी लयो का सधान करना है।

उस घोषणा म यह भी कहा गया था कि नयी कविता के लिए मुक्त छन्द अनिवार्य नही है। कविताएँ छन्दोबद्ध भी हो सकती हैं। यह भी कि हमारा सम्प्रदाय चित्रकारो का सम्प्रदाय नही है, किन्तु, हमारा विश्वास है कि कविता का काम वस्तुओं का ठीक ठीक तद्रूप चित्रण करना है। गोल मटोल ढग से उलझी और अस्पष्ट समग्रता का चित्रण काव्य नही है। हमे ऐसी कविताएं तैयार करनी हैं, जो कठोर हो, निर्मल और स्वच्छ हो तथा जिनमे न तो उलझन हो, न अस्पष्टता का कोई दाग। कविता का सार यह है कि वह सुकेन्द्रित ढग से लिखी जाय।

कविता का प्रतिलोम गद्य नही, विज्ञान है। प्रत्येक युग मे कविता की शैली विज्ञान की शैली से भिन्न रही थी और भिन्न वह आज भी है। किन्तु, नये आन्दोलन का जोर इस बात पर पडा कि कवि को भी वैज्ञानिक शैली के समीप आना चाहिए। एक दृष्टि से यह क्लासिक पद्धति की ओर प्रत्यावर्तन का भाव था। ह्यूम ने भविष्यवाणी भी की थी कि "सूखी, ठोस और क्लासिक श्रेणी की कविताओ का युग आगे आ रहा है। आज ऐसे लोगो की सख्या बढती जा रही है, जो स्विनबर्न को बर्दाश्त नही कर सकते।"

रोमाटिक परपरा का जोर प्रेरणा पर था, वैयक्तिक प्रतिभा पर था। मास्टरपीस कैसे उत्पन्न होते हैं, इस विषय मे रोमाटिक परपरा का कहना यह था कि कुछ लोग अद्भुत प्रतिभा से सम्पन्न होते है। जब वे लोग पहुँचते है, प्रेरणा गुनगुनाने लगती है और अद्भुत काव्य, आप से आप, तैयार हो जाता है। नये कवियो ने, विशेषत इलियट ने, इस धारणा को तोडकर अभ्यास की महिमा पर जोर दिया। "साहित्य की कृति वह चीज नही है, जो बाहर जन्म लेकर साहित्य मे आ जुडती हो, बल्कि, वह साहित्य के भीतर से पैदा होती है।" नये आन्दोलन के साथ साहित्य मे यह धारणा चल पडी कि "कला का मूल कलाकार के जीवन मे नही होता। कवि के यन्त्र भाषा और शब्द हैं, जिनसे वह कला की सृष्टि करता है। कला कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही होती। वह तो व्यक्तित्व से पलायन करती है।"

इलियट के मतो का प्रभाव कुछ लोगो पर यह पडा कि कवि होने के लिए

किसी और शक्ति की आवश्यकता नही है। कवि को केवल हुनरमन्द, मेहनती, मौलिक और बुद्धि से तेज होना चाहिए। कोई आश्चर्य नही कि ज्यो-ज्यो नया आन्दोलन आगे बढा, कविता के पाठक घटने लगे और, उसी परिमाण मे, काव्य रचनेवाला की सख्या बडी होने लगी।

चित्रवादी कवि कविता के विशिष्ट कलाकार हो गये। कविता के सामान्य पाठकों से उनका सम्बन्ध छिन्न हो गया और वे अपनी तुष्टि एव अपने मित्रो के सतोष को अलम् मान कर नयी चेतना को नये ढग से अभिव्यक्त करने मे एकचित्त होकर लग गये।

शुद्धता को लक्ष्य बनाकर चलनेवाले आन्दोलन से आशा यह थी कि कविता किसी स्वर्ण-काल मे प्रवेश करनेवाली है। लेकिन, श्रद्धा विश्वास और किसी सुदृढ दृष्टिबोध के अभाव मे कविगण सतही होने लगे। जिस युग मे बौद्धिक, नैतिक और कलात्मक मूल्य बिखर रहे हो, उस युग म इन्द्रियो का देखना ही सही देखना रह जाता है। अतएव, सभी कविताओ मे दृश्य सौन्दर्य की चिनगारियो की भरमार हो उठी। किन्तु, ये चिनगारियाँ केवल अपने आपको ही दिखाती थी, उनके भीतर मे कुछ और चीज दिखायी नही देती थी। इस काल के प्राय सभी कवियो मे हम मिरगी से पीडित नये मनुष्य की विशृखल चेतना के खडित रूप देखते हैं। उस चेतना के साथ सस्कृति की कुछ चिन्दियाँ भी हैं, परम्परा की कुछ धुँधली स्मृतियाँ भी हैं। किन्तु उनकी सबसे बडी पूँजी ऐंद्रियता की आग है। इसीलिए जब भी इस कविता के भीतर से पश्चात्ताप की यह ध्वनि निकलती है कि "हाय, हम निर्दोष क्यो नही हुए" तब वह सच्ची और बडी खूबसूरत दिखायी देती है।

बिम्बवादियों को जब समाज ने उपेक्षा की दृष्टि से देखना शुरू किया, तब भी वे हतप्रभ नही हुए। उन्होने अपने को समझाया कि यह समय बर्बरता का है और ऐसे युग म कलाएँ छोटे छोटे छिटपुट द्वीपो मे ही जी सकती है। टामस एडवर्ड हुल्म (१८८३ १९१७ ई०) अग्रेजी मे नये आन्दोलन के पुरोहित थे। उन्होने अपने अनुयायियो के ढाढस के लिए एलान किया कि 'मानवता के ठीक आगे का युग अधकारपूर्ण है। इस बर्बर काल म मूल्य, नैतिकता, धर्म और कला की सँभाल केवल वे थोडे-से लोग कर सकते हैं, जो अपने को मानवता का रत्न समझने को तैयार हो।" यह ढाढस का बहुत अच्छा तरीका था और तब से मानवता के ये रत्न आतिशबाजी खेलने मे ही लगे हुए है, किन्तु कविता और समाज के बीच जो खाई खुदी, वह आज तक नही भरी है।

अग्रेजी कविता को नयी तकनीक की आवश्यकता है, इस बात पर जोर देने के कारण चित्रवादी आन्दोलन अग्रेजी के महा आन्दोलनो म से एक है। किन्तु, चित्रवादी काल कविता का कोई बडा काल नही माना जाता है। चित्रवादी कवि कितावो मे बहुत [illegible] थे। उनका दिमागी [illegible] बहुत उच्च कोटि का

नहीं था और समकालीन वास्तविकता से तो उनका सपर्क अत्यत सक्षिप्त था। अतएव, पच्चीकारी का काम तो वे कर गुजरे, किन्तु, कविता का मानसिक पक्ष उनका दुर्बल का दुर्बल रह गया। वे विचार नहीं चाहते थे, केवल चीज चाहते थे और चीज ही उन्हे प्राप्त भी हुई।

प्रतीकवाद और अभिव्यजनावाद

कविता मे महत्त्व की धारा प्रतीकवाद की धारा थी, जो मलार्मे के समय से यूरोप मे काम करती आ रही थी। अभिव्यजनावाद और चित्रवाद, दोनो के मूल मे प्रतीकवाद की प्रेरणा रही थी। लेकिन प्रतीकवाद का उद्देश्य बिम्बवाद के उद्देश्य से अधिक गहरा और सूक्ष्म था। उसकी तकनीक बारीक थी और उसके इशारे भी ज्यादा महीन थे। चित्रवाद मानसिकता के नाम से ही भड़कता था। किन्तु, प्रतीकवाद के पीछे मानसिकता का अदृश्य, किन्तु, प्रबल आधार था। चित्रवादी कवि बिम्ब रचकर सतुष्ट हो सकते थे, किन्तु, प्रतीकवादी कवियो के लिए बिम्ब यथेष्ट नहीं थे। वे पाठकों के भीतर ठीक वही मनोदशा उत्पन्न करना चाहते थे, जिस मनोदशा मे उन्होने कविता की रचना की थी। वे ऐसी अनुभूतियो की तलाश मे रहते थे, जो बिलकुल असाधारण, बिलकुल अद्वितीय हो। स्पष्ट ही, ऐसी अनुभूतियो को भाषा मे चित्रित करना आसान काम नहीं है। इसलिए प्रतीकवादी कवि जादूगर बनना चाहते थे, मत्र की भाषा की खोज करते थे। मलार्मे ने कहा था, "कविता आत्मा के सकट की भाषा है।" लेकिन चित्रवादी कवि ऐसे शब्दो को चाहते थे, जो बिम्ब-विधान मे सहायक हो सकें, भावो और अनुभूतियो को चित्रो मे ढालने का काम कर सकें। किन्तु, प्रतीकवादियो की आसक्ति उन शब्दो पर थी, जो जड मे से चेतन को निकाल सकें, उसे ऊँचा उठाकर अमरता प्रदान कर सकें। चित्रकाव्य केवल अभिधा और लक्षणा के सहारे भी जी सकता है। प्रतीक काव्य का सारा आधार ध्वनि है। प्रतीकवादी कविता चित्रकारी पर सतोष कर सकती है या नहीं, यह उत्तेजक प्रश्न है। सान्त को अनन्त से मिलाने का सारा काम चित्रकारी का काम नहीं हो सकता। उसके पीछे मानसिकता का पूरा हाथ रहेगा, नहीं तो ध्वनि अपना काम नहीं कर सकेगी। प्रतीक जितनी बातो का प्रतिनिधित्व करता है, उससे बहुत अधिक को वह सकेतित करता है।

इलियट और एजरा पौण्ड चित्रवादी आन्दोलन मे अवश्य पड़े, किन्तु, बिम्बों को उन्होने साध्य नहीं, साधन के रूप मे स्वीकार किया। जब वे अपना कवि-जीवन आरम्भ कर रहे थे, उस समय उन पर प्रतीकवाद का प्रभाव था। यह प्रभाव उन पर अन्त तक बना रहा। चित्रवादी आन्दोलन के समय आविर्भूत होनेवाले अगरेजी के तीनो महाकवि (यट्स, एजरा पौण्ड और इलियट) प्रतीकवादी हुए,

किसी और शक्ति की आवश्यकता नहीं है। कवि को केवल हुनरमन्द, मेहनती, मौलिक और बुद्धि से तेज होना चाहिए। कोई आश्चर्य नहीं कि ज्यो-ज्यो नया आन्दोलन आगे बढा, कविता के पाठक घटने लगे और, उसी परिमाण मे, काव्य रचनेवालो की सख्या बडी होने लगी।

चित्रवादी कवि कविता के विशिष्ट कलाकार हो गये। कविता के सामान्य पाठको से उनका सम्बन्ध छिन्न हो गया और वे अपनी तुष्टि एव अपने मित्रो के सतोष को अलम् मान कर नयी चेतना को नये ढग से अभिव्यक्त करने मे एकचित्त होकर लग गये।

शुद्धता को लक्ष्य बनाकर चलनेवाले आन्दोलन से आशा यह थी कि कविता किसी स्वर्ण-काल मे प्रवेश करनेवाली है। लेकिन, श्रद्धा, विश्वास और किसी सुदृढ दृष्टिबोध के अभाव मे कविगण सतही होने लगे। जिस युग मे बौद्धिक, नैतिक और कलात्मक मूल्य बिखर रहे हो, उस युग मे इन्द्रियो का देखना ही सही देखना रह जाता है। अतएव, सभी कविताओ मे दृश्य सौन्दर्य की चिनगारियो की भरमार हो उठी। किन्तु, ये चिनगारियाँ केवल अपने-आपको ही दिखाती थी, उनके भीतर से कुछ और चीज दिखायी नही देती थी। इस काल के प्राय सभी कवियो मे हम मिरगी से पीडित नये मनुष्य की विशृखल चेतना के खडित रूप देखते हैं। उस चेतना के साथ सस्कृति की कुछ चिन्दियाँ भी है, परम्परा की कुछ धुँधली स्मृतियाँ भी हैं। किन्तु, उनकी सबसे बडी पूँजी ऐंद्रियता की आग है। इसीलिए जब भी इस कविता के भीतर से पश्चात्ताप की यह ध्वनि निकलती है कि "हाय, हम निर्दोष क्यो नही हुए," तब वह सच्ची और बडी खूबसूरत दिखायी देती है।

बिम्बवादियो को जब समाज ने उपेक्षा की दृष्टि से देखना शुरू किया, तब भी वे हतप्रभ नही हुए। उन्होने अपने को समझाया कि यह समय बर्बरता का है और ऐसे युग मे कलाएँ छोटे-छोटे छिटपुट द्वीपो मे ही जी सकती है। टामस एडवर्ड हुल्म (१८८३-१९१७ ई०) अग्रेजी मे नये आन्दोलन के पुरोहित थे। उन्होने अपने अनुयायियो के ढाढस के लिए एलान किया कि 'मानवता के ठीक आगे का युग अधकारपूर्ण है। इस बर्बर काल मे मूल्य, नैतिकता, धर्म और कला की सँभाल केवल वे थोडे-से लोग कर सकते हैं, जो अपने को मानवता का रत्न समझने को तैयार हो।" यह ढाढस का बहुत अच्छा तरीका था और तब से मानवता के ये रत्न आतिशबाजी खेलने मे ही लगे हुए हैं, किन्तु कविता और समाज के बीच जो खाई खुदी, वह आज तक नही भरी है।

अग्रेजी कविता को नयी तकनीक की आवश्यकता है, इस बात पर जोर देने के कारण बिम्बवादी आन्दोलन अग्रेजी के महा आन्दोलनो मे से एक है। किन्तु, चित्रवादी काल कविता का कोई बडा काल नहीं माना जाता है। चित्रवादी कवि रिताओ मे बहुत ज्यादा रहते थे। उनका दिमागी काम कुछ बहुत उच्च कोटि का

नही था और समकालीन वास्तविकता से तो उनका सपर्क अत्यत सक्षिप्त था। अतएव, पच्चीकारी का काम तो वे कर गुजरे, किन्तु, कविता का मानसिक पक्ष उनका दुर्बल का दुर्बल रह गया। वे विचार नही चाहते थे, केवल चीज चाहते थे और चीज ही उन्हे प्राप्त भी हुई।

प्रतीकवाद और अभिव्यजनावाद

कविता मे महत्त्व की धारा प्रतीकवाद की धारा थी, जो मलार्मे के समय से यूरोप मे काम करती आ रही थी। अभिव्यजनावाद और चित्रवाद, दोनो के मूल मे प्रतीकवाद की प्रेरणा रही थी। लेकिन प्रतीकवाद का उद्देश्य चित्रवाद के उद्देश्य से अधिक गहरा और सूक्ष्म था। उसकी तकनीक बारीक थी और उसके इशारे भी ज्यादा महीन थे। चित्रवाद मानसिकता के नाम से ही भडकता था। किन्तु, प्रतीकवाद के पीछे मानसिकता का अदृश्य, किन्तु, प्रबल आधार था। चित्रवादी कवि बिम्ब रचकर सतुष्ट हो सकते थे, किन्तु, प्रतीकवादी कवियों के लिए बिम्ब यथेष्ट नही थे। वे पाठको के भीतर ठीक वही मनोदशा उत्पन्न करना चाहते थे, जिस मनोदशा मे उन्होने कविता की रचना की थी। वे ऐसी अनुभूतियो की तलाश मे रहते थे, जो बिलकुल असाधारण, बिलकुल अद्वितीय हो। स्पष्ट ही, ऐसी अनुभूतियो को भाषा मे चित्रित करना आसान काम नही है। इसलिए प्रतीकवादी कवि जादूगर बनना चाहते थे, मत्र की भाषा की खोज करते थे। मलार्मे ने कहा था, "कविता आत्मा के सकट की भाषा है।" लेकिन चित्रवादी कवि ऐसे शब्दो को चाहते थे, जो बिम्ब-विधान मे सहायक हो सकें, भावो और अनुभूतियो को चित्रो मे ढालने का काम कर सकें। किन्तु, प्रतीकवादियो की आसक्ति उन शब्दो पर थी, जो जड मे से चेतन को निकाल सकें, उसे ऊँचा उठाकर अमरता प्रदान कर सकें। चित्रकाव्य केवल अभिधा और लक्षणा के सहारे भी जी सकता है। प्रतीक काव्य का सारा आधार ध्वनि है। प्रतीकवादी कविता चित्रकारी पर सतोष कर सकती है या नही, यह उत्तेजक प्रश्न है। सान्त को अनन्त से मिलाने का सारा काम चित्रकारी का काम नही हो सकता। उसके पीछे मानसिकता का पूरा हाथ रहेगा, नही तो ध्वनि अपना काम नही कर सकेगी। प्रतीक जितनी बातो का प्रतिनिधित्व करता है, उससे बहुत अधिक का वह सकेतित करता है।

इलियट और एजरा पौण्ड चित्रवादी आन्दोलन मे अवश्य पडे, किन्तु, बिम्बो को उन्होने साध्य नही, साधन के रूप मे स्वीकार किया। जब वे अपना कवि-जीवन आरभ कर रहे थे, उस समय उन पर प्रतीकवाद का प्रभाव था। यह प्रभाव उन पर अत तक बना रहा। चित्रवादी आन्दोलन के समय आविर्भूत होनेवाले अगरेजी के तीनो महाकवि (येट्स, एजरा पौण्ड और इलियट) प्रतीकवादी हुए,

यह बात अपने आप मे अर्थपूर्ण है। इलियट और पौण्ड ने चित्रवादी आन्दोलन को खूब प्रोत्साहन दिया। किन्तु, उसकी सारी शक्ति निचोडकर वे उस आन्दोलन से आगे बढ गये। इलियट और पौण्ड ने जैसी कविताएँ लिखी, वैसी कविता और कोई भी चित्रवादी नही लिख सका था। जब वन के भीतर से इलियट और पौण्ड रूपी दो महावृक्ष ऊपर आ गये, चित्रवादी आन्दोलन समाप्त हो गया। साहित्य के आन्दोलन तभी तक चलते हैं जब तक शक्तिशाली कवि उनमे प्रवेश नही करते। शक्तिशाली कवियो के आते ही आन्दोलन गौण और काव्य प्रमुख हो जाता है। और किसी भी आन्दोलन से जनमे हुए किसी भी सच्चे कवि के बारे मे यह नहीं कहा जा सकता कि उस पर केवल उसी आन्दोलन का प्रभाव है। प्रभावशालिनी कविता जब भी प्रकट होती है, वह सभी युगो के श्रेष्ठ काव्य के समान होती है।

सुररियलिज्म और अभिव्यजनावाद

अभिव्यजनावाद, आदि से अत तक, कला का आन्दोलन है। उसका लक्ष्य जीवन नही, अभिव्यक्ति है। वह कविता के शरीर से चरबी को छाँटकर उसे चुस्त बनाना चाहता है। किन्तु सुररियलिज्म का क्षेत्र केवल कला नही, सपूर्ण जीवन है। चूंकि विचारोकी नीव पर उठाये गये मानवता के भवन टिकाऊ नही हुए, इसलिए, वह नये भवन की नीव मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियो पर रखना चाहता है। नीत्से, रेम्बू आदि के भीतर से उन्नीसवी सदी मे सभ्यता के विरुद्ध जो भी लहरें उठी थी, सुररियलिज्म अपने आपको उनसे सबद्ध मानता है। इस आन्दोलन के आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि बुद्धि के तिरस्कार से सभ्यता और कमजोर हो सकती है, किन्तु, वे आश्वत हैं कि जब तक सभ्यता के नये सोपान तैयार नही हो जाते, तब तक अराजकता ही ठीक है।

किन्तु, अभिव्यजनावाद ऐसे किसी भी ध्येय से सपृक्त नही है। वह केवल कारीगरी, पच्चीकारी और हुनर तक अपने को सीमित रखता है।

अभिव्यजनावाद कविता की शारीरिकता पर जोर देता है। वह सौन्दर्य के उतने ही रूप को ग्राह्य मानता है, जो चित्रो मे परिवर्तित किया जा सके। ज्ञान-दान और उपदेशवादिता के लिए अभिव्यजनावादी शैली मे कोई स्थान नहीं है। किन्तु सुररियलिज्म अचेतन और अवचेतन के चित्रण की कला है। ज्ञान और उपदेश के दोनो विरुद्ध हैं। दोनो आन्दोलन कविता को सामाजिक जीवन की छाया से दूर रखना चाहते हैं। अभिव्यजनावादियो ने कविता की शुद्धि के लिए जो प्रभूत आत्म-मथन किया, उससे सुररियलज्म को प्रेरणा मिली और बदले मे सुररियलिज्म ने भी अभिव्यजनावाद के उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास किया।

सुररियलिज्म ने जितनी गर्म हवा बहायी, उतनी गर्म हवा किसी और आन्दोलन से पैदा नहीं हुई थी। लेकिन, वह कोई ऐसा काव्यशास्त्र उत्पन्न न कर

सका, जो सुसबद्ध हो। वह काव्यशास्त्र से अधिक मनोविज्ञान के समीप है।

*अभिव्यजनावाद और सुररियलिज्म, दोनो ही शैलियाँ तर्क और बुद्धि की विरोधिनी हैं। मगर इस विरोध मे सुररियलिज्म अभिव्यजनावाद से बहुत आगे जाता है। वह अधिक अरूप है कम केन्द्रित और बहुत कम स्पष्ट है। और देखा यह गया है कि उसी का दुरुपयोग भी बहुत अधिक हुआ है। सुररियलिस्टो मे अच्छे कवि वे हुए, जो धीरे-धीरे एक ऐसी शैली पर आ गये, जिसमे कल्पना और भावना बुद्धि का कुछ थोडा नियत्रण स्वीकार करती है।

नयी कविता के अनेक आन्दोलन केवल उसके विभिन्न सोपान है। असल मे, सभी आन्दोलनो का ध्येय एक ही रहा है अर्थात् कविता को अधिक से अधिक अरूप बनाना, उसे अन्य विद्याओ से अधिक दूर ले जाना। तब भी मनोविज्ञान से नयी कविता कुछ समीप पडती है जिसका कारण यह है कि मनोविज्ञान आधी कविता और आधा विज्ञान है। कविगण चित्रमयता को जितना बडा गुण समझने लगे, वह उतना बडा गुण है या नही, यह प्रश्न विचारणीय है। कविता का आनन्द केवल चित्र देखने का आनन्द नही है, आम या सेब के रग या आकार देखने का आनन्द नही है। यह वह आनन्द है, जब हम देखते भी है और खाते भी हैं। अगर आम के भीतर गूदा नही है, तो केवल रगो से क्या होगा ?

निरी अभिव्यक्ति, निरे बिम्ब विधान को लक्ष्य करके कविता एक चोटी पर चढने लगी। अभियान ज्यो-ज्यो आगे बढा, कला और सत्य के बीच की दूरी भी अधिक होने लगी। शुद्ध कवित्व का लक्ष्य कवियो को प्राप्त हुआ है या नही, इसका हमे ठीक ठीक पता नही है। किन्तु, जीवन और कला का सबध पूर्ण रूप से छिन्न हो गया है, यह बात हमे भलीभाँति मालूम है। फिर भी प्रश्न उठ रहा है, सत्य कहाँ है ? वह वास्तविक जगत् मे है अथवा कवि के उस स्वप्न मे, जो हम वास्तविकता से बचाने का वायदा करता है ? उत्तर शायद उस बारीक सरहद पर मँडराता है, जिसके इस ओर निराशा है और उस ओर उन्माद, जिसके इस पार रिल्के है, और उस पार नीत्से।

कविता में दुरूहता

एक लेखक ने श्री टी० एस० इलियट से एक बार यह पूछा था कि नयी कविता मे इतनी दुरूहता क्यों है और क्या नयी कविता का दुरूह होना आवश्यक है।

कुछ सोच कर इलियट ने उत्तर दिया, "मेरा ख्याल है, दुरूहता कई कारणो से उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, एक दुरूहता तो केवल बहाना ही है। कभी कभी कवि के पास कहने की कोई गम्भीर बात तो होती नही, किन्तु, वह इस भ्रम मे पड जाता है कि उसका कथ्य बडा ही गम्भीर है। अतएव, उसके भ्रम की अभिव्यक्ति दुरूह हो जाती है।

'दुरूहता का दूसरा कारण यह है कि कवि की अनुभूति तो सच्ची होती है, किन्तु, कभी-कभी उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग कठिन होता है। यह कठिनाई प्राय नय कवियो के सामने आती है। इस प्रकार की कुछ थोडी दुरूहता मेरे 'वेस्ट लैंड' मे भी है। जो बातें मैं कहना चाहता था, वह उसी शैली मे कही जा सकती थी, अन्यथा मुझे उन्हे अनकहे ही छोड देना पडता। जैसे-जैसे कवि अपनी कला पर हावी होता जाता है, वैसे वैसे उसकी रचना की दुरूहता भी घटती जाती है।

'कभी कभी विषय के दुरूह होने से भी कविता दुरूह हो जाती है। मेरे 'क्वार्टेट्स' के पिछले दो भाग दुरूह हैं। कारण यह है कि उनमें जो विचार अभिव्यक्त किये गये हैं, दुरूहता उन विचारो के साथ लिपटी हुई है।

"एक तरह की दुरूहता तब उत्पन्न होती है, जब बातें बिलकुल नये ढग से कही जाती हैं। यह लक्षण चित्रों मे भी देखा गया है। पहले चित्र देखने का हमारा एक खास ढग था। अब जो चित्र बनते है, उन्हे हमे एक दूसरे ढग से देखना चाहिए लेकिन चूंकि चित्रो के देखने का नया ढग हमने नही अपनाया है, इसलिए नये चित्र हमे दुरूह दिखायी देते है।

'अन्त मे एक यह बात भी है कि कला की जो भी कृतियाँ सबसे ऊँची, सबसे गम्भीर हैं, उन्हे पढते समय हमे कभी यह विश्वास नही होता कि हम ऐसे विन्दु पर पहुच गये हैं, जहाँ सारा का सारा अर्थ हमारी समझ में आ रहा है। यह लक्षण मुख्यत सभी देशो की वाइबिलो पर घटित होता है।'

जैसे सभी प्रकार की कविताओ मे शुद्ध कवित्व वाली कविताएँ हमेशा हीरो

की तरह चमकती रही हैं, उसी प्रकार, सभी युगो मे लोग यह भी समझते रहे हैं कि प्रसाद कविता का चाहे जितना भी बडा गुण हो, किन्तु अस्पष्टता या दुरूहता से कविता की शक्ति और सुन्दरता घटती नही, कुछ और निखार पाती है, बल्कि, अस्पष्टता श्रेष्ठ काव्य का दूषण नही, भूषण है।

नयी कविता के उत्थान के साथ दुरूहता के आयामो मे वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु, उसके कुछ आयामो का पता पहले के भी आचार्यों को था। दुरूहता इसलिए स्वीकार्य थी कि वह ध्वनि के गाभीर्य से उत्पन्न होती है और ध्वनि काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है। ध्वनि-काव्य ऐसा हो सकता है, जिससे निकलनेवाली किरणें अनेक दिशाओ मे छिटक रही हो और पाठक यह निश्चित न कर सके कि इस काव्य का कौन सा अर्थ अभिप्रेत है। जब ध्वनि की किरणें अनेक दिशाओं मे छिटकने लगें, तब किसी एक अर्थ पर अडने का आग्रह करनेवाला पाठक सही नही होता। और अनेक अर्थों के बीच सामजस्य का सूत्र नही पा सकने के कारण वह कविता को दुरूह मान लेता है। पाठक सामान्यत तर्क के अनुसार चलते हैं और शब्दो के अर्थ भी वे अपनी तर्क-बुद्धि के ही अनुसार निकालना चाहते हैं। किन्तु, यह पद्धति सर्वत्र कारगर नही होती। ऐसी कविताएँ होती है, जिनमे शब्द और अर्थ अपने को गुणीभूत करके किसी विशेष अर्थ का सकेत देते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसे काव्य को भी सर्वश्रेष्ठ काव्य माना है। दुरूहता की महिमा प्राचीनो को भी स्वीकार्य थी। वे मानते थे कि काव्य का सच्चा सौन्दर्य, "रेशमी वस्त्र मे झिलमिलाते हुए कामिनी के लावण्य की भाँति है। 'काव्य के अर्थ का सच्चा सौन्दर्य नातिविहित तथा नातिपरिस्फुट रहने मे ही है।

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरोस्तन इवातितरां निगूढ़. ।
अर्थो गिरामपिहित. पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्ठवधू - कुचाभ ।

कवि आखर अरु तिय सुकुच
अध उघरे सुख देत ।
अधिक ढकेहु सुख देत नहीं,
उघरे महा अहेत ।

काव्यगत दुर्बोधता को ध्वनित करने के लिए अगरेजी मे दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक शब्द है, 'आब्सक्योरिटी', जिसका अर्थ अधकार है। दूसरा शब्द है 'एम्बिगिटी', जिसका अर्थ सदिग्धता अथवा सदिग्धार्थता करना चाहिए। अर्थ मे सदेह केवल इसी कारण उत्पन्न नही होता कि कवि जिस विषय पर लिख रहा है, वह अत्यत जटिल तथा गूढ है एव उसके अनुरूप भाषा कवि को आसानी से

नही मिल रही है। अर्थ सदेह वहाँ भी आ जाता है, जहाँ कवि व्याकरण की अवहेलना करता है अथवा उसके वाक्य विवक्षा-दोष से पीडित होते है अथवा उसके प्रयोग सामान्य तर्क के विरुद्ध होते है। सदिग्धार्थता का दोष भाषा की असमर्थता का दोष है, उसके दुष्प्रयोग से उत्पन्न दुर्बलता है। किन्तु, आब्सक्योरिटी या सान्धकारता दोष वही हो सकती है, जहाँ कवि जान बूझ कर उच्चता या गाभीर्य का ढोंग रच रहा हो, जबकि कहने योग्य कोई भी ऊँची बात उसके पास नही है। अन्यथा अधकार-जन्य दुरूहता साहित्य मे हमेशा आदर की वस्तु रही है।

गगन गरजि बरसै श्रमी, बादल गहिर, गभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥

कबीरदास जी की ये पक्तिया 'आब्सक्योर' हैं, 'एम्बिगुअस' नही। इनकी दुरूहता भाषा के दुष्प्रयोग अथवा व्याकरण की अवहेलना से उत्पन्न नही हुई है, बल्कि वह भाषा की असमर्थता का परिणाम है। कबीरदास योग अथवा अध्यात्म की जिस ऊँचाई से बोल रहे है, उसकी अभिव्यक्ति के योग्य भाषा उपलब्ध नही दीखती। किन्तु, कबीर की अनुभूति सच्ची थी, यह इस बात से प्रमाणित है कि कवि के भीतर अभिव्यक्ति की खोज है। वह किसी न किसी गूढ स्थिति का हमे आभास देना चाहता है, किन्तु सम्यक् भाषा के अभाव मे वह अपनी बात पूरी स्पष्टता के साथ नही कह पाता।

किन्तु,

गगन को धो देता राकेश
चाँदनी मे जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
बता दो मधु मदिरा का मोल।

महादेवीजी की ये पक्तियाँ सदिग्धार्थता के दोष से पीडित है, क्योकि यहाँ व्याकरण की दृष्टि से विवक्षा दोष है और इस विवक्षा के शमन का कोई उपाय नही है।

जिस सकट का सामना रहस्यवादी करता है, लगभग वैसे ही सकट का सामना बडे कवियो को भी करना पडता है। सभव है, ऐसे अवसर जीवन मे दो-एक बार ही आयें, मगर कवि की मनोदशा ऐसी होती है जब उसे शब्दो और विचारो की सामान्य भूमि से बाहर निकलकर ऐसी प्रेरणा का साक्षात् करना पडता है, जो सृष्टि के मूल से उठकर आती है और प्रचलित भाषा मे अभिव्यक्त होने से इनकार करती है। उस समय कवि के सामने दो ही विकल्प रह जाते हैं। या तो वह लिखना छोड दे अथवा अपूर्ण भाषा के भीतर अपनी असीम प्रेरणा को, किसी न किसी तरह, समेटने का प्रयास करे। कवि के भीतर, स्वभावत ही, असभव को सभव बनाने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए कभी तो अपूर्ण भाषा के

नहीं मिल रही है। अर्थ-सदेह वहाँ भी आ जाता है, जहाँ कवि व्याकरण की अवहेलना करता है अथवा उसके वाक्य विवक्षा-दोष से पीडित होते हैं अथवा उसके प्रयोग सामान्य तर्क के विरुद्ध होते हैं। सदिग्धार्थता का दोष भाषा की असमर्थता का दोष है, उसके दुष्प्रयोग से उत्पन्न दुर्बलता है। किन्तु, आब्सक्योरिटी या सान्धकारता दोष वही हो सकती है, जहाँ कवि जान-बूझ कर उच्चता या गाभीर्य का ढोग रच रहा हो, जबकि कहने योग्य कोई भी ऊँची बात उसके पास नही है। अन्यथा अधकार-जन्य दुरूहता साहित्य मे हमेशा आदर की वस्तु रही है।

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर, गभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥

कबीरदास जी की ये पक्तिया 'आब्सक्योर' हैं, 'एम्बिगुअस' नही। इनकी दुरूहता भाषा के दुष्प्रयोग अथवा व्याकरण की अवहेलना से उत्पन्न नही हुई है, बल्कि वह भाषा की असमर्थता का परिणाम है। कबीरदास योग अथवा अध्यात्म की जिस ऊँचाई से बोल रहे हैं, उसकी अभिव्यक्ति के योग्य भाषा उपलब्ध नही दीखती। किन्तु, कबीर की अनुभूति सच्ची थी, यह इस बात से प्रमाणित है कि कवि के भीतर अभिव्यक्ति की खाज है। वह किसी न किसी गूढ स्थिति का हमे आभास देना चाहता है, किन्तु सम्यक् भाषा के अभाव मे वह अपनी बात पूरी स्पष्टता के साथ नही कह पाता।

किन्तु,

गगन को धो देता राकेश
चाँदनी मे जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
बता दो मधु मदिरा का मोल।

महादेवीजी की ये पक्तियाँ सदिग्धार्थता के दोष से पीडित है, क्योकि यहाँ व्याकरण की दृष्टि से विवक्षा-दोष है और इस विवक्षा के शमन का कोई उपाय नहीं है।

जिस सकट का सामना रहस्यवादी करता है, लगभग वैसे ही सकट का सामना बडे कवियो को भी करना पडता है। सभव है, ऐसे अवसर जीवन मे दो-एक बार ही आयें, मगर कवि की मनोदशा ऐसी होती है जब उसे शब्दो और विचारो की सामान्य भूमि से बाहर निकलकर ऐसी प्रेरणा का साक्षात् करना पडता है, जो सृष्टि के मूल से उठकर आती है और प्रचलित भाषा मे अभिव्यक्त होने से इनकार करती है। उस समय कवि के सामने दो ही विकल्प रह जाते है। या तो वह लिखना छोड दे अथवा अपूर्ण भाषा के भीतर अपनी असीम प्रेरणा को, किसी न किसी तरह, समेटने का प्रयास करे। कवि के भीतर, स्वभावतः ही, असभव को सभव बनाने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए कभी तो अपूर्ण भाषा के

भीतर से वह पूर्ण की झाँकी देता है और कभी नये रूपको का विधान करता है और कभी-कभी भाषा के साथ हिंसा का बर्ताव भी कर डालता है। किन्तु, ये सभी अपराध इसलिए क्षम्य हो जाते हैं कि पाठको के हृदय पर यह प्रभाव पडता है कि कवि, सचमुच ही, किसी सच्ची स्थिति का सकेत दे रहा है।

सभी दुरूहताएँ स्थायी नही होती। जब छायावादी युग आरभ हुआ था, छायावाद की बहुत-सी कविताएँ दुरूह दिखायी देती थी, किन्तु, अब वे दुरूह नही है। निरालाजी की 'राम की शक्ति पूजा' प० रामनरेश त्रिपाठी को बिलकुल दुरूह प्रतीत हुई थी, किन्तु, अब वह कविता किसी को भी दुरूह नही लगती। अपनी भाषा से भिन्न भाषा मे कविता पढते समय हमे एक प्रकार की दुरूहता का बोध होता है, किन्तु, जब भाषा की दीवार खत्म हो जाती है, कविता का सार हमारे सामने उद्भासित हो उठता है।

यह भी देखा गया है कि जो रचना सर्वथा मौलिक होती है, वह जनसाधारण को दुरूह प्रतीत होती है। किसी भी सर्वथा मौलिक कृति को, प्रकाशन के साथ ही, जनता का सम्मान नही मिलता। जनता तो हमेशा उन कृतियो का स्वागत करने को तैयार रहती है, जो नवीन होने पर भी परपरा से अधिक दूर न हो। मौलिक कृतियो को अपना श्रोता आप तैयार करना पडता है। और मौलिक कृतियो को ठुकराने की भावना जनसाधारण मे ही नहीं होती, कभी-कभी कला के विशेषज्ञ भी इस भावना के शिकार हो जाते हैं। आन्द्रे जीद जब एक प्रकाशन-गृह के सलाहकार थे, तब उन्होने प्राउस्ट के एक उपन्यास को छापने से इनकार कर दिया था। ब्लेक की कविताएँ जब ले हट की समझ मे नहीं आयी, तब उन्होने यह बात कही थी कि "ब्लेक पागल है और वह अगर पागलखाने मे भेजा नही गया है, तो इसका कारण यह है कि उसका पागलपन कुछ मद्धिम किस्म का है'। ब्लेक को वर्ड्सवर्थ भी पागल समझते थे। और इन लोगो की देखा-देखी प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी ब्लेक को नकली रहस्यवादी मान लिया था। किन्तु, अब सभी लोग मानते हैं कि ब्लेक अत्यंत उच्च कोटि के कवि थे।

किन्तु, ऐसी भी दुरूहताएँ हैं, जो हमेशा कायम रहती हैं। मलार्मे जितने दुरूह अपने जीवन-काल मे थे, उतने ही दुरूह आज भी है और केवल विदेशियो के लिए ही नही, फासीसी पाठको के लिए भी। यही हाल रिल्के का भी है। काल के प्रभाव से इन कवियो की अस्पष्टता मे कोई भी कमी नही हुई। जिन कवियो की दुरूहता कथ्य की अनिर्वचनीयता के कारण है, वे हमेशा दुरूह रहेगे। रहस्यवादी कबीर इसी कारण दुरूह हैं। और जो कवि दुरूह इसलिए हैं कि उनकी सदिग्धार्थता का कारण भाषा के प्रयोग मे गड़ा है, वे भी हमेशा दुरूह रहगे। महादेवीजी, माखनलाल जी और निरालाजी की कृतियो मे ऐसे कुछ स्थल हैं, जिनको दुरूहता भाषा के विचित्र प्रयोग के कारण है। ये दुरूहताएँ हमेशा बनी रहनेवाली हैं।

कवि की काव्य-सम्बन्धी धारणा जैसे-जैसे बदली है, वैसे ही वैसे काव्य में दुरूहता की वृद्धि होती आयी है। साहित्य में जब प्रतीकों का प्रयोग सीमित था, दुरूहता की मात्रा भी अल्प थी। जब प्रतीकों का प्राधान्य हो उठा, दुरूहता घनीभूत हो गयी। नयी कविता पर दुरूहता का जैसा आक्षेप है, वैसे ही आक्षेप रवीन्द्रनाथ पर उस समय लगाये गये थे, जब उनकी "सोनार तरी" नामक कविता प्रकाशित हुई थी। बादलेयर के समय उनकी कविता बहुत दुरूह समझी जाती थी, किन्तु, रिल्के के पार्श्व में बिठाकर देखें तो बोदलेयर बहुत ही प्रसन्न दिखायी देंगे। और खुद रिल्के हम जितने भी दुरूह दिखायी दें, किन्तु, सेंट जाँ पर्स की तुलना में वे काफी स्पष्ट है।

पश्चिम की नयी कविता दुरूह है, यह सभी लोग मानते हैं और स्वय कविगण भी इस आक्षेप का खंडन नहीं कर सकते। किन्तु, यह दुरूहता लगभग सत्तर वर्षों से क्यों बरकरार है, यह सबकी समझ में नहीं आता। यदि यह बात सत्य होती कि अपनी कला पर कवि का अधिकार जैसे-जैसे बढता है, वैसे-वैसे उसकी दुरूहता छीजती जाती है, तो अधिकांश कवियों की प्रौढ उम्र की रचनाएँ प्रसादपूर्ण हुई होतीं। किन्तु, यह बात नहीं है। दुरूहता के प्रश्न को हम यह कहकर भी नहीं टाल सकते कि ससार में समर्थ कवियों के जन्म का मुहूर्त्त समाप्त हो गया, अब जो भी कवि जन्म लेते हैं, वे असमर्थ होते हैं। वास्तव में, दुरूहता का मूल इससे कुछ अधिक गहराई में है। वह कवि का अभ्यास-जनित दोष नहीं है, उसकी शक्ति के अभाव का सूचक नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध उस शैली से है, जिसका जन्म एक नयी मनोदशा, एक नये 'विजन', एक नयी दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। नयी कविता दुरूह मुख्यत इसलिए है कि नये कवि की दुनिया दुरूह है। वह एक ऐसी उलझी हुई विपण्ण स्थिति का सामना कर रहा है, जिसका वर्णन सफाई के साथ नहीं किया जा सकता। नया कवि जब भी बोलेगा, कहीं न कहीं, दुरूहता उसके साथ रहेगी। दुरूह सकेतों से उसका कुछ काम चल जाता है। अगर पारपरीण प्रसाद के लिए दुराग्रह किया जाय, तो वह मौन हो जाना ज्यादा पसन्द करेगा। धन को वह छोड चुका है, यश को वह अपनी पहुँच से परे मानता है, लोकप्रियता का लोभ उसे नहीं है। इतने पर भी अगर समाज उससे पुरानी सुस्पष्टता की माँग करे, तो केवल हँस देने के सिवा वह और कर क्या सकता है ?

किन्तु, कवि को इस स्थिति में पहुँचानेवाला कौन है ? या तो समाज ने कवि को दबा कर, उसकी उपेक्षा करके उसे बेकार कर दिया है। अथवा स्वय कवि ही अपनी कला को विकसित करके उस जगह पहुँच गया है, जहाँ उसका कोई भी सामाजिक उपयोग नहीं है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि श्रोताओं की विशाल सख्या के बिना कोई भी कला ज्यादा दिन नहीं टिक सकती, तो कहना यह पडेगा कि काव्य की सामाजिक स्थिति को कमजोर करने का अपराध स्वय

कवि ने किया है। उसने समाज को यह अवसर क्यों दिया कि वह उसकी उपेक्षा करे अथवा अपनी कला का विकास उसने इतनी दूर तक क्यों किया कि वह समाज के लिए अनुपयोगी हो गयी ?

लेकिन एक दूसरी दृष्टि से देखने पर यह प्रश्न ही हास्यास्पद बन जाता है। यह वैसा ही प्रश्न है जैसा यह कि फ्रास ने इतनी अधिक सभ्यता क्यों सीखी कि *हिटलर का आक्रमण झेलना उसके लिए असंभव हो गया ? अथवा भारत ने अहिंसा* और वैराग्य की इतनी साधना क्यों की कि वह पराधीन हो गया ? अथवा विज्ञान ने इतनी प्रगति क्यों की कि वह मानवता का शाप बन गया ?

नये कवि काल की महिमा को नहीं मानते। वे अपने को काल-मुक्त समझते हैं। किन्तु, यह कभी-कभी ही सत्य होता है। सामान्य नियम तो यही देखा गया है कि काल की अनुभूतियों के परिवर्तन से साहित्य की अनुभूतियाँ, आप से आप, परिवर्तित हो जाती हैं। कवि वह संवेदनशील यंत्र है, जिसके भीतर से काल अपनी आन्तरिक पीड़ाओं को अभिव्यक्ति देता है। कवि वह दर्पण है, जिसमें समकालीन *समाज की मुद्रा और मानसिकता प्रतिफलित होती है। कविता में हम जैसा परि*वर्तन आज देख रहे हैं, वैसा घनघोर परिवर्तन और कभी देखने में नहीं आया था। मध्यकालीन काव्य से रोमांटिक काव्य जितना भिन्न था, आज की कविता रोमांटिक कविता से उससे कहीं अधिक भिन्न हो गयी है। इसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य के चिंतन, स्वभाव और परिवेश में जो परिवर्तन पिछले सौ वर्षों में घटित हुए हैं, उतना बड़ा परिवर्तन पहले कभी और देखने में नहीं आया था।

नक्शे के भीतर अगर यूरोप के आदमी को बिठाकर देखें, तो दिखायी यह देता है कि सन् १८५० का आदमी आज के आदमी से बिलकुल भिन्न था। १८५० *का आदमी यह समझता था कि दुनिया भगवान की बनायी हुई है और भगवान ने* इस संसार की रचना ईसा के जन्म से सिर्फ चार हजार वर्ष पहले की थी। यह भी कि आदमी पहले देवता था। देवत्व का भार नहीं सँभाल सकने के कारण वह आदमी हो गया। किन्तु, जब डारविन की जीवों की उत्पत्ति-विषयक पुस्तक प्रकाशित हुई, भूगर्भशास्त्र का विकास हुआ और ऐतिहासिक अनुसन्धानों से मनुष्य के अतीत की जानकारी हासिल हुई, मनुष्य के सभी प्रकार के धार्मिक विश्वास क्षीण होने लगे। उसके बाद जीव-शास्त्र, मनोविज्ञान और आचरणवाद के अनुसंधानों ने और भी क्रान्ति उपस्थित कर दी तथा मनुष्य यह मानने लगा कि मूलतः वह अन्य जीवों से भिन्न नहीं है एवं वह संयम, धर्म, नैतिकता आदि के जो महल खड़े करता है, वे प्रकृति के एक ही झटके से टूट कर खड-खड हो जाते हैं। धर्म के भाव मनुष्य को सँभालकर सिंहासन पर आसीन नहीं रख सके। वह लुढ़क कर नीचे *आ गया तथा उसका यह अहंकार चूर्ण हो गया कि भगवान ने उसे जीवों का* सिरताज बनाया था।

विज्ञान ने मनुष्य के सोचने की दिशा ही नहीं बदली, उसने उसके परिवेश को भी बदल दिया। जो किसान थे, वे मजदूर हो गये। जो राजा और नवाब थे, वे नौकर और व्यापारी बनने लगे। जो लोग महलों, मन्दिरों, कुटीरों और ठाकुरवाड़ियों में रहते थे, वे वहाँ से उठकर विज्ञान के नगर में चले आये, जहाँ सुख और स्वास्थ्य का सुन्दर प्रबन्ध है। किन्तु, इस नगर में मानवीय उदारता नहीं है, युगों के पूजित शील नहीं हैं, न शान्ति और सहजता के भाव हैं। मनुष्य पहले गरीब था, मगर, तब वह हरियालियों के पास रहता था। अब वह अमीर है, मगर रेगिस्तान में बसता है। मनुष्य पहले अपने परिवेश को कम जानता था, मगर, इसीलिए वह अपनी आलोचना भी थोड़ी ही करता था। जब दुनिया अँधेरी थी, आसमान साफ था। जब दुनिया रोशनी से भर गयी, आसमान पर अँधियाली छा गयी। पहले मनुष्य को सत्य वहाँ भी दिखायी देता था, जहाँ सचमुच सत्य नहीं था। अब जो सत्य है, उस पर भी मनुष्य को विश्वास नहीं होता।

जब ऐसी स्थिति आ गयी, कवि का घबराहट से भर जाना स्वाभाविक बात थी। ऐसी स्थिति में अपनी सामाजिकता बनाये रखने के लिए वह करता तो क्या करता? दलीलें कहती थीं कि विज्ञान का विरोध करो। किन्तु, विज्ञान का विरोध मनुष्यता की प्रगति का नहीं तो और किसका विरोध है? दलीलें कहती थीं, धर्म को बचाओ। किन्तु, बुद्धिवाद जिसका विरोध करे, उसकी रक्षा का जिम्मा कौन ले सकता है? समाज ने यह भी चाहा कि साहित्य पुरानी नैतिकता का पक्ष ले। किन्तु, साहित्य समझ चुका था कि नैतिकता के विषय में जीव-शास्त्र और मनोविज्ञान के मत क्या हैं। निदान, कवि ने अपने सामाजिक दायित्व से नाता तोड़ लिया और वह उस उपाय की खोज में निकल पड़ा, जिसके जरिये कविता अब भी अपने को जीवित रख सकती थी।

उन्नीसवीं सदी के नये कवियों ने कविता के लिए सर्वथा नयी भूमि खोज निकालने के लिए जितनी माथापच्ची की, उतनी माथापच्ची किसी और युग के कवि ने नहीं की थी। कविता हमेशा प्रकाश में घूमती आयी थी। नये कवि उसे अपने भीतर के अंधकार में ले गये। मन की अपेक्षा अन्तर्मन की महिमा साहित्य में प्रधान होने लगी और कविगण काव्य के मूल-उत्स की खोज में अपनी आत्मा की गहराइयों में डूबने लगे। यहीं से साहित्य में अर्थ की बाधा बढ़ने लगी, क्योंकि ये कवि (नीत्शे, रेम्बू, मलार्मे, लफूर्ज आदि) जिस वस्तु को पकड़ना चाहते थे, वह वस्तु पकड़ में आने से इनकार करती थी। इन कवियों की कविताएँ पढ़ते समय यह स्पष्ट दिखायी देता है कि वे जिस वास्तविकता को अभिव्यक्त करना चाहते हैं, वह वास्तविकता भाषा में ठीक से नहीं समाती है, शब्दों और विचारों के बीच ठीक से नहीं अँट पाती है। तब भी वे भाषा को तानते जाते हैं, इतना तानते जाते हैं कि अन्त में वह चरमराकर

कवि ने किया है। उसने समाज को यह अवसर क्यों दिया कि वह उसकी उपेक्षा करे अथवा अपनी कला का विकास उसने इतनी दूर तक क्यों किया कि वह समाज के लिए अनुपयोगी हो गयी?

लेकिन एक दूसरी दृष्टि से देखने पर यह प्रश्न ही हास्यास्पद बन जाता है। यह वैसा ही प्रश्न है जैसा यह कि फ्रास ने इतनी अधिक सभ्यता क्यों सीखी कि हिटलर का आक्रमण झेलना उसके लिए असभव हो गया? अथवा भारत ने अहिंसा और वैराग्य की इतनी साधना क्यो की कि वह पराधीन हो गया? अथवा विज्ञान ने इतनी प्रगति क्यों की कि वह मानवता का शाप बन गया?

नये कवि काल की महिमा को नही मानते। वे अपने को काल-मुक्त समझते हैं। किन्तु, यह कभी-कभी ही सत्य होता है। सामान्य नियम तो यही देखा गया है कि काल की अनुभूतियो के परिवर्तन से साहित्य की अनुभूतियाँ, आप से आप, परिवर्तित हो जाती हैं। कवि वह सवेदनशील यत्र है, जिसके भीतर से काल अपनी आन्तरिक पीड़ाओं को अभिव्यक्ति देता है। कवि वह दर्पण है, जिसमे समकालीन समाज की मुद्रा और मानसिकता प्रतिफलित होती है। कविता मे हम जैसा परिवर्तन आज देख रहे हैं, वैसा घनघोर परिवर्तन और कभी देखने मे नही आया था। मध्यकालीन काव्य से रोमाटिक काव्य जितना भिन्न था, आज की कविता रोमाटिक कविता से उससे कही अधिक भिन्न हो गयी है। इसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य के चिंतन, स्वभाव और परिवेश मे जो परिवर्तन पिछले सौ वर्षों मे घटित हुए हैं, उतना बड़ा परिवर्तन पहले कभी और देखने में नहीं आया था।

नक्शे के भीतर अगर यूरोप के आदमी को बिठाकर देखें, तो दिखायी यह देता है कि सन् १८५० का आदमी आज के आदमी से बिलकुल भिन्न था। १८५० का आदमी यह समझता था कि दुनिया भगवान की बनायी हुई है और भगवान ने इस ससार की रचना ईसा के जन्म से सिर्फ चार हजार वर्ष पहले की थी। यह भी कि आदमी पहले देवता था। देवत्व का भार नही सँभाल सकने के कारण वह आदमी हो गया। किन्तु, जब डारविन की जीवो की उत्पत्ति-विषयक पुस्तक प्रकाशित हुई, भूगर्भशास्त्र का विकास हुआ और ऐतिहासिक अनुसन्धानो से मनुष्य के अतीत की जानकारी हासिल हुई, मनुष्य के सभी प्रकार के धार्मिक विश्वास क्षीण होने लगे। उसके बाद जीव-शास्त्र, मनोविज्ञान और आचरणवाद के अनुसधानो ने और भी क्रान्ति उपस्थित कर दी तथा मनुष्य यह मानने लगा कि मूलत. वह अन्य जीवो से भिन्न नही है एव वह सयम, धर्म, नैतिकता आदि के जो महल खड़े करता है, वे प्रकृति के एक ही झटके से टूट कर खड-खड हो जाते है। धर्म के भाव मनुष्य को सँभालकर सिंहासन पर आसीन नही रख सके। वह लुढक कर नीचे आ गया तथा उसका यह अहकार चूर्ण हो गया कि भगवान ने उसे जीवो का सिरताज बनाया था।

कवि की काव्य-सम्बन्धी धारणा जैसे-जैसे बदली है, वैसे ही वैसे काव्य मे दुरूहता की वृद्धि होती आयी है। साहित्य मे जब प्रतीकों का प्रयोग सीमित था, दुरूहता की मात्रा भी अल्प थी। जब प्रतीकों का प्राधान्य हो उठा, दुरूहता घनीभूत हो गयी। नयी कविता पर दुरूहता का जैसा आक्षेप है, वैसे ही आक्षेप रवीन्द्रनाथ पर उस समय लगाये गये थे, जब उनकी "सोनार तरी" नामक कविता प्रकाशित हुई थी। बोदलेयर के समय उनकी कविता बहुत दुरूह समझी जाती थी, किन्तु, रिल्के के पार्श्व मे बिठाकर देखें तो बोदलेयर बहुत ही प्रसन्न दिखायी देंगे। और खुद रिल्के हमे जितने भी दुरूह दिखायी दें, किन्तु, सेंट जॉ पर्स की तुलना मे वे काफी स्पष्ट हैं।

पश्चिम की नयी कविता दुरूह है, यह सभी लोग मानते हैं और स्वय कविगण भी इस आक्षेप का खडन नही कर सकते। किन्तु, यह दुरूहता लगभग सत्तर वर्षों से क्यो बरकरार है, यह सबकी समझ मे नही आता। यदि यह बात सत्य होती कि अपनी कला पर कवि का अधिकार जैसे-जैसे बढता है, वैसे-वैसे उसकी दुरूहता छीजती जाती है, तो अधिकाश कवियो की प्रौढ उम्र की रचनाएँ प्रसादपूर्ण हुई होती। किन्तु, यह बात नहीं है। दुरूहता के प्रश्न को हम यह कहकर भी नही टाल सकते कि ससार मे समर्थ कवियो के जन्म का मुहूर्त्त समाप्त हो गया, अब जो भी कवि जन्म लेते हैं, वे असमर्थ होते हैं। वास्तव मे, दुरूहता का मूल इससे कुछ अधिक गहराई मे है। वह कवि का अभ्यास-जनित दोष नही है, उसकी शक्ति के अभाव का सूचक नही है, बल्कि उसका सम्बन्ध उस शैली से है, जिसका जन्म एक नयी मनोदशा, एक नये 'विज़न', एक नयी दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। नयी कविता दुरूह मुख्यतः इसलिए है कि नये कवि की दुनिया दुरूह है। वह एक ऐसी उलझी हुई विपण्ण स्थिति का सामना कर रहा है, जिसका वर्णन सफाई के साथ नही किया जा सकता। नया कवि जब भी बोलेगा, कही न कही, दुरूहता उसके साथ रहेगी। दुरूह सकेतो से उसका कुछ काम चल जाता है। अगर पारपरीण प्रसाद के लिए दुराग्रह किया जाय, तो वह मौन हो जाना ज्यादा पसन्द करेगा। धन को वह छोड चुका है, यश को वह अपनी पहुँच से परे मानता है, लोकप्रियता का लोभ उसे नही है। इतने पर भी अगर समाज उससे पुरानी सुस्पष्टता की माँग करे, तो केवल हँस देने के सिवा वह और कर क्या सकता है ?

किन्तु, कवि को इस स्थिति मे पहुँचानेवाला कौन है ? या तो समाज ने कवि को दबा कर, उसकी उपेक्षा करके उसे बेकार कर दिया है। अथवा स्वय कवि ही अपनी कला को विकसित करके उस जगह पहुँच गया है, जहाँ उसका कोई भी सामाजिक उपयोग नहीं है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि श्रोताओ की विशाल सख्या के बिना कोई भी कला ज्यादा दिन नही टिक सकती, तो कहना यह पड़ेगा कि काव्य की सामाजिक स्थिति को कमजोर करने का अपराध स्वय

कवि ने किया है। उसने समाज को यह अवसर क्यों दिया कि वह उसकी उपेक्षा करे अथवा अपनी कला का विकास उसने इतनी दूर तक क्यो किया कि वह समाज के लिए अनुपयोगी हो गयी ?

लेकिन एक दूसरी दृष्टि से देखने पर यह प्रश्न ही हास्यास्पद बन जाता है। यह वैसा ही प्रश्न है जैसा यह कि फ्रास ने इतनी अधिक सभ्यता क्यों सीखी कि हिटलर का आक्रमण झेलना उसके लिए असभव हो गया ? अथवा भारत ने अहिंसा और वैराग्य की इतनी साधना क्यो की कि वह पराधीन हो गया ? अथवा विज्ञान ने इतनी प्रगति क्यों की कि वह मानवता का शाप बन गया ?

नये कवि काल की महिमा को नहीं मानते। वे अपने को काल-मुक्त समझते हैं। किन्तु, यह कभी-कभी ही सत्य होता है। सामान्य नियम तो यही देखा गया है कि काल की अनुभूतियों के परिवर्तन से साहित्य की अनुभूतियाँ, आप से आप, परिवर्तित हो जाती हैं। कवि वह सवेदनशील यन्त्र है, जिसके भीतर से काल अपनी आन्तरिक पीड़ाओं को अभिव्यक्ति देता है। कवि वह दर्पण है, जिसमे समकालीन समाज की मुद्रा और मानसिकता प्रतिफलित होती है। कविता मे हम जैसा परिवर्तन आज देख रहे हैं, वैसा घनघोर परिवर्तन और कभी देखने मे नही आया था। मध्यकालीन काव्य से रोमाटिक काव्य जितना भिन्न था, आज की कविता रोमाटिक कविता से उससे कही अधिक भिन्न हो गयी है। इसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य के चिंतन, स्वभाव और परिवेश मे जो परिवर्तन पिछले सौ वर्षों मे घटित हुए हैं, उतना बड़ा परिवर्तन पहले कभी और देखने मे नही आया था।

नक्शे के भीतर अगर यूरोप के आदमी को बिठाकर देखें, तो दिखायी यह देता है कि सन् १८५० *का आदमी आज के आदमी से बिलकुल भिन्न था।* १८५० का आदमी यह समझता था कि दुनिया भगवान की बनायी हुई है और भगवान ने इस ससार की रचना ईसा के जन्म से सिर्फ चार हजार वर्ष पहले की थी। यह भी कि आदमी पहले देवता था। देवत्व का भार नही सँभाल सकने के कारण वह आदमी हो गया। किन्तु, जब डारविन की जीवो की उत्पत्ति-विषयक पुस्तक प्रकाशित हुई, भूगर्भशास्त्र का विकास हुआ और ऐतिहासिक अनुसन्धानो से मनुष्य के अतीत की जानकारी हासिल हुई, मनुष्य के सभी प्रकार के धार्मिक विश्वास क्षीण होने लगे। उसके बाद जीव-शास्त्र, मनोविज्ञान और आचरणवाद के अनुसधानो ने और भी क्रान्ति उपस्थित कर दी तथा मनुष्य यह मानने लगा कि मूलत वह अन्य जीवो से भिन्न नही है एव वह सयम, धर्म, नैतिकता आदि के जो महल खडे करता है, वे प्रकृति के एक ही झटके से टूट कर खड-खड हो जाते है। धर्म के भाव मनुष्य को सँभालकर सिंहासन पर आसीन नही रख सके। वह लुढक कर नीचे आ गया तथा उसका यह अहकार चूर्ण हो गया कि भगवान ने उसे जीवो का सिरताज बनाया था।

विज्ञान ने मनुष्य के सोचने की दिशा ही नही बदली, उसने उसके परिवेश को भी बदल दिया। जो किसान थे, वे मजदूर हो गये। जो राजा और नवाब थे, वे नौकर और व्यापारी बनने लगे। जो लोग महलों, मन्दिरों, कुटीरों और ठाकुरवाड़ियों में रहते थे, वे वहाँ से उठकर विज्ञान के नगर मे चले आये, जहाँ सुख और स्वास्थ्य का सुन्दर प्रबन्ध है। किन्तु इस नगर मे मानवीय उदारता नही है, युगो के पूजित शील नही हैं, न शान्ति और सहजता के भाव हैं। मनुष्य पहले गरीब था, मगर, तब वह हरियालियों के पास रहता था। अब वह अमीर है, मगर रेगिस्तान में बसता है। मनुष्य पहले अपने परिवेश को कम जानता था, मगर, इसीलिए वह अपनी आलोचना भी थोड़ी ही करता था। जब दुनिया अँधेरी थी, आसमान साफ था। जब दुनिया रोशनी से भर गयी, आसमान पर अँधियाली छा गयी। पहले मनुष्य को सत्य वहाँ भी दिखायी देता था, जहाँ सचमुच सत्य नही था। अब जो सत्य है, उस पर भी मनुष्य को विश्वास नही होता।

जब ऐसी स्थिति आ गयी, कवि का घबराहट से भर जाना स्वाभाविक बात थी। ऐसी स्थिति मे अपनी सामाजिकता बनाये रखने के लिए वह करता तो क्या करता? दलीलें कहती थीं कि विज्ञान का विरोध करो। किन्तु, विज्ञान का विरोध मनुष्यता की प्रगति का नही तो और किसका विरोध है? दलीलें कहती थीं, धर्म को बचाओ। किन्तु, बुद्धिवाद जिसका विरोध करे, उसकी रक्षा का जिम्मा कौन ले सकता है? समाज ने यह भी चाहा कि साहित्य पुरानी नैतिकता का पक्ष ले। किन्तु, साहित्य समझ चुका था कि नैतिकता के विषय मे जीव-शास्त्र और मनोविज्ञान के मत क्या हैं। निदान, कवि ने अपने सामाजिक दायित्व से नाता तोड लिया और वह उस उपाय की खोज मे निकल पड़ा, जिसके जरिये कविता अब भी अपने को जीवित रख सकती थी।

उन्नीसवी सदी के नये कवियों ने कविता के लिए सर्वथा नयी भूमि खोज निकालने के लिए जितनी माथापच्ची की, उतनी माथापच्ची किसी और युग के कवि ने नही की थी। कविता हमेशा प्रकाश मे घूमती आयी थी। नये कवि उसे अपने भीतर के अधकार मे ले गये। मन की अपेक्षा अन्तर्मन की महिमा साहित्य में प्रधान होने लगी और कविगण काव्य के मूल-उत्स की खोज मे अपनी आत्मा की गहराइयो में डूबने लगे। यहीं से साहित्य में अर्थ की बाधा बढने लगी, क्योंकि ये कवि (नीरसे, रेम्बू, मलार्मे, लफूर्ज आदि) जिस वस्तु को पकडना चाहते थे, वह वस्तु पकड में आने से इनकार करती थी। इन कवियों की कविताएँ पढते समय यह स्पष्ट दिखायी देता है कि वे जिस वास्तविकता को अभिव्यक्त करना चाहते हैं, वह वास्तविकता भाषा मे ठीक से नही समाती है, शब्दो और विचारो के बीच ठीक से नही अँट पाती है। तब भी वे भाषा को तानते जाते है, इतना तानते जाते हैं कि अन्त मे वह चरमराकर

टूट जाती है। इस नयी वास्तविकता को समझने, पकड़ने और अभिव्यक्त करने के प्रयास में इन कवियों ने अपने दिमाग पर इतना अधिक जोर डाला कि उनमें से कई लोग विक्षिप्त हो गये और बाकी कवियों का जीवन रोग और अभाव से ग्रस्त हो गया। यह नयी वास्तविकता क्या है, इसकी व्याख्या तो नहीं की जा सकती, किन्तु, फ्रांस के कवि उसे 'एब्सोल्यूट' के नाम से अभिहित करते रहे हैं।

इस 'एब्सोल्यूट' के संधान से साहित्य में जो नयी मान्यताएँ प्रकट हुईं, वे इस प्रश्न पर काफी प्रकाश डालती हैं कि इन कवियों की कविताएँ दुरूह क्यों हैं। रेम्बू कविता को अनिर्वचनीय की स्वर-लिपि मानते थे। उनका विश्वास था कि कवि का मन जब अपनी गहराई में डूबता है, उस स्थिति को साँचे में ढालना ही काव्य है। सामाजिक समस्याएँ कवि के लिए उपेक्षणीय हैं। कवि उसी मात्रा में कवि है, जिस मात्रा में वह अपने आपके समीप पहुँच पाता है। कविता की उत्पत्ति मानव-मन के उस प्रान्त में होती है, जो अवर्णनीय है। इसीलिए कविता सृष्टि के कोलाहल के पास नहीं, उसकी नीरवता के समीप रहती है। कवि के आत्मानुसंधान का अन्तिम लक्ष्य अविज्ञेय और अज्ञात है। सर्वश्रेष्ठ कविता उस अंधकार की चौहद्दी में मिलती है, जहाँ पहुँचकर वस्तु-जगत स्मृति से लुप्त हो जाता है।

इन कवियों की दृष्टि में कविता वाणी की वह विधा है, जो भाषा की असमर्थता को सबसे अधिक पहचानती है। जो अलभ्य है, अनिर्वचनीय और पूर्ण अथच 'एब्सोल्यूट है, कविता उसी को अभिव्यक्त करना चाहती है। कवि वह अभागा प्राणी है, जो विचार और शब्द के बीच भटकता रहता है। वह जो कुछ कह पाता है, वह उसका अभिप्रेत काव्य नहीं, बल्कि उसके निकटतम पहुँचने का प्रयास है। अचेतन तथा अर्धचेतन की परिभाषा शब्दों में बाँधी नहीं जा सकती। वे शब्दों की उन झंकारों से अधिक अभिव्यक्ति पाते हैं, जो अनिश्चित और निराकार हैं।

इन सारी मान्यताओं का प्रभाव यह हुआ कि पहले जो प्रेरणा महाकाव्यों और नाटकों को जन्म देती थी, अब वह दिमागी और साइकिक बनकर घुमड़ने लगी। पाठकों की ओर से जब यह पूछा गया कि आखिर इन कविताओं को हम किस प्रकार समझें, तब कवियों और आलोचकों ने यह उत्तर दिया कि कविता अर्थ किये बिना भी समझी जा सकती है। कवि से उसकी कविता का अर्थ पूछना उचित नहीं। कल्पनाशील व्यक्ति बिना समझे हुए देखा करता है।

कलाओं में संगीत साहित्य की अपेक्षा अधिक निराकार माना जाता है क्योंकि उसका आनन्द अर्थ नहीं, आलाप में है। जैसा कि एडगर एलेन पो (मृत्यु १८४९ ई०) ने कहा था, "संगीत जब आनन्ददायी भाव के साथ सबद्ध होता है, तब वह काव्य होता है। जब भाव या विचार उसके साथ नहीं रहते,

वह केवल संगीत होता है। और विचार जब संगीतमय नहीं होता, तब वह गद्य बन जाता है।" जब कविता ने अपना अभियान एब्सोल्यूट की ओर मोड़ा, परम्परागत संगीत का भी रूप परिवर्तित हो गया। काव्य में संगीत का अर्थ यह था कि छन्द गद्य हो पंक्तियाँ और पंक्ति खण्डों में लय हो और शब्द संगीत की कड़ी के समान हों। अब धारणा यह बन गयी कि संगीत का गुण अगेय छन्दों में भी होता है, स्वच्छन्द मुक्त पंक्तियों में भी होता है, विचारों के सामंजस्य और बिम्बों की योजना में भी संगीत है और यही निराकार संगीत काव्य के लिए वरेण्य है।

"यह सच है कि जैसे सभी विज्ञानों की गति गणित की ओर है उसी प्रकार, सभी कलाएँ संगीत का गुण-लाभ चाहती हैं, क्योंकि सभी कलाओं की यात्रा अतीन्द्रियता की ओर है। किन्तु, कविता जब संगीत के अतीन्द्रिय गुणों को आत्मसात् करने लगती है, संगीत को जब वह छन्दों से उठाकर चिंतन की पद्धति अथवा बिम्बों की भंगिमा में ढालना चाहती है, तब वह विषय और अर्थ के भार से भी मुक्ति खोजने लगती है। इस प्रकार की कविता की पूर्णता के लिए विषय और अर्थ, दोनों को दबना पड़ता है। उसी स्थिति में कविता का अर्थ हमें जिस मार्ग से प्राप्त होता है, वह बुद्धि और तर्क का मार्ग नहीं होता। तब भी यदि हम बुद्धि और तर्क को छोड़ने को तैयार नहीं हों, तो हम यही कहेंगे कि जो कविता हमें उतनी सुन्दर दिखायी पड़ी है, वह अर्थहीन है। और ऐसी टीका टिप्पणी से कवि अपना अपमान भी नहीं समझते।"

भारत में शब्द और अर्थ, दोनों को काव्य मानने का रिवाज था। भारतीय आचार्यों के मतानुसार जहाँ अर्थ नहीं है, वहाँ कवित्व का अस्तित्व भी नहीं होता है। किन्तु, यूरोप के पिछले सौ वर्षों के चिन्तन और प्रयोग से उत्पन्न यह सिद्धान्त अब प्राय सर्वमान्य हो गया है कि कविता को केवल कविता होना चाहिए। यह तनिक भी आवश्यक नहीं है कि उसमें अर्थ भी हो। शैली की महिमा को ले कर चलनेवाला यह घनघोर प्रयोग आरम्भ में, उन्होंने किया था, जो अनिर्वचनीयता को भाषाबद्ध करने के लिए बेचैन थे। किन्तु इस शैली को उपार्जित करने के लिए उन्होंने जो भयानक बलिदान किये, उससे यह शैली नवीन युग मात्र की शैली बन गयी। पीछे चलकर अनेक कवि ऐसे भी आए, जो एब्सोल्यूट के फेर में नहीं थे, जिनका लक्ष्य अनिर्वचनीय की अपेक्षा कोई अधिक ठोस पदार्थ था, किन्तु उन्हें भी मलार्मे, रेम्बू और लफ़ोर्ज द्वारा आविष्कृत शैली ही रुचिकर प्रतीत हुई और इसी शैली के आसपास घूमते हुए उन्होंने अपनी अपनी धुंधली शैलियाँ तैयार कर लीं।

किसी भी युग में आध्यात्मिक कविता की शैली एक और सामाजिक कविता की शैली दूसरी नहीं होती है। युग जब बदलता है, तब वह रहस्यवादियों के लिए भी बदलता है, जादूगरों के लिए भी बदलता है और सामाजिक चिन्तकों के लिए

भी वदल जाता है। अतएव, जो दुरूहता हम बोदलेयर, रेम्बू मलार्मे और लफूर्ज म देखते हैं, घट बढकर वही दुरूहता हमे यूरोप और अमरीका क परवर्ती कवियो मे भी दिखायी देती है। यहाँ तक कि भारत की जो पीढी आज अन्तर्राष्ट्रीय रुचि के प्रभाव मे है, थोडी-बहुत दुरूहता उस पीढी के कवियो म भी मौजूद है।

दुरूहता के कुछ छींटे रूस और चीन की भी नयी कविताओ पर पडे हैं, किन्तु, रूसी और चीनी भाषाओ म दुरूहता का रूप अभी बिलकुल झीना है। कारण यह है कि उन देशो के पाठक साहित्य से उसके सामाजिक ध्ययो की माग करते हैं और समाजोन्मुख रहने के लिए साहित्यकारो को अर्थ का ध्यान रखना पडता है। फिर भी रूस के दो कविया, पास्तरनेक और एव्तेशेंकू मे दुरूहता का कुछ न कुछ पुट दिखायी पडा है। मगर इसी कारण रूसी साहित्यकार इन कवियो के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा भी नही रखते है।

जापानी कविता दुरूह नही होती है। जापान मे कविता पहले भी न तो ससार को हिलाने के लिए लिखी जाती थी, न समाज अथवा मनुष्य के सुधार के लिए। जापानी कविता अत्यत सक्षिप्त होती है, सीधी-सादी, सुकुमार और शुद्ध होती है। शुद्ध कविता की खोज मे यूरोप के कवियो ने जापानी कविता की ओर बराबर बडे ही लोभ से देखा है और उससे प्रभाव भी ग्रहण किया है। जापान की जो पुरानी कविता थी, वह यूरोप की नयी कविता के उत्थान मे सहायक हुई। किन्तु, अब जापान मे जो कविताएँ अद्यतन यूरोपीय कविताओ के अनुकरण मे लिखी जा रही हैं, वे कुछ थोडी दुरूह अवश्य हैं। अतएव, दुरूहता कविता का आज अन्तर्राष्ट्रीय लक्षण माना जा सकता है।

पुरानी कविता आश्वस्त समाज की वाणी थी, जिसके मूल्य स्थिर थे, परपराएँ दृढ़ थीं, जिसकी शकाएँ थोडी थी और विश्वास काफी मजबूत था। नयी कविता उस समाज की वाणी है, जिसकी परपराएँ टूट रही हैं, जिसका विश्वास शकाओ के समुद्र मे खो गया है और जिसके सारे के सारे मूल्य डावाडोल हैं। पुरानी कविता युद्ध को स्वर्ग का द्वार मानती थी, नयी कविता इस बात पर अचरज करती है कि पुराने लोग इतने सीधे क्यो थ। पुरानी कविता देशभक्तो को त्याग और तपस्या का अवतार समझती थी, नयी कविता इस पर भी आश्चर्य करती है कि पुरान कवियो न देश भक्तो के भीतर कुछ और देखने की कोशिश क्या नही की थी। पुरानी कविता ने जजो को जजों के ही रूप म देखा था, नयी कविता ने उन्ह भी कठघरा म खडा देखा है। पुरानी कविता मन्दिर के देवताओ की पूजा करती थी, नयी कविता न पत्थर की इन मूर्तियाको चोरबाजारो करत देखा है। "आफ्टर सच नालेज व्हाट फारगिवनेस'? इस जानकारी के बाद क्षमा की महिमा क्या है?

नयी कविता मोह-भग की कविता है, विफलता-बोध की कविता है, निराशा की कविता है, पूर्वजो की सिधाई पर पश्चात्ताप की कविता है। पुरान कवि मान-

वता को सवाद पहुँचाते थे कि बाग मे फूल खिले हैं और आसमान आज बिलकुल साफ है। नये कवि की दृष्टि उस विपत्ति पर है, जो फूलो से भरे हुए इस सुरम्य भूतल पर मँडरा रही है। "मैं अधकार का कवि हूँ। शान्ति से बोलना बेहूदापन है। जो आदमी हँसता है, उसने दु सवाद शायद नही सुना है।"

कुछ मूल्य थे, जो पुराने कवियो को अटल मालूम होते थे। नया कवि यह जान कर क्रोधित और निराश है कि रुपये और ताकत के सिवा समाज मे और किसी भी चीज की हस्ती नही है।

हमारा ख्याल है, ये सारे भाव प्रसन्न शैली मे भी व्यक्त किये जा सकते हैं। किन्तु, ऐतिहासिक कारणो से नयी कविता की जो शैली तैयार हो गयी, उसमें प्रसाद के लिए बहुत अधिक गुजाइश नही है। यह शैली अपरिचित रूपको मे बोलती है, एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब तक टहलकर नही, छलांग मारकर जाती है। जिन कड़ियो की विवक्षा पाठक के मन में विद्यमान है, उन कड़ियो को भी यह शैली छोड़ देती है। पूरा हस्ताक्षर लिखना नयी शैली की रुचि के विरुद्ध है। वह नाम के एक-दो अक्षरो से ही दस्तखत करने का अभ्यासी बन गयी है। और इन सभी कारणों से दुरूहता मे वृद्धि होती है।

यूरोप की नयी कविताओ का एक लक्षण यह है कि उनमे बिम्ब निरन्तरता से उगते हैं, किन्तु, बिम्बो को परस्पर बाँधनेवाला विचार अमूर्त्त होता है। अगर बिम्ब तर्क के अनुसार सजाये जाएँ तो उनका ग्राफ सीधी लकीर मे बनेगा और तब अर्थ पाठक की समझ मे आसानी से आ जायगा। किन्तु, इन कविताओ मे ग्राफ बनता ही नहीं। लगता है, प्रकाश का एक पिंड कही से आन गिरा है और वह चूर्ण-चूर्ण हो गया है। किरणें सभी दिशाओ की ओर छिटकती हैं और अर्थ का समन्वित रूप पाठक को पकड़ाई नही देता।

इस तकनीक का प्रयोग अब यूरोप की फिल्मो मे भी किया जाता है। फिल्म-निर्माता शाट असबद्ध रूप से लेते हैं तथा उन्हे किसी क्रम से सजाकर खास भाव-दशा की अभिव्यक्ति करते हैं। जहाँ तक हमारा ख्याल है, इस तकनीक का उपयोग श्री उदयशकर ने अपनी 'कल्पना' फिल्म मे भी किया था और वह फिल्म भी लोगों को दुरूह प्रतीत हुई थी। कविता मे इस तकनीक का जब प्रयोग किया जाता है तब बिम्ब तो पाठक की समझ मे आ जाते हैं, लेकिन, वह मन ही मन यह सोचने लगता है कि काश, अगर रहस्य समझने का कोई सकेत मिल गया होता तो पूरी कविता समझ मे आ सकती थी।

दुरूहता का एक कारण यह भी है कि भाषा के सभी शब्द पूर्व कवियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण परपरा की गध से भर गये है। नया कवि परपरा से बचने की कोशिश मे शब्दो को इस अदा से बिठाता है कि परपरा से बाँधने वाले उनके तार टूट जाते हैं, अर्थ शब्दों से विदा ले लेते हैं और कविता उस महल के समान

दिखायी देने लगती है जो बिना खभो के खड़ा हो।

नयी कविता अर्जन नही, विसर्जन की कविता है। पहले उसने छन्द का त्याग किया, फिर उसने युगो से आती हुई इस परपरा को तोड दिया कि कुछ विषय काव्य के लिए उपयोगी और कुछ अनुपयोगी होते हैं। नयी कविता कहानी नही कहती, यह काम उसने उपन्यासो के लिए छोड दिया है। नयी कविता भावो का भी वर्णन नही करती, यह काम उसने कहानियों के लिए छोड दिया है। उपदेश, प्रचार, सदेश-वहन, वर्णन और विचार से अलग वह केवल अनुभूतियो को पहचानने की कोशिश करती है, वास्तविकता के एक ऐसे रूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है, जो हमारी आँखो के समक्ष नही थी। अतएव, जो पाठक कविता से भाव-वर्णन अथवा अर्थ की अपेक्षा रखते हैं, उन्हे निराश होना पडता है।

काव्य-रचना के समय कवि को दो धरातलो पर जगना पडता है। एक धरातल वह है, जहाँ अनुभूतियाँ जगती हैं और भाव सुगबुगाते हैं। दूसरा धरातल शिल्प का धरातल है, भाषा का धरातल है, जहाँ अनुरूप शब्दो की खोज चलती रहती है। नयी कविता चाहती है कि कवि दोनो धरातलो पर समान रूप से जगे। यूरोप मे बार-बार यह बात दुहरायी गयी है कि कवि को चिन्ता न तो प्रसाद गुण की करनी चाहिए, न इस बात की कि उसकी कविताओ के पाठक कौन लोग हैं। उसकी सारी चिंता इस एक बात पर केन्द्रित होनी चाहिए कि वह अपनी अनुभूतियो के प्रति ईमानदार है या नही। क्या वह उन भावो को ठीक से पहचान रहा है या नही जो लिखे जाने की माँग करते हैं और लिखते समय वह शब्दो के प्रति मितव्ययिता का व्यवहार करता है अथवा अपव्यय का। यही नही, बल्कि, उसके भीतर जो रहस्यमय भाव जगते हैं, उन्हे तभी लिखा जाना चाहिए, जब वे वैज्ञानिक सुस्पष्टता को ग्रहण कर लें। और लिखते समय यह सोचना चाहिए कि जितनी रेखाओ के मिट जाने पर भी चित्र नही मिटता, उतनी रेखाओ को मिटा देना ही धर्म है। जितने शब्दो को हटा देने पर भी कवित्व का ह्रास नही होता, उन शब्दो का कविता मे प्रयोग करना खर्चीचो का फालतू काम है। यह भी एक गुण है, जो नये कवि को रोमांटिक कवियो से अलग कर देता है।

सिद्धान्तत. नयी कविता पहले की अपेक्षा अधिक ईमानदारी की कविता है और पूरी तरह ईमानदारी बरतने की कोशिश मे भी वह दुरूह हो जाती है। दुनिया अब जहाँ पहुँच गयी है, वहाँ जीवन के बारे मे कोई भी बात दो टूक ढग से नही कही जा सकती। एक बात कहते समय उसके विरोधी पक्ष पर ध्यान चला जाता है और अनेकान्तवादी होने के सिवा कवि के सामने दूसरी राह नहीं रह जाती। अनुभूतियो के मूल तक जाते-जाते अन्तर्मन की वे अनेक गुत्थियाँ भिलमिलाने लगती हैं, जो किसी भी ज्ञान को गरजकर बोलने देना नही चाहती। आवेगो के वश मे बोलने वाला कवि किसी भी सत्य या ज्ञान की घोषणा काफी सबलता के साथ कर

सकता है। किन्तु, जिसके आवेग बुद्धि से दबे हुए है, जो व्यक्ति बहुत गहराई मे जाकर सत्य का सधान करता है, वह कोई भी बात जोर से नही बोल सकता। अनेकान्तवाद की भाषा अहिंसक होती है। स्याद्वाद की भाषा धुँधली और कमजोर होती है। किन्तु वही भाषा सत्य के सबसे अधिक समीप पहुँचती है। अर्ध-प्रकाश कला का असली वातावरण है। दुविधा, अनिश्चय, प्रसग (एलुजन), ध्वनि, धुँधली स्मृतियाँ, मिश्रित झकारें, ये मनोवैज्ञानिक जगत् की अर्ध ज्योतियाँ है और नयी कविता इसी अर्ध-ज्योति, इसी गोधूलि में निवास करती है। ध्वनि ही कविता का तीसरा आयाम है और नयी कविता के भीतर यह आयाम अत्यत गभीर और दूरगामी हो गया है। कविता ने अपने अनेक उपकरणो का त्याग कर दिया है, किन्तु, ध्वनि को, जो कवित्व का सर्वश्रेष्ठ गुण है, वह आज भी रखे हुए है।

यह भी कहा जा सकता है कि शुद्ध कवित्व की साधना जिस अनुपात मे बढी है, अन्तर्राष्ट्रीय काव्य मे दुरूहता की भी वृद्धि उसी अनुपात से होती आयी है। शुद्ध कवित्व का आन्दोलन इस उद्देश्य से आरभ हुआ था कि कविता को उपदेशवाद से बचाया जाय। वह केवल भावो तक सीमित रहे, विचारो के वर्णन को वह साहित्य की अन्य विधाओ के लिए छोड दे। किन्तु, शीघ्र ही, बातें इससे बहुत आगे पहुँच गयी। एडगर एलेन पो खुद जो कविताएँ लिखते थे, वे रोमाटिक किस्म की शुद्ध कविताएँ होती थी और अर्थ का उनमें अभाव नहीं था। लेकिन कविता मे अर्थ की महिमा होनी चाहिए या नही, इस विषय मे उन्हे सदेह था। कम से कम विषय की गौणता में वे पूरा विश्वास करते थे।

पो के प्रयोगो पर कवियो का ध्यान सबसे पहले फ्रास मे गया और वही यह सिद्धान्त उत्पन्न हुआ कि कविता का वास्तविक गुण शब्दो का सगीत है, एक प्रकार की मोहक ध्वनि, एक तरह की पकड मे नही आने वाली झकार है, जो हमे अपने भीतर के आनन्द-लोक में पहुँचा देती है। तब से चिन्तको ने इस बात पर बार-बार विचार किया है कि कविता का वास्तविक मूल्य किसमे है—शब्दो के सगीत में अथवा बिम्बों के सकेत मे अथवा उस पूरे अर्थ मे जो कविता से नि सृत होता है? इस सम्बन्ध मे एबी ब्रिमोण्ड के मतो का हवाला देते हुए हर्बर्ट रीड ने लिखा है कि—

१ कविता मे रहस्यमयता होती है और उसमे अभिव्यक्त वास्तविकता, किसी विलक्षण ढग से, एकीभूत होती है। यही कविता का सारभूत कवित्व है।

२ कविता को कविता की तरह पढने के लिए यह काफी नहीं है कि हम उसके अर्थ को भी समझें। अर्थ समझना हर समय आवश्यक भी नही होता। कविता की असली मोहिनी शक्ति अर्थ पर निर्भर नही करती। वह खुद एक दुरूह और अव्याख्येय वस्तु है।

३. कविता को घसीटकर तर्क-सम्मत वर्णन के धरातल पर लाना असगत कर्म

है। कविता अभिव्यक्ति की वह विधा है, जो वर्णन के सामान्य रूपों के परे है।

४ कविता किसी न किसी प्रकार का संगीत है। किन्तु, वह केवल संगीत भी नहीं है। वह एक विद्युत प्रवाह का कण्डक्टर है, जो हमारी आत्मा की गुह्य दशा का संप्रेषण करता है।

५ कविता मंत्र अथवा अभिचार है, जिससे कवि की आंतरिक स्थिति अचेतन रूप से अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार हम उन अस्पष्ट अनुभूतियों का हृदयंगम करते हैं, जिन अनुभूतियों तक सुस्पष्ट चेतना की पहुँच नहीं है।

ये बातें सब की सब सही हैं या नहीं, इसे हम चिन्तनीय मानते हैं। किन्तु, इससे यह बात अवश्य स्पष्ट होती है कि नयी कविता में दुरूहता की वृद्धि क्यों हुई है। भारतीय आचार्यों ने जब शब्द और अर्थ, दोनों को काव्य कहा था, तब इसका यह अर्थ नहीं था कि केवल लयवत्ता काव्य के लिए यथेष्ट है। अगर वैसी बात होती तो आयुर्वेद और ज्योतिष के भी सभी ग्रन्थ काव्य मान लिये गये होते। किन्तु जिस कविता में अर्थ नहीं है, केवल शब्दों का संगीत है, केवल मोहिनी और जादू है, वह कविता कविता है या नहीं, इस विषय का भी चिन्त्य ही समझना चाहिए। हाँ, उन कविताओं की बात अलग है, जिनका लक्ष्य एक ऐसी वास्तविकता है, जहाँ तक बुद्धि नहीं पहुँच पाती और जिसकी झाँकी कवि केवल सबुद्धि के सहारे लेता है।

कविता की दुरूहता के कई सोपान अनुमान से समझे जा सकते हैं। जब कविता ने यह आग्रह पकड़ा कि वह उन सारे कार्यों से अपना नाता तोड़ लेगी, जिन्हें दार्शनिक, इतिहासकार, समाजशास्त्री तथा धर्म और नैतिकता के व्याख्याकार किया करते हैं, उसी समय यह संकेत ले लेना चाहिए था कि कविता ज्यों-ज्यों शुद्धता की ओर बढ़ेगी, उसके पाठकों की संख्या घटती जायगी; क्योंकि कविता समाज में लोकप्रिय इसलिए नहीं थी कि वह शुद्ध कविता थी, वल्कि, इसलिए कि वह लोगों में प्रेरणा भरती थी, उनका दुःख भुलाती थी, उनकी भावनाओं को खास दिशा की ओर मोड़ती थी और जो समस्याएँ मनुष्य को हमेशा घेरे रहती हैं, उनका विश्लेषण करती थी, संक्षेप में, इसलिए कि वह सामाजिक वस्तु थी। जब कविता ने सामाजिकता का त्याग किया, पाठक उसे अनावश्यक मानकर उसकी ओर से मुख मोड़ने लगे और पाठकों की विरक्ति का कवि पर यह प्रभाव पड़ा कि अब उसे किसी और के लिए नहीं, केवल अपने व्यापक लिए लिखना है।

जब कविता प्रभाववाद के प्रभाव में आयी, उसने अभिव्यक्ति का एक घाट-पट निकाल लिया। पहले के कवि पाठकों को वे सभी कड़ियाँ बताते थे, जो कविता समझने के लिए आवश्यक समझी जाती थीं। प्रभाववादी शैली में सभी कड़ियाँ देने का रिवाज बन्द हो गया। इस प्रकार, कविता की चुस्ती तो बढ़ गयी, लेकिन, पाठकों का बोझ बहुत भारी हो गया। पहले कविता समझने के लिए पाठक

को आयास नही करना पडता था, किन्तु, नयी कविता पाठको से काफी बडे रचनात्मक सहयोग की अपेक्षा रखती है।

यही नही, इलियट-जैसे कवियो को समझने के लिए केवल रचनात्मक सहयोग ही यथेष्ट नही है, पाठक को ससार-भर के साहित्य, धर्म, नीति, दर्शन और सामाजिक समस्याओ की जानकारी भी चाहिए। जब कविता सुररियलिज्म के प्रभाव मे आयी, तब एक नयी विपत्ति और खडी हो गयी। सुररियलिज्म अवचेतन और अचेतन को अपना कथ्य मानता है। वह नैतिकता और तर्क-बुद्धि का भी बन्धन स्वीकार नही करता। अतएव, स्वभावत. ही, इस वाद की कविताएँ काफी अभ्यास के बिना पाठको को धूमिल आनन्द भी नहीं दे पाती हैं।

दुरूहता पसन्द किसी को भी नही आती है। पाठक तो दुरूहता से घबराता ही है, स्वय कवि भी यही चाहता है कि वह अधिक-से-अधिक सुस्पष्ट हो सके। टी० एस० इलियट काफी दुरूह कवि थे, किन्तु, एक जगह उन्होने लिखा है कि मैं बराबर यही सोचकर लिखता रहा हूँ कि मेरी कविताएँ जनसाधारण भी समझ लेता है। अर्थात् अपनी अनुभूतियो को इलियट जितना सुलझाकर लिखते थे, उन्हें उससे अधिक सुलझाना सम्भव नही था।

सुस्पष्टता शायद नयी कविता के भाग्य मे नहीं है। प्रत्येक युग मे हम जो कुछ देखते, करते, कहते, सुनते और सोचते हैं, उसकी एक अरूप ध्वनि सस्कृति के हृदय मे पहुँचती जाती है। इसी ध्वनि को पकडने की कोशिश से साहित्य मे नयी शैलियो का जन्म होता है। नये कवियो ने जिस युग मे आँख खोली है, उसकी कविता शैली, बायरन और टेनिसन की शैली मे नही लिखी जा सकती। वह समय बहुत पीछे छूट चुका है, जब दो-दो शताब्दियो तक लोग एक ही प्रकार की कविता लिखते जाते थे। अब तो प्रत्येक पीढी को, शैली-परिमार्जन के लिए, कुछ न कुछ आविष्कार करना पडता है।

पहले के कवि अनुभव, ज्ञान और विचार की जो पूँजी एकत्र करते थे, कविता उसका उपयोग सीधे ढग से करती थी। किन्तु, अब ज्ञान का सीधा उपयोग नही किया जाता। कवि या तो सारी बातें भूल जाता है अथवा वह अपने को इतना रिक्त बना लेता है कि कविता, उसकी आत्मा के अवकाश मे, आप से आप उतर आती है। आज की कला, कम से कम, कहकर अधिक से अधिक को ध्वनित करने की कला है। इलियट ने जितना कहना चाहा था, वस्तुत, उससे बहुत कम कहा है। इस युग के अन्य सफल कवियो मे भी 'कहने-से-कम-कहने' की शैली अपने आप मे कला बन गयी है। इलियट ने ऐसी पक्तियाँ लिखी है, जिनमे से एक-एक पक्ति एक पूरे काव्य का सक्षिप्त रूप है। एक-एक पक्ति पूरे काव्य का सूत्र है। नयी कविता का लक्ष्य मत्र की शक्ति प्राप्त करना है, सूत्र-शैली मे बोलना है। अगर सूत्र से अधिक कहा जाय तो वह वार्तिक हो जायगा और वार्तिक लिखने से कला

का अब ह्रास समझा जाता है।

नयी कविता ने जिस शैली को अपनाया है, वैसी कठिन शैली ससार मे कभी भी देखी नही गयी थी। यही कारण है कि कवि-कर्म मे सफलता अब विरले साधकों को ही प्राप्त होती है। दुरूहता चाहे जिस कारण से भी उत्पन्न होती हो, किन्तु, वह धर्म नही, आपद्धर्म ही है। आज भी उन कवियो के शिखर आसानी से सबसे ऊपर उठ जाते हैं, जो गहरे भी हैं और सुस्पष्ट भी, जो सक्षेप मे सब कुछ कह डालते है किन्तु, सर्वत्र प्रकाश भी रहता है। इस दृष्टि से इलियट और पास्तरनेक आदर्श कवि हुए हैं।

को आयास नही करना पडता था, किन्तु नयी कविता पाठको से काफी बडे रचनात्मक सहयोग की अपेक्षा रखती है।

यही नही इलियट जैसे कवियो को समझने के लिए केवल रचनात्मक सहयोग ही यथेष्ट नही है, पाठक को ससार भर के साहित्य, धर्म, नीति, दर्शन और सामाजिक समस्याओ की जानकारी भी चाहिए। जब कविता सुररियलिजम के प्रभाव मे आयी, तब एक नयी विपत्ति और खडी हो गयी। सुररियलिजम अवचेतन और अचेतन को अपना कथ्य मानता है। वह नैतिकता और तर्क बुद्धि का भी बन्धन स्वीकार नही करता। अतएव, स्वभावत ही, इस वाद की कविताएँ काफी अभ्यास के बिना पाठका को धूमिल आनन्द भी नही दे पाती हैं।

दुरूहता पसन्द किसी को भी नही आती है। पाठक तो दुरूहता से घबराता ही है, स्वय कवि भी यही चाहता है कि वह अधिक से-अधिक सुस्पष्ट हो सके। टी० एस० इलियट काफी दुरूह कवि थे, किन्तु, एक जगह उन्होने लिखा है कि मैं बराबर यही सोचकर लिखता रहा हूँ कि मेरी कविताएँ जनसाधारण भी समझ लेता है। अर्थात् अपनी अनुभूतियो को इलियट जितना सुलझाकर लिखते थे, उन्हे उससे अधिक सुलझाना सम्भव नही था।

सुस्पष्टता शायद नयी कविता के भाग्य मे नही है। प्रत्येक युग मे हम जो कुछ देखते, करते, कहते, सुनते और सोचते हैं, उसकी एक अरूप ध्वनि सस्कृति के हृदय मे पहुँचती जाती है। इसी ध्वनि को पकडने की कोशिश से साहित्य मे नयी शैलियो का जन्म होता है। नये कवियो ने जिस युग मे आँख खोली है, उसकी कविता शेली, बायरन और टेनिसन की शैली मे नही लिखी जा सकती। वह समय बहुत पीछे छूट चुका है, जब दो दो शताब्दियो तक लोग एक ही प्रकार की कविता लिखते जाते थे। अब तो प्रत्येक पीढी को, शैली-परिमार्जन के लिए, कुछ न कुछ आविष्कार करना पडता है।

पहले के कवि अनुभव, ज्ञान और विचार की जो पूँजी एकत्र करते थे, कविता उसका उपयोग सीधे ढग से करती थी। किन्तु अब ज्ञान का सीधा उपयोग नही किया जाता। कवि या तो सारी बातें भूल जाता है अथवा वह अपने को इतना रिक्त बना लेता है कि कविता उसकी आत्मा के अवकाश मे, आप से आप उतर आती है। आज की कला, कम से कम, कहकर अधिक से अधिक को ध्वनित करने की कला है। इलियट ने जितना कहना चाहा था, वस्तुत, उससे बहुत कम कहा है। इस युग के अन्य सफल कवियो मे भी 'कहने-से-कम-कहने' की शैली अपने आप मे कला बन गयी है। इलियट ने ऐसी पक्तियाँ लिखी हैं, जिनमे से एक एक पक्ति एक पूरे काव्य का सक्षिप्त रूप है। एक एक पक्ति पूरे काव्य का सूत्र है। नयी कविता का लक्ष्य मत्र की शक्ति प्राप्त करना है, सूत्र-शैली मे बोलना है। अगर सूत्र से अधिक कहा जाय तो वह वार्तिक हो जायगा और वार्तिक लिखना तो कला

का अव ह्रास समझा जाता है।

नयी कविता ने जिस शैली को अपनाया है, वैसी कठिन शैली ससार मे कभी भी देखी नही गयी थी। यही कारण है कि कवि-कर्म म सफलता अव विरले साधका को ही प्राप्त होती है। दुरूहता चाहे जिस कारण से भी उत्पन्न होती हो, किन्तु, वह धर्म नही, आपद्धर्म ही है। आज भी उन कवियो के शिखर आसानी से सबसे ऊपर उठ जाते हैं, जो गहरे भी हैं और सुस्पष्ट भी जो सक्षेप मे सब कुछ कह डालते है किन्तु, सर्वत्र प्रकाश भी रहता है। इस दृष्टि से इलियट और पास्तरनेक आदर्श कवि हुए हैं।

शुद्ध काव्य की सीमाएँ

शुद्ध कवित्व वाले आन्दोलन मे पिले रहने पर भी इलियट का विचार यही बना कि जब हम महान् कविता की खोज करते हैं, तब यह खोज, अनिवार्यत, शुद्ध कविता की खोज नही होती। मनुष्य की रुचि शास्त्रीय नियमो के अधीन नही है। वह सभी परिभाषाओ का अतिक्रमण करती है। जिस कवि ने यह सूक्ति कही थी कि

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्,
दण्डिनः पदलालित्यम्, माघे सन्ति त्रयोगुणाः।

उसके अनुसार सबसे बड़ा कवि माघ को ही होना चाहिए था। किन्तु, सबसे बडे कवि माघ नहीं, कालिदास हैं। कविता का जो अपना स्वभाव और धर्म है, सभी विद्याओं से अलग जिस गुण के कारण उसका अपना अस्तित्व है, उसे देखते हुए कविता तो वही श्रेष्ठ समझी जानी चाहिए, जो उपदेश नही देती, ज्ञान का कथन नही करती, कर्म के कोलाहल से जो दूर है और जो ऐसा कोई कार्य नहीं करती, जो राजनीतिज्ञो का कार्य है, धर्माचार्यो और दार्शनिको का कार्य है। किन्तु, कविता के जितने नियम हम जानते है, उनके सिवा उसका कोई एक और नियम है, जो सभी नियमो को काटकर आगे निकल जाता है। उसी नियम के अधीन बहुत-सी ऐसी कविताएँ भी श्रेष्ठ काव्य के रूप मे पूजित रही है, जिनमे केवल भावनाएँ ही नही हैं, कुछ विचार भी है, सीधे या परोक्ष कुछ उपदेश भी हैं।

इस प्रसग मे सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि कथा-काव्य, खडकाव्य और महाकाव्य शुद्ध कवित्व के अनेक प्रमुख नियमों की अवहेलना करते हैं, किन्तु, आरभ मे ही, समाज मे जो प्रतिष्ठा इन काव्यो की रही है, वह किसी और कविता को नही मिली। अभी हाल तक सारे ससार मे परपरा यह रही थी कि जो कवि खडकाव्य, महाकाव्य अथवा काफी लबी कविता सफलता के साथ लिख पाता था, वही महाकवि समझा जाता था। यूरोप और अमरीका मे खडकाव्य अथवा कथा-काव्य लिखने की परपरा अब अवरुद्ध हो गयी है। कारण शायद यह है कि शुद्ध कविता की आराधना करते-करते, इन देशो के कवि अब यह मानने लगे हैं कि लबी कविता आत्म-विरोधी नाम है। जो चीज लबी है, वह कविता नही हो सकती। जो सचमुच काव्य है, वह लबा नहीं होगा। चूंकि प्रेरणा की आयु क्षणिक होती

है और कविता उसी भाव के हू-ब-हू चित्रण का नाम है, अतएव, कविता लंबी हो ही नहीं सकती। कविता जब कहानी कहने लगती है, तब लंबी वह कवित्व के कारण नहीं होती, बल्कि, कथा के कारण हो जाती है और कथा कहना कवियों का नहीं, उपन्यास-लेखकों का काम है।

शास्त्रीय विवेचन के बिना ही यह बात मान ली गयी है कि चूँकि प्रेरणा की अवस्था ज्यादा देर तक नहीं टिकती, इसलिए काव्य हमेशा छोटा ही हो सकता है और उसका सबसे सहज रूप प्रगीत (लिरिक) ही हो सकता है। लंबी कविता वह कविता है, जिसमें कई प्रगीत एक गुच्छे में बाँध दिये जाते हैं। हमारा ख्याल है, यह प्रबन्ध-काव्य की अत्यंत भोंड़ी और सस्ती व्याख्या है। प्रबन्ध-काव्य कई प्रगीतों के मेल को नहीं कहते हैं। जैसे प्रत्येक प्रगीत एक स्वतंत्र इकाई होता है, उसी प्रकार, प्रत्येक प्रबंध-काव्य की इकाई सुस्पष्ट होती है। किन्तु, यह कार्य केवल शक्तिशाली कवि ही कर सकते हैं। मुक्तकों के उस्ताद जब प्रबन्ध-काव्य लिखने का साहस करते हैं और यह मानकर चलते हैं कि प्रगीतों को गुच्छे में सजा देना ही प्रबन्ध-काव्य है, तब उस प्रबन्ध-काव्य की असफलता निश्चित हो जाती है। कीट्स ने अपना 'एनडेमियन' नामक प्रबंध-काव्य शायद इसी भाव से लिखा था। उस पर राय देते हुए मैथ्यू आर्नाल्ड ने लिखा है कि, 'यह इतना असंबद्ध काव्य है कि उसे काव्य कहना भी असंगत लगता है।" प्रगीतों के आचार्य प्रबन्ध-काव्य में सफलता शायद ही कभी पाते हों। रवीन्द्रनाथ ने प्रगीत अद्भुत लिखे, कुछ लम्बे कथा-काव्य भी उन्होंने सफलता के साथ रचे, किन्तु, खंड-काव्य की या महाकाव्य की रचना उन्होंने नहीं की। यह अच्छा ही हुआ क्योंकि माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद-वध की तुलना में अगर उससे भी श्रेष्ठ काव्य रवीन्द्रनाथ नहीं लिख पाते, तो उनकी कीर्ति कुछ कम हो जाती।

रोमांटिक युग के सभी यूरोपीय कवि रवीन्द्रनाथ के समान निरे मुक्तक-प्रेमी नहीं थे। गेटे, बायरन, कोलरिज और शेली ने बहुत अच्छी प्रबंध-कविताएँ लिखी हैं। रोमांटिक युग के बाद भी अंगरेजी में दो महाकाव्य ऐसे जरूर लिखे गये, जिनका साहित्य में उल्लेख चलता है। टामस हार्डी ने 'डायनास्ट' नामक महाकाव्य की रचना की और डफटी ने 'डान आव् ब्रिटेन' लिखा, यद्यपि ये काव्य वहाँ तक लोकप्रिय हुए हैं, यह अंगरेज पाठक ही बता सकते हैं। महा-काव्य-कार बनने का लोभ जब-तब नये कवियों में भी दिखायी देता है। अभी-अभी सेंट जॉ पर्स की दो सौ पृष्ठों की एक कविता (अंगरेजी नाम विंड्स) महा-काव्य के नाम से उछाली गयी है, यद्यपि, उसकी शैली प्रगीतों को गूँथकर महा-काव्य रचने की ही शैली है। किन्तु, यह काव्य भी जनता तक नहीं पहुँच पायेगा, क्योंकि यह बहुत मनीषियों को दृष्टि में रखकर रचा गया है। किन्तु, भारत में प्रबन्ध-काव्य की महिमा अब भी बहुत बड़ी है। इस देश की साधारण जनता व

नही चाहती कि जो काम प्रबंध-काव्यो के रचयिता करते हैं, वह काम उपन्यास-लेखकों के हवाले किया जाय और कविगण केवल मुक्तक लिखा करें। किन्तु इस देश में भी परीक्षण से यही पता चलता है कि प्रबन्ध-काव्य की रचना अत्यत कठिन कार्य है और अठारह सर्गों के बीस-बीस महाकाव्यो के बीच, शायद ही, कोई एक काव्य सफल होता हो।

शुद्ध कवित्व की दृष्टि से महाकाव्या, खडकाव्यो तथा कथा-काव्यो के कुछ दोष स्पष्ट हैं। महाकाव्यो में अभिव्यजना का गौण स्थान ससार ने हमेशा स्वीकार किया है। यह महाकाव्य का पहला अपराध है। दूसरा दोष यह है कि शुद्ध कवित्व-वादियो की दृष्टि से कविता कवि की किसी भावदशा का सगीतमय एव चित्रमय शब्दो में केवल अनुवाद है। उसका और कोई ध्येय नही होना चाहिए। तीसरा दोष यह है कि चूँकि कवि की भावदशा काफी देर तक नही ठहरती, इसलिए सच्ची कविता वह है, जो इस भावदशा के समाप्त होते ही, आप से आप, समाप्त हो जाती है तथा तदनुरूप वह, निश्चित रूप से, छोटी होती है। लम्बी कविता लिखने का तात्पर्य यह है कि कवि भावदशा की समाप्ति के बाद भी जबर्दस्ती रचना करता रहता है।

लेकिन, शुद्ध कविता और प्रबन्ध-कविता के बीच सबसे बडा भेद कदाचित् यह है कि शुद्ध कवित्ववादी कवि शैली को प्रमुख, विषय को बहुत ही गौण समझता है। उसमें कोई दृष्टिबोध नही होता, कोई विचार नही होता, न किसी पात्र के चरित्र का विकास उसका ध्येय होता है। वह अपनी सारी दृष्टि शब्दो पर रखता है, शैली के तत्र पर रखता है। विषय उसके लिए काव्य की रीढ नही होता, उसका उपयोग कवि बहुत कुछ उस खूँटी के समान करता है, जिस पर कविता रूपी कमीज टाँगी जाती है। किन्तु, प्रबन्ध-कवि पहले विषय की अवधारणा करता है और तब वह उस विषय के उन तत्त्वो की अनुभूति करता है, जिनके भीतर कवित्व छिपा हुआ है। फिर रचना के क्रम मे वह विषय की भी सँभाल रखता है और साथ-साथ तदनुरूप पक्तियो की भी सृष्टि करता जाता है।

शुद्ध कवि का दायित्व अत्यत सीमित होता है। वह सिर्फ शैली का प्रेमी होता है। किन्तु, प्रबन्ध-कवि पर जिम्मेवारी यह होती है कि वह विषय और शैली, दोनो की सँभाल रखे और इस तन्मयता से रचना करे कि उसका वर्णन कही भी शिथिल नहीं हो तथा शैली और भाव, दोनो एक दूसरे के परम अनुकूल हो। प्रबन्ध-कविता म केवल शैली और भाव की ही महिमा नही है, उसके भीतर घटनाएं भी घटनी हैं, कर्म की भी प्रगति होती है तथा चरित्रो का क्रमिक विकास भी होता है। असल में, प्रबन्ध-कविता वह कविता है, जिसमें प्रगीत, उपन्यास और नाटक, तीनो के तत्त्व मिले होते हैं। इसीलिए प्रबन्ध-काव्य की रचना साहित्य की विलक्षण रचना है और प्रबन्ध-कवि विलक्षण शक्ति का कवि होता है। जिन कवियो के

भीतर यह शक्ति नही होती, व साहित्य पर कृपा ही करते है, यदि वे प्रबन्ध न लिखकर मुक्तक लिखा करत हैं अथवा काव्य को छोड कर उपन्यासकी ओर चले जाते हैं।

सगीत और चित्र पर शुद्धतावादी कवि यद्यपि अपना विशेष अधिकार मानत रह हैं, किन्तु यह उन्ही की मिल्कियत नहीं है। प्रबन्ध कवि भी सगीत और चित्र का उपयोग निर्मुक्त भाव से करते है। सगीतमयता या चित्रमयता कोष के शब्दा मे नहीं होती। वह उस अदा से उत्पन्न होती है, जिस अदा से कवि शब्दो को अपनी कविता के भीतर सजाता है। सगीत और चित्र, ये शैली के उपादान हैं और जो भी प्रबन्ध-कवि शक्तिशाली होता है, वह अपनी शैली म उनका काफी चमत्कार समाविष्ट करता है। लेकिन केवल चित्र और सगीत काव्य नही वन सकते। वे काव्य-पुरुष के शरीर मे बहने वाले रक्त की ऊर्मियाँ हैं। काव्य के शरीर म जब तक यह रक्त तरगित होता है, उसके स्वास्थ्य की लालिमा तेज रहती है।

लेकिन केवल इसी को लेकर कविता कविता नही बनती। कविता म ढाँचा' भी होता है, जिसके भीतर प्रत्यक भाव, प्रत्येक विचार, प्रत्येक चित्र, प्रत्येक शब्द अपने उचित स्थान पर खचित, जडित अथवा ठुका हुआ दिखायी देता है। कविता म कल्पना या वस्तुओ को देखनवाली एक दृष्टि भी होता है। कविता की रचना कवि के किसी विचार या भाव के प्रक्षेपण से आरम्भ होती है। कवि जिस ढग स सोचता है, उसी ढग के शब्द उसके सामने आते हैं उसी ढग के सगीत और चित्र भी कविता मे उत्पन्न होते हैं। कविता का जन्म चित्र और सगीत से नही, कवि की उस दृष्टि से होता है, जिससे वह वस्तुओ को देखता है।

(शुद्ध कविता सर्वश्रेष्ठ कविता नही है। वह कविता की एक खास विधा है, जिसके उदाहरण प्रगीतो मे मिलते हैं अथवा बडे बडे काव्यों मे से छिट पुट ढग से छाटकर एकत्र किये जाते हैं। शुद्ध कविता के उदाहरण उन कवियो म भी मिलत हैं, जो शुद्धता का व्रत लिय हुए हैं और उन कवियो मे भी, जो कलाकार कम, कवि अधिक हैं, जिनका उद्देश्य आतिशबाजी का चमत्कार दिखा कर आदमी का केवल चौकना नही, बल्कि, सपूर्ण जीवन म आलोडन मचाना है। चूंकि शुद्ध कविता छोटी होती है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जो कविताएँ लम्बी हैं, व कविता न होकर कोई और चीज हैं। यदि लम्बी कविता कविता नही है, तो रामायण, महाभारत, रघुवश, रामचरितमानस, इलियड, डिवाइन कामडी, पैरेडाइज लास्ट और फौस्ट को हम कहा रखने वाले हैं?

छोटी कविता छोटी इसलिए होती है कि उसके पीछे काम करनवाली मनादशा क्षणस्थायी है—इतनी क्षणस्थायी है कि वह दो-चार पदा म समेटी जा सकती है। किन्तु, भावदशा ऐसी गम्भीर और जटिल भी हा सकती है, जो प्रगीत की इकाई म सिमटने से इनकार करे। कवि इस भावदशा का सूत्र पकडकर एसी

गहराइयों में भी जाता है, जिनका पहले से उसे कोई ज्ञान नहीं था, ऐसी भूमियों पर भी विचरण करता है, जिनका अनुभव पहले से उसे अनुपलब्ध था। महाकाव्य केवल भावनाओं पर नहीं लिखे जाते। उनके भीतर विचार भी आते हैं और वे भावनाओं के साथ-साथ चलते है। महाकाव्य प्रगीतों के समुच्चय का नाम नहीं है। महाकाव्य में वर्णन भी होता है, नाटकीयता भी होती है और प्रगीत भी होते हैं। किन्तु, वे अलग से आकर एकत्र नहीं हो जाते। वे एक ही महा कल्पना के अधीन, अपने-अपने उचित स्थान पर, जन्म लेते हैं और उन सबका उद्देश्य उस एक ध्येय की सेवा करना होता है, जो कवि का मुख्य ध्येय है।

यह ठीक है कि महाकाव्य-रचना की सारी प्रक्रिया शुद्ध कवित्व की प्रक्रिया नहीं होती। प्रबन्ध कवि प्रेरणा मे तो होता है किन्तु, कभी कभी उसके सामने ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं, जहाँ प्रेरणा नहीं होती, जहाँ शुद्ध-कवित्व के मार्ग से एक घटना दूसरी घटना से जोडी नहीं जा सकती। ये स्थल महाकाव्य में संकट के स्थल होते है और इन्हीं स्थलों पर इस बात की जाँच होती है कि कवि में केवल कवित्व ही है या प्रबन्ध की पटुता भी, वह केवल प्रेरित होने पर ही लिख सकता है अथवा अपनी कारीगरी का चमत्कार वह वहाँ भी दिखा सकता है, जहाँ प्रेरणा के लिए कोई खास गुंजाइश नहीं है।

महाकाव्यों में कला और कौशल, दोनों का प्रयोग करना पडता है। कला का दायित्व सीधे महा कल्पना पर होता है, जो प्रत्येक पंक्ति की रचना के समय यह देखती चलती है कि वह पूरे महाकाव्य की इकाई के अनुरूप ढल रही है या नहीं। किन्तु, कौशल कवि के अभ्यास-जनित अनुभव से आता है। अनुभवी कवि जानता है कि दो घटनाएँ अथवा दो प्रसंग यदि सीकर जोडकर दिये जायँ, तो उनकी बखिया कैसे छिपायी जा सकती है।

महाकाव्य लिखे तो बहुत जाते है (खास कर भारतवर्ष मे), किन्तु, वे सफल कम ही बार हो पाते हैं। जो प्रगीतकार चतुर हैं, वे तो इस शंभु चाप को छूते भी नहीं, किन्तु, ऐसा भी हुआ है जब प्रगीतों के महारथियों को यह धनुष तोडने का लोभ हुआ और अपनी रचनाओं के भीतर वे चारों खाने चित्त हो गये। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रगीतकारों की महा कल्पना इतनी शक्तिशालिनी नहीं होती कि वह कथा के विभिन्न सूत्रों की सँभाल रख सके। महाकाव्य मे नाटकीयता होती है, कर्मों का उत्थान-पतन और घटनाओं का विकास होता है। ये सारे कार्य प्रगीतकारों के वश के बाहर के काम हैं। वे कर्म से घबराते हैं, घटनाओं के नैसर्गिक विकास को वे ठीक से नहीं समझ सकते, न उन्हे इसी बात का ज्ञान होता है कि भावना, विचार, कर्म और घटनाओं का पारस्परिक अनुपात कितना रहने पर काव्य रोचक होता है और कैसे, इस अनुपात के बिगड जाने से, कविता नीरस, बोझिल और निःस्वाद हो जाती है।

वैसे तो कोई भी अच्छी कविता संयोग से ही लिखी जाती है, किन्तु, महाकाव्य की रचना सबसे कठिन कार्य है। प्रगीत की समस्या केवल एक क्षणिक अनुभूति के सही निर्वाण की समस्या है। किन्तु, प्रबन्ध-कवि के सामने समस्याओं का पहाड़ खड़ा होता है, और जो कवि इनमें से प्रत्येक समस्या का सम्यक् समाधान पा लेता है, उसी की रचना सुपाठ्य उतरती है। किन्तु, सभी समस्याओं का समाधान लगभग ईश्वरीय चमत्कार के समान दुर्लभ घटना है। इसीलिए महाकाव्य, संयोग से ही, उत्पन्न होते हैं। होय घुनाक्षर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक।

महाकाव्यों और खंडकाव्यों की आधुनिक निन्दा का कारण यह नहीं है कि ऐसे काव्य अकाव्यात्मक होते हैं, बल्कि, यह कि खंडकाव्य और महाकाव्य लिखकर सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। अगर खंडकाव्य की विधा अकाव्यात्मक होती, तो नये कवि खंडकाव्य लिखने की कोशिश नहीं करते और फिर उन्हें अंगूर खट्टे कहकर इस विधा की निन्दा भी नहीं करते। कथाकाव्य अथवा खंडकाव्य लिखने में सफलता उसी कवि को मिलती है, जो पुरानी वस्तु को नयी आग में जलाकर उसे नवीन बना सकता है, जो रचना की प्रक्रिया से यह दिखला सकता है कि महाकाव्य लिखते समय, क्षण-क्षण, वह उसी प्रकार जल रहा था, जैसे प्रगीतकार एक क्षण के लिए जला करते हैं; संक्षेप में जो यह प्रमाणित कर सकता है कि आदि से अन्त तक उसकी भावदशा एक समान तनी हुई तथा ताजगी और उत्तेजना से पूर्ण थी।

कथाकाव्यों के विरोध का कुछ कारण यह भी है कि कथाकाव्य वस्तुनिष्ठ होते हैं, विषय-प्रधान होते हैं, और शुद्ध कवि अपना सर्वस्व शैली को समझता है। केवल शैली के बल पर इतिहास को नया मोड़ देना संभव नहीं हो सकता। केवल शैली के जोर से घटनाएँ वश में नहीं रखी जा सकतीं।

शुद्ध कवियों को यह बान पड़ गयी है कि फकत एक-दो बिम्ब बनाकर वे यह समझ लेते हैं कि कविता समाप्त हो गयी। उनका सारा काम उपकल्पना अथवा फैन्सी से चलता है। जब से शुद्ध कवित्व का आन्दोलन उठा है, महाकल्पना का उपयोग, दिनों दिन, कम होता जा रहा है। किन्तु, खंडकाव्य और महाकाव्य उपकल्पना के भरोसे नहीं लिखे जा सकते। उपकल्पना मजदूरिन है। वह ईंट और गारा ढोने का काम करती है। महल का असली इंजीनियर तो महाकल्पना है, जिसकी आज्ञा से उपकल्पना को काम करना पड़ता है।

प्रगीत का कर्त्ता पाठकों पर, बस, एक क्षण को हावी होता है। किन्तु, महाकाव्य का रचयिता पाठकों को साथ लेकर कई बार तलहटी से शिखर तक और शिखर से तलहटी तक, आना-जाता है। प्रगीतकार के पास, बस, एक फूल होता है। वह पाठकों को पसन्द आये या नहीं, किन्तु, वही फूल उन्हें ग्रहण करना पड़ता है। महाकाव्य का रचयिता यह चुनाव पाठकों पर ही छोड़ देता है कि रास्ते के कोने-

देखना चाहते हैं। चित्र पारदर्शी भी होते है और अध भी। अध चित्र केवल बाहरी शोभा के कारण होते हैं। चित्र जब पारदर्शी होते हैं, तभी पाठक यह समझने की स्थिति मे होता है कि इस कविता के भीतर से कितनी दूर की चीजें दिखायी दे रही हैं। नाद-सौन्दर्य कविता का बहुत उत्तम गुण है, किन्तु, अर्थहीन काव्य केवल नाद-सौन्दर्य के कारण अच्छा काव्य नहीं समझा जा सकता। अच्छी कविता वह है, जो ध्वनि के प्रयोग के द्वारा उस स्थिति की भी व्यजना करती है, जो अगोचर और बुद्धि के पार है।

इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रान्त भवन मे टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं।—प्रसाद

अच्छी कविता उस गहरी अनुभूति का सधान है, जिसके ध्वनित होते ही वीणा के सभी तार झकृत हो उठते हा। कवि के शब्द हमारी चेतना मे केवल नाद जगाकर समाप्त हो जायँ, तो वे असली काव्य के शब्द नहीं हैं। उन्हे हमारी चेतना के रग, प्रकाश और शक्ति को भी आन्दोलित करना चाहिए।

नयी कविता सब कुछ को छोडकर शैली के पीछे इसलिए नहीं पडी है कि भाषा ही कविता का सर्वस्व है और भाव का उसके लिए कोई महत्त्व नही है। असल मे यह उस क्षति की पूर्ति का प्रयास है, जो सामाजिक वास्तविकता से भागने के कारण कविता को सहनी पडी है। कवि पहल उपदेशवाद से बचने के लिए सौन्दर्य की ओर भागा था, फिर वह परपरा से अपनी दूरी दिखाने को अर्थ से भागने लगा और तब अपनी अभिव्यजना की शक्ति आजमाने को वह हर विषय के अनिर्वचनीय रूप पर आसक्त होने लगा। इतनी ठोस सामग्रियों के त्याग से जो जगह खाली हो गयी, उन्हे वह शब्द-सौन्दर्य से भरना चाहता है, उस धुंधले रहस्यवाद से भरना चाहता है, जो अर्थ के ठीक-ठीक पकड मे नही आने से उत्पन्न होता है।

शुद्ध कवित्ववादियो ने इस बात को छिपाने के कोशिश नही की है कि वास्तविकता के वे विरोधी हैं, क्योंकि इस वास्तविकता को बदलना कविता के बूते की बात नही है। जर्मनी के प्रसिद्ध अभिव्यजनावादी कवि गाटफ्रीड बेन ने लिखा है कि मनुष्यों को यह बताना ज्यादा क्रातिकारी काम है कि "तुम जो हो, हमेशा वही रहोगे, अत, परिवर्तन की चेष्टा बेकार है। तुम जैसे थे, वैसे ही आज भी हो और आगे भी ऐसे ही रहोगे। जिसके पास रुपये हैं, वह ज्यादा दिनो तक कायम रहता है। जिसके पास अधिकार हैं, वह गलती नहीं करता। जिसके पास ताकत है, वह अपना हक भी कायम कर लेता है। इतिहास इसी को कहते है।"

यदि आलोचना की दृष्टि से देखा जाय तो यह आलोचना मनुष्य-समाज की

फूल उसे ज्यादा पसन्द है। प्रगीत फूलो का एक गुच्छा है अथवा, ज्यादा से ज्यादा, गुलाब का एक पौधा। किन्तु, महाकाव्यो के कर्त्ताओ को अपनी भूमि मे अनेक उद्यान लगाने पडते हैं फूलों का एक जगल बसाना पड़ता है। कीट्स ने कहा था कि "लबी कविता कवि की आविष्कारमयी प्रतिभा की आखिरी कसौटी है। यही वह ध्रुवतारा है, जो समुद्र मे कविता को दिशा-ज्ञान कराता है। उपकल्पना कुछ नही, केवल पाल है। और नाव की पतवार महाकल्पना के हाथ मे होती है।"

प्रबध-काव्य कविता की सबसे श्रेष्ठ और सबसे कठिन विधा इसलिए भी है कि वह केवल वैयक्तिक उच्छ्वास से जन्म नही लेती। प्रबध-कविता अक्सर किसी ऐतिहासिक घटना पर लिखी जाती है अथवा किसी मिथ अथवा पुराण पर। अतएव, ऐसी कविता रचते समय कवि को वैयक्तिक आविष्कार से आगे जाना पड़ता है। जहाँ भी पुराने मिथ का नया सस्करण तैयार करना होता है, वहाँ यह चिन्ता प्रमुख हो जाती है कि मिथ के नये सस्करण को पाठको की सभावना-वृत्ति स्वीकार करेगी या नही। सारी परपरा के आलोक मे मिथ को नवीन बनाने का काम महा कल्पना का काम है और पाठको की सभावना-वृत्ति का भी अनुमान महा कल्पना ही लगा सकती है। यह काम उपकल्पना नही कर सकती, क्योंकि मीनाकारी और पच्चीकारी से आगे का रास्ता उसे मालूम नही है।

जनता प्रोफेसरो द्वारा बताये हुए मार्ग से नही चलती। उलटे, जब जनता किसी काव्य को हृदयहार बना लेती है, तब प्रोफेसर ही उसकी सार्थकता सिद्ध करने लगते हैं। शुद्ध कविता के पक्ष मे दी जाने वाली सभी दलीलो के बावजूद जनता प्रबध-काव्यों को छोड़ने को तैयार नही है। आत्मा के सरोवर मे किसी हलकी हिलकोर की अनुभूति भी सुसस्कृत मनुष्य का अत्यंत सूक्ष्म आनन्द है। किन्तु, जनता इस सूक्ष्म आनन्द को यथेष्ट नही मानती। वह ऐसी कविताओ को अधिक पसन्द करती है, जो उसे झकझोर सकें, गुदगुदा सकें, धीरज बँधा सकें, उसके भीतर आशा और बल का सचार कर सकें। ये काम धर्म, राजनीति और समाजशास्त्र के व्याख्याता नही कर सकते। वे काम कवि करते हैं और कवियो मे भी वे, जो प्रबन्ध-काव्य रचने मे पूर्ण रूप से पटु है।

कविता के बारे मे हमारी जो सामान्य धारणा है, वह शुद्ध कवित्व के सिद्धान्त का समर्थन नही करती। शुद्ध कवित्ववादियो का विचार है कि चित्र ढाँचो से खिलते हैं और कविताएँ नाद से। नोवालिस ने कहा था कि ऐसी कविताएँ ज्यादा लिखी जानी चाहिए, जिनमे शब्दो का ध्वनि-सौदर्य तो हो, अर्थ कुछ भी नही हो। लेकिन, कविता शब्दों की ध्वनि को लेकर नही जी सकती, वह अर्थ की ध्वनि पर कायम रहती है। चित्रकारी और बिम्ब-योजना कविता को खूबसूरत तो बनाती है, लेकिन कविता की शक्ति किसी और दिशा से आती है। कोरे बिम्बों का खेल कोरी आतिशबाजी का काम है। दरअसल, हम बिम्बो के भीतर से कुछ और

देखना चाहते हैं। चित्र पारदर्शी भी होते हैं और अंध भी। अंध चित्र केवल बाहरी शोभा के कारण होते हैं। चित्र जब पारदर्शी होते हैं, तभी पाठक यह समझने की स्थिति में होता है कि इस कविता के भीतर से कितनी दूर की चीजें दिखायी दे रही हैं। नाद-सौन्दर्य कविता का बहुत उत्तम गुण है, किन्तु, अर्थहीन काव्य केवल नाद-सौन्दर्य के कारण अच्छा काव्य नहीं समझा जा सकता। अच्छी कविता वह है, जो ध्वनि के प्रयोग के द्वारा उस स्थिति की भी व्यंजना करती है, जो अगोचर और बुद्धि के पार है।

इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं।—प्रसाद

अच्छी कविता उस गहरी अनुभूति का सधान है, जिसके ध्वनित होते ही वीणा के सभी तार झंकृत हो उठते हों। कवि के शब्द हमारी चेतना मे केवल नाद जगाकर समाप्त हो जायें, तो वे असली काव्य के शब्द नहीं है। उन्हे हमारी चेतना के रंग, प्रकाश और शक्ति को भी आन्दोलित करना चाहिए।

नयी कविता सब कुछ को छोड़कर शैली के पीछे इसलिए नही पड़ी है कि भाषा ही कविता का सर्वस्व है और भाव का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है। असल में यह उस क्षति की पूर्ति का प्रयास है, जो सामाजिक वास्तविकता से भागने के कारण कविता को सहनी पडी है। कवि पहले उपदेशवाद से बचने के लिए सौन्दर्य की ओर भागा था, फिर वह परपरा से अपनी दूरी दिखाने को अर्थ से भागने लगा और तब अपनी अभिव्यजना की शक्ति आजमाने को वह हर विषय के अनिर्वचनीय रूप पर आसक्त होने लगा। इतनी ठोस सामग्रियों के त्याग से जो जगहें खाली हो गयी, उन्हे वह शब्द-सौन्दर्य से भरना चाहता है, उस धुँधले रहस्यवाद से भरना चाहता है, जो अर्थ के ठीक-ठीक पकड़ मे नहीं आने से उत्पन्न होता है।

शुद्ध कवित्ववादियों ने इस बात को छिपाने के कोशिश नही की है कि वास्तविकता के वे विरोधी हैं, क्योंकि इस वास्तविकता को बदलना कविता के बूते की बात नही है। जर्मनी के प्रसिद्ध अभिव्यजनावादी कवि गाटफ्रीड बेन ने लिखा है कि मनुष्यों को यह बताना ज्यादा क्रांतिकारी काम है कि "तुम जो हो, हमेशा वही रहोगे; अत, परिवर्तन की चेष्टा बेकार है। तुम जैसे थे, वैसे ही आज भी हो और आगे भी ऐसे ही रहोगे। जिसके पास रुपये हैं, वह ज्यादा दिनो तक कायम रहता है। जिसके पास अधिकार हैं, वह गलती नही करता। जिसके पास ताकत है, वह अपना हक भी कायम कर लेता है। इतिहास इसी को कहते है।"

यदि आलोचना की दृष्टि से देखा जाय तो यह आलोचना मनुष्य-समाज की

अच्छी आलोचना है। किन्तु, क्या हम इसे जीवन-दर्शन भी मान सकते है ? अगर मनुष्य नही बदलता, समाज नही बदले जा सकते, तो फिर प्रसन्नता या अप्रसन्नता के साथ हम यही कर सकते हैं कि जो भी सत्ता हथिया ले, उसके साथ सहयोग का रास्ता खोजकर निकाल लें।

बेन ने एक जगह और लिखा है, "बाहरी वास्तविकता का अस्तित्व नही है। जिस चीज का अस्तित्व है, वह हमारी आन्तरिक मानवीय चेतना है। यही चेतना अपनी रचनात्मक शक्ति के बल पर रचना करती है, परिवर्तन करती है, शब्दों के द्वारा नव-निर्माण करती है।"

एक अन्य शुद्धतावादी लेखक मूसिल के एक पात्र से जब यह प्रश्न किया जाता है कि तुम यदि ईश्वर बन जाओ तो क्या करोगे, तब वह बड़ी ही बेफिक्री के साथ जवाब देता है, "मैं वास्तविकता का उन्मूलन कर दूंगा।"

ये अतिवादी बातें है। यह एक दिशा मे, बिना सोचे-समझे, बहुत दूर निकल जाने का काम है। कवि वास्तविकता तो क्या, दृष्टिबोध तक की अवहेलना नही कर सकता और यदि करे, तो उसका वही हाल होगा, जो शुद्धतावादियों का हो रहा है। कवि उपदेशवाद से अलग रहे, नेतागिरी से अलग रहे, आन्दोलनों से अलग रहे, यह सभव है। किन्तु, वह वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही प्रकार की सवेदनाओ का यत्र है, इस स्थिति को वह कैसे भूल सकता है ? उपदेश मत दो, नेता मत बनो, मगर सवेदना के यत्र के रूप मे झनझनाओ तो सही कि सुननेवाले सावधान हो जायें और अपनी चिंता करना आरम्भ कर दें।

लड़नेवाली मुट्ठी जेबो में बन्द,
नया दौर लाने में असफल हर छन्द,
कब तक,
आखिर कब तक ? —धर्मवीर भारती

डब्ल्यू० एच० ओडेन ने इस प्रसग मे एक बहुत ही अच्छी उक्ति कही है। "कविता का काम यह नही है कि वह लोगो से यह कहती चले कि तुम्हे यह काम करना चाहिए और यह काम नही करना चाहिए। कविता का काम केवल पाप और पुण्य के ज्ञान को विस्तृति प्रदान करना है, लोगो मे वह उत्तेजना जगानी है, जिससे धर्म उनके लिए अनिवार्य हो उठे, उनके भीतर वह अनुभूति उठानी है जिससे वे अपने कर्तव्य को समझ सकें। कविता मनुष्य को उस अवस्था मे पहुँचाकर छोड देती है, जहाँ उसे अपना निर्णय आप करना होता है।"

पुरानी मान्यता के लोग ओडेन की इस उक्ति को समीचीन समझेंगे। किन्तु, जो लोग शुद्ध कवित्व के प्रभाव मे आ चुके हैं, वे इसे सन्देह से देखेंगे और सोचेंगे कि ओडेन, परोक्ष रूप से, प्रचार-काव्य का समर्थन कर रहे हैं। किन्तु, प्रचार की भूमि यदि इतनी विस्तृत है, तो उसकी सारी सीमाओं का अतिक्रमण कैसे किया

जा सकता है ? यदि मानसिक स्थिति मे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न करने का काम प्रचार का काम माना जाय, तो सभी कलाएं प्रचार की कला ठहरेंगी। कविता की चर्चा केवल कविता की चर्चा नही होती, वह काव्य से किसी अधिक व्यापक तत्त्व की चर्चा बन जाती है। विशृखलता के चित्रण मे भी कविता किसी शृखला का सकेत देती है, निराशा की आवाज होने पर भी वह आशा के सधान की राह बताती है। इलियट और एजरा पौंड के लिए प्रश्न मानसिक नही, सामाजिक है। सस्कृति के विघटन के दृश्य को वे तटस्थ होकर नही देखते। सस्कृति के उस अश को वे बचाना चाहते है, जो रक्षणीय है। इसीलिए, उनकी गिनती महा कवियो मे की जाती है। प्रतीकवाद, अभिव्यजनावाद और चित्रवाद से शैली की समृद्धि मे वृद्धि हुई है। आज भी जो शक्तिशाली कवि है, वे उनका उपयोग, साधन के रूप मे, करते है। किन्तु, उनके बहुत सारे अनुयायी, जो हमेशा तटस्थ रहने की प्रतिज्ञा से लाचार हैं, केवल बालू पर लकीरें खीच रहे है, केवल आतिशबाजी के खेल खेल रहे है। कविता को अगर जीवन के मार्ग-दर्शन से परहेज हो, तो यह परहेज वह निभा सकती है। किन्तु, जीवन के साथ चलने मे आपत्ति की ऐसी क्या बात हो सकती है ?

कवि उपदेशक न बने, यह बात समझ मे आती है। वह राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनो से अलग रहे, आपत्ति की कोई बात यहाँ भी नही दीखती। और लिखते समय वह वर्ण्य से अधिक ध्यान वर्णन का रखे, विषय की पकड़ से छूटकर (जो काम लगभग असभव है) शैली पर जोर दे, ये बातें भी बुरी नही हैं, क्योंकि जिसके पेट मे कहने योग्य कोई बात नही है, उसकी कोई भी बात खूबसूरत नहीं होगी। शैली विचार की त्वचा होती है। जहाँ विचार नही हैं, वहाँ कोई भी शैली काम नही करेगी। एक ही भाव दो शैलियो मे नही कहा जा सकता शैली मे परिवर्तन का अर्थ विचार मे परिवर्तन होता है। जो कवि यह कहता है कि अब मैं शैली के परिमार्जन मे लगा हुआ हूँ, वह, असल मे, विचारो के परिमार्जन की ही बात सोच रहा है। जिस अनुपात मे विचार अभिव्यक्ति पाते हैं, उसी अनुपात मे वे विचार होते हैं। जो विचार अभी व्यक्त नही हुआ, समझना चाहिए कि वह अभी अस्तित्व मे ही नही है। जब विचार स्वच्छ होते हैं, शैली, आप से आप, स्वच्छ हो जाती है। जब विचार धुँधले और अस्पष्ट रह जाते हैं, कवि की शैली भी धुँधली और अस्पष्ट हो जाती है। जब हमें कहने योग्य कोई बात सूझनी है, उसकी भाषा हमें, आपसे-आप, मिल जाती है। किन्तु, जब कहने की बात हमें नहीं सूझती, कलम, कूँची और जीभ, सबके सब निश्चल रह जाते हैं, मौन रह जाते हैं। कोई भी कवि दूषित शैली मे अच्छी बात नही कह सकता। अतएव, शैली पर जोर देना अच्छा काम है, वह साहित्य का काम है, कला का काम है। जिसका अभ्यास कठोर है, उसकी शैली मितव्ययी और चुस्त होती है और चुस्त विचार चुस्त शैली मे ही प्रकट हो सकते हैं।

किन्तु जो बात समझ मे नही आती है, वह यह है कि कवि ज्ञान से इतनी घृणा क्यो करता है, अर्थ को क्यो छिपाता है और रोज-रोज अपनी श्रद्धाहीनता और आस्थाहीनता का बखान इस प्रकार क्यो करता है, मानो, आस्थाहीनता ही ईमानदारी का असली रूप हो ? और इस बात पर वह नाज क्यों करता है कि उसके पास कोई दृष्टिबोध नही है ? शैली की आराधना का ध्येय इतना ही माना जा सकता है कि साहित्य मे शक्ति की धारा को केवल सामाजिक परिवेश से ही नही आना चाहिए, उसे काव्य में प्रयुक्त शैली और शब्दों से भी विच्छुरित होना चाहिए। लेकिन कवि यदि यह सिद्धान्त बना ले कि सामाजिक स्पन्दनो और परिवेश की सनसनाहटो का असर वह बिलकुल नही लेगा, तो इसे हम साहित्य का दुर्भाग्य समझेंगे। सभी आस्थाओ से टूट कर या तटस्थ होकर न तो कोई लिख सकता है, न जी सकता है। प्रभाव उन्ही आस्थाओ का नही पडता, जिनमें हम विश्वास करते है। प्रभाव उनका भी पडता है, जो आस्थाएँ हमे नापसन्द हैं अथवा हम जिनका विरोध करना चाहते है। खूबसूरत दुनिया का खयाल लेकर मस्त रहना काफी नही है। हमे सौन्दर्य और कुरूपता, दोनो के पीछे छिपे तत्त्व का उद्घाटन करना चाहिए।

इधर सौ वर्षों के भीतर यूरोप के कुछ लेखको ने इस बात की भी घोषणा की है कि शैली की अवधारणा वे पहले करते है, भाव उनके बाद को आते हैं। तो क्या बातों की खोज वे इस भाव से करते हैं कि उन्होने एक बुश शर्ट खरीदा है और उसे पहनने के लिए उन्हे एक लडका चाहिए ? यह अस्वाभाविक बात है। शैली कविता की पोशाक नही, त्वचा होती है। वह भावो के साथ ही अवतीर्ण होती है, आगे या पीछे नही। और भाव कवि के दृष्टिबोध से आते है। दृष्टिबोध वह चीज है जिसे साम्यवादी अपनी "आइडियोलाजी" और जर्मन विद्वान् वेल्टअनशाऊंग weltanschauung कहते हैं। वह उस समग्र दृष्टि का नाम है, जिससे हम ससार और उसकी समस्याओ को देखते हैं। यह दृष्टिबोध कवि की प्रेरणा का स्रोत होता है और कृतियो मे वह, ठीक उसी प्रकार, अदृश्य रूप से विद्यमान रहता है, जैसे सृष्टि के भीतर ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। शैली के अनुरूप भावो की खोज नही की जाती, भाव ही अपने अनुरूप शैली का सधान कर लेते हैं। यह सम्भव है कि दृष्टिबोध की अभिव्यक्ति अपरोक्ष ढग से न की जाय, किन्तु, परोक्ष रहने पर भी वह विषय के प्रवाह का निर्धारण करता है, वर्णन के सूत्रो की सँभाल रखता है, प्रमुख को अप्रमुख से अलग करता है और जो आवश्यक है, उसे अनावश्यक से अलग कर लेता है। दृष्टिबोध उनमे भी है, जो उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं और उनमे भी, जो उससे इनकार करते हैं।

कविता केवल पक्षियो के गीत का मानवीय सस्करण नही है। वह वाल्मीकि और व्यास भी है, तुलसी और मोहम्मद इकबाल भी है। कवि यदि ज्ञानी न हो,

उसके पास यदि कोई आस्था या विश्वास न हो, उसे न तो कोई दृष्टिबोध हो, न जाति हो, न संस्कृति अथवा देश, न उसके सामने संसार हो और इस अभाव के बीच उसे केवल नग्न चेतना हो, जो खुद-ब-खुद उभरती रहे, उसका उद्देश्य केवल अपने अचेतन का संधान हो, अपने सद्द्वयात्मक मन की हलचलों को व्यक्त करना हो, तो फिर कविता क्या रह जायगी और लोग उसे क्यों पढ़ेंगे ?

दुरूहता और अर्थहीनता मे भेद है। अनेक महाकवियो के भीतर, समय समय पर, ऐसी चिनगारियाँ छिटकती हैं, जो दुर्बोध होती हैं और जिनकी व्याख्या तर्क की भाषा मे नही की जा सकती। किन्तु, अर्थहीनता उन कवियो का लक्षण है, जो सब कुछ से टूटकर किसी ऐसे ध्येय की ओर चलते हैं, जिसका अस्तित्व ही संदिग्ध हो सकता है। वास्तविकता को अर्थ से तथा वस्तु को प्रतीक से अलग करने के जो भी महान् प्रयोग हुए हैं, हमारे खयाल से, वे कामयाब नही हुए। वास्तविकता के प्रति हम मे एक उत्सुकता है, जो हमे बरबस अर्थ ढूँढने की ओर प्रेरित करती है। लेकिन, कविता जब सत्य के बदले तथ्य के फेरे में पड़ जाती है, तब तथ्य का यथावत् वर्णन तो वह कर देती है, किन्तु, सत्य की झाँकी नही दे पाती। हमने चित्रकारी देखी, बिम्ब देखे, किन्तु, चित्रो और बिम्बो के परे हम सत्य की झाँकी नही प्राप्त कर सके।

इस दृष्टि से कविता पर विज्ञान का प्रभाव सर्वथा वाछनीय नही हुआ है। विज्ञान की साधना सुनिश्चितता की साधना है, शैली को ठोस बनाने की साधना है, भावनाओ के तूफान मे न उडकर कथ्य के यथातथ्य निरूपण की साधना है। ये गुण रोमांटिक कवियो मे नही थे। रोमांटिक कवि विज्ञान की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करते थे। नये कवि आवेश मे न आकर शान्त भाव से विज्ञान की भाषा का प्रयोग करना चाहते है। इसे हम विज्ञान का मंगलकारी प्रभाव कहते हैं। किन्तु, (एक बात मे रोमांटिक कवि नये कवियो से श्रेष्ठ थे। वे यह मानकर चलते थे कि वास्तविकता के ऐसे भी रूप हैं, जहाँ तक विज्ञान के औजार नही पहुँच सकते। नये कवियो की मान्यता यह दीखती है कि वास्तविकता उतनी ही है, जितनी का ज्ञान विज्ञान ने प्राप्त कर लिया है। इसीलिए उनका ध्यान सत्य पर नही, तथ्य पर अड गया है, क्योकि न्युटनीय विज्ञान तथ्य से भिन्न किसी सत्य की कल्पना नही करता। लेकिन परमाणु-भेदन के बाद न्युटन के कारण-कार्य के सिद्धात संदिग्ध हो गये हैं और नयी भौतिकी जिस ऊँचाई पर अब पहुँच गयी है, वहाँ से उसे दर्शन का समुद्र दिखायी देने लगे तो कोई आश्चर्य नही मानना चाहिए। किन्तु, विज्ञान की इस नवीनतम अनुभूति का प्रभाव अभी कवियो पर नही पडा है। वह अभी विशेषज्ञो के ऊँचे स्तर पर है और जो ज्ञान अभी विशेषज्ञो के धरातल पर टिका है, वह साहित्य मे प्रवेश नही पा सकता। साहित्य का निर्माण उस ज्ञान के आधार पर होता है, जिसका प्रचलन सर्वसाधारण के बीच हो चुका है।

सत्य और तथ्य मे भेद है। तथ्य दुनिया के आँकडो का नाम है, किन्तु, सत्य आँकड़ो से समझा नही जा सकता।

आँख मूँद कर छूता हूँ जब शिलाखड को,
　　　　मन कहता, आप ही आप, यह तथ्य है।
आँख मूँदकर छूता हूँ जब नभ अखड को,
　　　　मन कहता, आप ही आप, यह सत्य है।
　　　　　　　　　　　　—नये सुभाषित

'एब्सोल्यूट' को अपना ध्येय मानकर चलनेवाले कवियो ने तथ्य को ही सत्य मान लिया, यह उनके अभियान पर कुरूप व्यग्य है। अथवा यह कहना अधिक सगत है कि जो लोग तथ्य को ही सत्य मानने को तैयार हैं, उन्हे एब्सोल्यूट का ध्यान ही नही करना चाहिए। नयी कविता की यह वेदना विचित्र है कि एक मन से तो वह अनिर्वचनीय का सन्धान करना चाहती है और दूसरे मन से वह विज्ञान की सीमा से बाहर झाँकने को तैयार नही है। वैज्ञानिक फिर भी निरापद और श्रेष्ठ है, क्योकि वे ठोस जगत् मे काम करते है। उनमे से कुछ ऐसे भी हैं, जो अपनी क्षमता की सीमा को जानते है और विश्वास करते है कि हम जिस वास्तविकता पर काम कर रहे है, वह सारा सत्य नही है। वास्तविकता के और भी रूप हैं, किन्तु, उनका सधान विज्ञान नही कर सकता। लेकिन, नये कवियो की स्थिति इतनी श्रेष्ठ नही है। उनका ध्येय कोई ऐसी वस्तु है, जो विज्ञान के परे पहुँचती हे, किन्तु, ये कलाकार उसका सधान विज्ञान की पद्धति से करना चाहते हैं। यह ऊँट पर चढकर थियेटर देखने का मनसूबा है, यह होटलो मे ठाकुरवाड़ी बनाने-जैसा हास्यास्पद काम है।

विज्ञान के प्रभाव से मानवता परलोक को छोडकर लोक की ओर मुड़ी थी। जब ईश्वर था, वास्तविकता पर झिलमिलो का परदा पडा हुआ था। लेकिन, ईश्वर के हटते ही वास्तविकता अत्यन्त वास्तविक हो उठी। आशा थी कि आधिभौतिक विश्वासो से प्रेरित कलाकार इस वास्तविकता का आदर पहले से ज्यादा करेंगे। किन्तु, जब वास्तविकता का ठोस रूप प्रकट हुआ, कलाकर उससे आँखें चुराने लगे, उससे और भी अधिक दूर भागने लगे। इसीलिए प्रतीक और भी प्रतीकात्मक हो उठे तथा कला और भी कलात्मक हो गयी। आश्चर्य की बात है कि विज्ञान ने जिस स्वर्ग की नीव उखाड दी, उस स्वर्ग को कलाकार उठाकर अपने घर ले गये। और विज्ञान ने जिस धरती को वरेण्य बताया, कला मे वही धरती आज सबसे उपेक्षणीय है।

कविताओ मे जो कुंठा, आत्मपीडा, वेदना, बेचैनी और अप्रसन्नता के भाव उभर रहे हैं, उनका एक कारण यह भी है कि नये कवियो ने यह ठान लिया है कि भावना और बुद्धि का जो सघर्ष सभ्यता को बेचैन किये हुए है, उनमे से किसी

सत्य और तथ्य मे भेद है। तथ्य दुनिया के आँकडो का नाम है, किन्तु, सत्य आँकडो से समझा नही जा सकता।

> आँख मूँद कर छूता हूँ जब शिलाखड को,
> मन कहता, आप ही आप, यह तथ्य है।
> आँख मूँदकर छूता हूँ जब नभ अखड को,
> मन कहता, आप ही आप, यह सत्य है।
>
> —नये सुभाषित

'एब्सोल्यूट' को अपना ध्येय मानकर चलनेवाले कवियो ने तथ्य को ही सत्य मान लिया, यह उनके अभियान पर कुरूप व्यग्य है। अथवा यह कहना अधिक सगत है कि जो लोग तथ्य को ही सत्य मानने को तैयार है, उन्हे एब्सोल्यूट का ध्यान ही नही करना चाहिए। नयी कविता की यह वेदना विचित्र है कि एक मन से तो वह अनिर्वचनीय का सन्धान करना चाहती है और दूसरे मन से वह विज्ञान की सीमा से बाहर झाँकने को तैयार नहीं है। वैज्ञानिक फिर भी निरापद और श्रेष्ठ है, क्योकि वे ठोस जगत् मे काम करते हैं। उनमे से कुछ ऐसे भी है, जो अपनी क्षमता की सीमा को जानते है और विश्वास करते हैं कि हम जिस वास्तविकता पर काम कर रहे है, वह सारा सत्य नही है। वास्तविकता के और भी रूप हैं, किन्तु, उनका सधान विज्ञान नही कर सकता। लेकिन, नये कवियो की स्थिति इतनी श्रेष्ठ नही है। उनका ध्येय कोई ऐसी वस्तु है, जो विज्ञान के परे पहुँचती है, किन्तु, ये कलाकार उसका सधान विज्ञान की पद्धति से करना चाहते हैं। यह ऊँट पर चढकर थियेटर देखने का मनसूबा है, यह होटलो मे ठाकुरवाड़ी बनाने-जैसा हास्यास्पद काम है।

विज्ञान के प्रभाव से मानवता परलोक को छोडकर लोक की ओर मुड़ी थी। जब ईश्वर था, वास्तविकता पर झिलमिली का परदा पडा हुआ था। लेकिन, ईश्वर के हटते ही वास्तविकता अत्यन्त वास्तविक हो उठी। आशा थी कि आधिभौतिक विश्वासो से प्रेरित कलाकार इस वास्तविकता का आदर पहले से ज्यादा करेंगे। किन्तु, जब वास्तविकता का ठोस रूप प्रकट हुआ, कलाकर उससे आँखें चुराने लगे, उससे और भी अधिक दूर भागने लगे। इसीलिए प्रतीक और भी प्रतीकात्मक हो उठे तथा कला और भी कलात्मक हो गयी। आश्चर्य की बात है कि विज्ञान ने जिस स्वर्ग की नीव उखाड दी, उस स्वर्ग को कलाकार उठाकर अपने घर ले गये। और विज्ञान ने जिस धरती को वरेण्य बताया, कला मे वही धरती आज सबसे उपेक्षणीय है।

कविताओं मे जो कुठा, आत्मपीड़ा, वेदना, बेचैनी और अप्रसन्नता के भाव उभर रहे हैं, उनका एक कारण यह भी है कि नये कवियो ने यह ठान लिया है कि भावना और बुद्धि का जो सघर्ष सभ्यता को बेचैन किये हुए है, उनमे से किसी

हैं, मगर जानकारी कम हो जाती है, जब जानकारी तो बढती है, मगर ज्ञान घट जाता है, जब मनुष्य मे चलने की ताकत तो बहुत होती है, मगर ठहरने की शक्ति क्षीण हो जाती है, जब मनुष्य की वाचालता मे वृद्धि होती है और चुप रहने की कला वह भूल जाता है।" यह युग भीड का है, समूह का है, जनता का है। स्वभावत ही, मनुष्य की वैयक्तिकता आज केवल कुछ लेखको मे जीवित है। वे ही हमारे जमाने के हैमलेट और फौस्ट हैं। विज्ञान का पक्ष लेनेवाले चिंतको मे वैयक्तिकता का यह लोभ क्यो प्रकट हुआ, यह भी विलक्षण प्रश्न है। शायद, यह परम्परा की शिक्षा है। शायद यह सभ्यता की ओर से सतुलन का प्रयास है। शायद यह वह उत्तराधिकार है, जो नये कवियो को रोमाटिक चिंतको से मिला है। अदृश्य की ओर से यह विश्व को बचाने की योजना है। ससार को एकरूपता का जामा पहनानेवाले क्रातिकारी गलत है। शान्ति एकरूपता से रक्षित नही होती, वह वैविध्य से बचती है।

विविधता जब प्रबल होती है,
युद्ध के देवता रोते हैं।
दुनिया को एक करने की सनक से
युद्ध उत्पन्न होते हैं।

—आत्मा की आँखें

किन्तु, जो दोष भावना और बुद्धि के सघर्ष मे दिखायी पडता है, लगभग वैसा ही दोष हम व्यष्टि और समष्टि के विवाद मे भी देख रहे है। वैयक्तिकता एक मूल्य है, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए। किन्तु, यह मानकर चलना वैयक्तिकता का अतिवाद है कि धरती पर हर आदमी अकेला है, हर आदमी नि सग है, हर आदमी घायल और निराश है। वास्तविकता को स्थूल से सूक्ष्म बनाते बनाते यूरोप के कवि उस अवस्था मे पहुँच गये हैं, जहाँ उन्हे मनुष्य का व्यक्तित्व ही विघटित होता दिखायी दे रहा है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य ऐसे खडो का पुंज है, जिनका एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नही है। यह एक ऐसा मनुष्य है, जो दूसरे मनुष्यो से परिचित नही कराया जा सकता और जो अपने आपको समझने मे भी असमर्थ है। कर्म और चिन्तन की एकता इस मनुष्य के भाग्य मे नही है। आदमी या तो केवल सोच सकता है अथवा वह केवल कर्म कर सकता है। ये दोनो काम वह एक साथ नही कर सकता।

यह कल्पना विचित्र मनुष्य की कल्पना उपस्थित करती है। मनुष्य स्वभाव से एकाकी नही है, नि सग नही है, समाज से अलग नही है, न वह यही चाहता है कि औरो से उसका कोई सम्बन्ध न हो। वह ससार से प्रभावित होता है और ससार को भी अपने प्रभाव मे लाता है। जन-साधारण की तो बात ही क्या, खुद कवि और कलाकार भी अपने समाज के प्राणी और अपने समय के जीव होते है।

और विपण्ण प्रतीत होती है।

शैली और भाव हमेशा अविभाज्य रहे हैं। फिर भी पहले की यह मान्यता लगभग ठीक थी कि शैली साध्य नहीं, साधन मात्र है, साध्य कुछ और चीज है चाहे उसे हम अभिव्यक्ति, अर्थ, कथन, जो भी कह लें। किन्तु, जब से शैली साध्य हो गयी, साहित्य जीवन से अपरिचित होने लगा। और अब तो शैली की आराधना इतनी दूर निकल गयी है कि वास्तविकता और आधुनिकता का सम्बन्ध प्राय टूट सा गया है। जो शैली अधिक से अधिक अरूप होना चाहती है, वही ठोस वस्तुओ से भागती है, विषय का त्याग करती है, अर्थ से बचना चाहती है। वही अभाव और शून्यता की ओर भी लोभ से देखती है। तब भी, इतिहास की अस्वीकृति और दृष्टिबोध के तिरस्कार से यह प्रमाणित नहीं होता कि कवि की दृष्टि वास्तविकता के निगूढ अतराल म पहुँच गयी है। यह शब्दो का एक ऐसा खेल है, बुद्धि का एक ऐसा आयाम है, जिससे शैली को चाह जितनी भी ताजगी मिल जाय, साहित्य को कुछ भी नही मिलता, जीवन को कुछ भी प्राप्त नही होता।

हगरी के चिन्तक जार्ज लुकस ने अपनी पुस्तक (काडपररी रियलिज्म) मे बेकेट के साहित्य पर फ्रास के एक लेखक मारिस नैडो का यह मत उद्धृत किया है—

"बेकेट का साहित्य परम्परागत शैली से बाहर निकल कर अन्धकार के लोक मे बहुत दूर तक प्रवेश करता है। वह अन्य लोक की उस आखिरी सीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ जीवन और मृत्यु आमने-सामने खडे हैं, जहाँ चेतना और अस्तित्व का विलय हो जाता है और राही की राह शान्ति के उस पिछले कक्ष मे पहुँच जाती है, जहाँ शुद्ध वास्तविकता का साम्राज्य है। वहाँ की सनातन शून्यता मे खो जाने पर हमे यह एहसास होता है कि हम छिछले तालाब की सतह पर उठनेवाले बुलबुले की आवाज हैं।" यह भी कि "बेकेट का विजयी शून्यवादी दर्शन यहाँ कला का रूप लेता है और जिस वस्तु का वह निर्माण करता है, वह आखिर म अर्थहीनता के कुहासे मे विलुप्त हो जाती है।"

बेकेट महोदय का साहित्य पढने का सुयोग हमे नही मिला है। किन्तु, उनकी पुस्तक की यह प्रशस्ति यह तो बता ही देती है कि शुद्ध कवित्व की चरम परिणति किस लोक मे हो रही है, किस धरातल पर हो रही है। अवश्य ही, जिस पुस्तक की यह प्रशस्ति है, उसके लेखक म यह शक्ति होगी कि वह अरूप कल्पना के भीतर, अधिक से अधिक दूर तक धँस सके और जो अनुभूतियाँ भाषा मे आने से इनकार करती हैं, उन्हे सकेतो से व्यजित कर सकें। किन्तु प्रतिभा के इस इन्द्रजाल से, शक्ति की इस विपुलता से साहित्य को क्या मिलता है, जीवन को क्या प्राप्त

होता है ? और मनोविज्ञान को तो यह पता बहुत बाद मे चलेगा कि उसे इस अनुसधान से कुछ प्राप्त हुआ है या नही।

जब तक अर्थहीनता से साहित्य का उद्धार नही किया जाता, वह परम्परा मे छिन्न, अभावों की एक गठरी के समान तिरस्कृत और विपण्ण रहेगा अथवा उस रगीन मजूषा के समान, जिसमें शून्य भरा है। साहित्य गलत दिशा में उड़ता-उड़ता एक ऐसी जगह पहुँच गया है, जहाँ भाषा लाचार है तथा कहने योग्य कोई भाव या विचार नही है। कल्याण शायद पीछे लौटने अथवा उस 'जन-पथ' पर वापस आने में है, जिसे श्री धर्मवीर भारती ने 'प्रभु-पथ' कहा है।

उस दिन मे दूंगा तुम्हें शरण,
मै जन-पथ हूं,
मै प्रभु-पथ हूँ, मै हूँ जीवन ।
जिस क्षितिज-रेख पर पहुँच
व्यक्ति की राहें झूठी पड़ जाती हैं,
मै उस सीमा के बाद पुनः उठनेवाला
नूतन अय हूँ।
मैं प्रभु-पथ हूँ
जिसमे हर अन्तर्द्वन्द्व, विरोध, विषमता का
हो जाता है, अन्त में, शमन। —धर्मवीर भारती

तो क्या हिलती हुई वसुधरा को स्थिर करने का कोई उपाय नही है ? हर तूफान की आँख मे कोई सुशान्त विन्दु होता है। वह विन्दु उस तूफान की आँख मे भी होना चाहिए, जो हमे सौ वर्षों से हिला रहा है। मुश्किल यह है कि यह विन्दु दार्शनिकों को दिखायी नही देता, इतिहासकारो को दिखायी नहीं देता, न वह धर्मवालों को दिखायी देता है। उसका द्रष्टा केवल कवि हो सकता है। किन्तु, कवि ने अपने दायित्व की गठरी पटक दी है। घर मे आग लगी हुई है और कवि आग बुझाने के बदले लपटों के वर्णन मे लीन है। पानी नहीं, शब्द चाहिए; पिचकारी नही, शैली चाहिए, जिसमें आग का गूढ़ से गूढ़ वर्णन छूट न जाय। वर्णन संक्षिप्त होना चाहिए, सुनिश्चित होना चाहिए, नोटी और गूढ होना चाहिए। आग बुझाने का काम आग बुझाने वाले लोग करेंगे।

सबसे बडी कठिनाई यह है कि जो दर्शन सौन्दर्यबोध की दृष्टि से आकर्षक है, वह प्रगतिकामी नहीं, पतनशील है, भले ही वह सुरम्य, सुनिश्चित और आधुनिक क्यों न हो। और जो दर्शन स्वस्थ है, वह सौन्दर्यबोध की दृष्टि से अनाकर्षक लगता है। एक गहरा है, दूसरा छिछला है। एक सुन्दर और क्लीव, तथा दूसरा बलवान और कुरूप है। एक का सूत्र ऑसवाल्ड स्पेंगलर की इस कल्पना मे है कि पश्चिमी सभ्यता मरेगी, खूबसूरती के रोग से मरेगी, रेशम के बिस्तर

और विपण्ण प्रतीत होती है।

शैली और भाव हमेशा अविभाज्य रहे हैं। फिर भी पहले की यह मान्यता लगभग ठीक थी कि शैली साध्य नहीं, साधन मात्र है, साध्य कुछ और चीज है चाहे उसे हम अभिव्यक्ति, अर्थ, कथन, जो भी कह लें। किन्तु, जब से शैली साध्य हो गयी, साहित्य जीवन से अपरिचित होने लगा। और अब तो शैली की आराधना इतनी दूर निकल गयी है कि वास्तविकता और आधुनिकता का सम्बन्ध प्राय टूट-सा गया है। जो शैली अधिक से अधिक अरूप होना चाहती है, वही ठोस वस्तुओं से भागती है, विषय का त्याग करती है, अर्थ से बचना चाहती है। वही अभाव और शून्यता की ओर भी लोभ से देखती है। तब भी, इतिहास की अस्वीकृति और दृष्टिबोध के तिरस्कार से यह प्रमाणित नहीं होता कि कवि की दृष्टि वास्तविकता के निगूढ़ अंतराल में पहुँच गयी है। यह शब्दों का एक ऐसा खेल है, बुद्धि का एक ऐसा आयाम है, जिसमें शैली-को चाहे जितनी भी ताजगी मिल जाय, साहित्य को कुछ भी नहीं मिलता, जीवन को कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

हंगरी के चिन्तक जार्ज लुकस ने अपनी पुस्तक (कांटेंपररी रियलिज्म) में बेकेट के साहित्य पर फ्रांस के एक लेखक मारिस नैडो का यह मत उद्धृत किया है—

"बेकेट का साहित्य परम्परागत शैली से बाहर निकल कर अन्धकार के लोक में बहुत दूर तक प्रवेश करता है। वह अन्ध लोक की उस आखिरी सीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ जीवन और मृत्यु आमने-सामने खड़े हैं, जहाँ चेतना और अस्तित्व का विलय हो जाता है और राही की राह शान्ति के उस पिछले कक्ष में पहुँच जाती है, जहाँ शुद्ध वास्तविकता का साम्राज्य है। वहाँ की सनातन शून्यता में खो जाने पर हमें यह एहसास होता है कि हम छिछले तालाब की सतह पर उठनेवाले बुलबुले की आवाज हैं।" यह भी कि "बेकेट का विजयी शून्यवादी दर्शन यहाँ कला का रूप लेता है और जिस वस्तु का वह निर्माण करता है, वह आखिर में अर्थहीनता के कुहासे में विलुप्त हो जाती है।"

बेकेट महोदय का साहित्य पढने का सुयोग हमें नहीं मिला है। किन्तु, उनकी पुस्तक की यह प्रशस्ति यह तो बता ही देती है कि शुद्ध कवित्व की चरम परिणति किस लोक में हो रही है, किस धरातल पर हो रही है। अवश्य ही, जिस पुस्तक की यह प्रशस्ति है, उसके लेखक में यह शक्ति होगी कि वह अरूप कल्पना के भीतर, अधिक से अधिक दूर तक धँस सके और जो अनुभूतियाँ भाषा में आने से इनकार करती हैं, उन्हें संकेतों से व्यंजित कर सके। किन्तु प्रतिभा के इस इन्द्रजाल से, शक्ति की इस विपुलता से साहित्य को क्या मिलता है, जीवन को क्या प्राप्त

होता है ? और मनोविज्ञान को तो यह पता बहुत बाद मे चलेगा कि उसे इस अनुसधान से कुछ प्राप्त हुआ है या नही।

जब तक अर्थहीनता से साहित्य का उद्धार नही किया जाता, वह परम्परा से छिन्न, अभावो की एक गठरी के समान तिरस्कृत और विपण्ण रहेगा अथवा उस रगीन मजूषा के समान, जिसमे शून्य भरा है। साहित्य गलत दिशा मे उड़ता-उडता एक ऐसी जगह पहुँच गया है, जहाँ भाषा लाचार है तथा कहने योग्य कोई भाव या विचार नही है। कल्याण शायद पीछे लौटने अथवा उस 'जन-पथ' पर वापस आने मे है, जिसे श्री धर्मवीर भारती ने 'प्रभु-पथ' कहा है।

उस दिन मे दूंगा तुम्हे शरण,
मैं जन-पथ हूँ,
मे प्रभु-पथ हूँ, मैं हूँ जीवन।
जिस क्षितिज-रेख पर पहुँच
व्यक्ति की राहे झूठी पड़ जाती हैं,
मै उस सीमा के बाद पुनः उठनेवाला
नूतन अथ हूँ।
मे प्रभु-पथ हूँ
जिसमें हर अन्तर्द्वन्द्व, विरोध, विपमता का
हो जाता है, अन्त मे, शमन। —धर्मवीर भारती

तो क्या हिलती हुई वन्सुधरा को स्थिर करने का कोई उपाय नही है ? हर तूफान की आँख मे कोई सुशान्त विन्दु होता है। वह विन्दु उस तूफान की आँख मे भी होना चाहिए, जो हमे सौ वर्षों से हिला रहा है। मुश्किल यह है कि यह विन्दु दार्शनिको को दिखायी नही देता, इतिहासकारो को दिखायी नहीं देता, न वह धर्मवाला को दिखायी देता है। उसका द्रष्टा केवल कवि हो सकता है। किन्तु, कवि ने अपने दायित्व की गठरी पटक दी है। घर मे आग लगी हुई है और कवि आग बुझाने के बदले लपटो के वर्णन मे लीन है। पानी नहीं, शब्द चाहिए; पिचकारी नहीं, शैली चाहिए, जिससे आग का गूढ से गूढ वर्णन छूट न जाय। वर्णन संक्षिप्त होना चाहिए, सुनिश्चित होना चाहिए, खाँटी और शुद्ध होना चाहिए। आग बुझाने का काम आग बुझाने वाले लोग करेंगे।

सबसे बडी कठिनाई यह है कि जो दर्शन सौन्दर्यबोध की दृष्टि से आकर्षक है, वह प्रगतिकामी नही, पतनशील है, भले ही वह सुरम्य, सुनिश्चित और आधुनिक क्यो न हो। और जो दर्शन स्वस्थ है, वह सौन्दर्यबोध की दृष्टि से अनाकर्षक लगता है। एक गहरा है, दूसरा छिछला है। एक सुन्दर और वलीव, तथा दूसरा बलवान और कुरूप है। एक का मूल ओसवाल्ड स्पेंगलर की इस कल्पना मे है कि पश्चिमी सभ्यता मरेगी, खूबसूरती के रोग से मरेगी, रेशम के बिस्तर

परिभाषाहीन विद्रोह

शुद्ध काव्य की साधना ज्यों-ज्यों बढ़ी, कविता की कला अधिक से अधिक वैयक्तिक होती गयी। प्रतीकवाद का वृक्ष अपने मौसम के बाद भी फूलता रहा। उसके बाद चित्रवाद, अभिव्यंजनावाद और सुररियलिज्म के आन्दोलन उठे। मनोविज्ञान का प्रभाव कविता पर वैसे भी पड़ता आ रहा था, किन्तु, सुररियलिज्म ने उस प्रभाव को और भी सघन बना दिया। इन सभी आन्दोलनों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि कवि की चेतना अतुलनीय और अद्वितीय मानी जाने लगी, समाज की चेतना से उसका सम्बन्ध शेष होने लगा, विचार कविता से बहिष्कृत समझे जाने लगे और ऐसी बिम्ब-योजना तर्क-बुद्धि का स्थान लेने लगी, जो ऊपर से खंडित और असबद्ध थी, यद्यपि उसका पूर्वापर सम्बन्ध नीचे, अथवा बहुत नीचे, कहीं मनोविज्ञान की भूमि पर जोड़ा जा सकता था।

इस शैली का प्रयोग केवल शुद्धतावादियों तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत, उसका प्रयोग उन कवियों ने भी किया, जो विचार से नहीं डरते थे, सामाजिकता से नहीं घबराते थे (अंग्रेजी में इलियट और एजरा पौण्ड के बाद ऑडेन और स्पेंडर की पीढ़ी आयी, जिसका उद्देश्य समाजवाद था, जो आर्थिक व्यवस्था को कला की आँखों से देखना चाहती थी। लेकिन, इस पीढ़ी के कवि भी बहुत कुछ उसी शैली में लिखते रहे हैं, जो शुद्धतावादी आन्दोलन से उत्पन्न हुई थी। जर्मन भाषा के कवि बर्टोल्ट ब्रेश्ट समाजवादी थे, किन्तु, शैली उनकी भी वही है, जो शुद्धतावादी प्रयोग से उत्पन्न हुई है।

जिन कवियों ने खुलकर राजनीति को अपना ध्येय माना, उन्होंने इस शैली का प्रयोग लगभग आक्रामक कविताएँ रचने में किया। किन्तु, जो कवि अराजनैतिक थे, लेकिन समाज की आलोचना करना चाहते थे, उनकी कलम से एक विचित्र खीझ से भरी, खट्टी कविताएँ निकलने लगीं, जिनमें वैयक्तिक आक्रोश था, सभ्यता के नेताओं के प्रति नपुंसक ईर्ष्या थी, कुरूपता के प्रति असंतोष था और एक प्रकार की अराजक निराशा थी, जिसकी दिशा का पता नहीं चलता था। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रकार का गोल-मटोल विरोध मूलतः वैयक्तिक होता है। ऐसा विरोध वही कलाकार करता है, जो अपने को समाज का सिरमौर,

पर मरेगी, कविता, कल्पना और विलास के आतिशय्य से मरेगी। दूसरे की जड़ मार्क्स के इस उपदेश मे है कि दुनिया को जोतकर सपाट कर दो, फिर नये वृक्ष लगाओ और उन्हे बाडो से जकडे रहो। बाडे कब टूटेंगे, इसका रहस्य भविष्य बतायेगा।

दोनो के बीच चुनाव करना आसान काम नही है। मगर कोई लाचार करे तो कहना यही पडेगा कि बीमारी की अपेक्षा तन्दुरुस्ती हमें ज्यादा पसन्द है।

परिभाषाहीन विद्रोह

शुद्ध काव्य की साधना ज्यों-ज्यों बढ़ी, कविता की कला अधिक से अधिक वैयक्तिक होती गयी। प्रतीकवाद का वृक्ष अपने मौसम के बाद भी फूलता रहा। उसके बाद चित्रवाद, अभिव्यंजनावाद और सुररियलिज्म के आन्दोलन उठे। मनोविज्ञान का प्रभाव कविता पर वैसे भी पड़ता आ रहा था, किन्तु, सुररियलिज्म ने उस प्रभाव को और भी सघन बना दिया। इन सभी आन्दोलनों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि कवि की चेतना अतुलनीय और अद्वितीय मानी जाने लगी, समाज की चेतना से उसका सम्बन्ध शेष होने लगा, विचार कविता से बहिष्कृत समझे जाने लगे और ऐसी बिम्ब-योजना तर्क-बुद्धि का स्थान लेने लगी, जो ऊपर से खंडित और असबद्ध थी, यद्यपि उसका पूर्वापर सम्बन्ध नीचे, अथवा बहुत नीचे, कहीं मनोविज्ञान की भूमि पर जोड़ा जा सकता था।

इस शैली का प्रयोग केवल शुद्धतावादियों तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत, उसका प्रयोग उन कवियों ने भी किया, जो विचार से नहीं डरते थे, सामाजिकता से नहीं घबराते थे (अंगरेजी में इलियट और एजरा पौण्ड के बाद ऑडेन और लेवी की पीढ़ी आयी, जिसका उद्देश्य समाजवाद था, जो आर्थिक व्यवस्था को कला की आँखों से देखना चाहती थी। लेकिन, इस पीढ़ी के कवि भी बहुत कुछ उसी शैली में लिखते रहे हैं, जो शुद्धतावादी आन्दोलन से उत्पन्न हुई थी। जर्मन भाषा के कवि बर्टोल्ट ब्रेक्ट समाजवादी थे, किन्तु, शैली उनकी भी वही है, जो शुद्धतावादी प्रयोग से उत्पन्न हुई है।

जिन कवियों ने खुलकर राजनीति को अपना ध्येय माना, उन्होंने इस शैली का प्रयोग लगभग आक्रामक कविताएँ रचने में किया। किन्तु, जो कवि अराजनैतिक थे, लेकिन समाज की आलोचना करना चाहते थे, उनकी कलम से एक विचित्र खीझ से भरी, खट्टी कविताएँ निकलने लगीं, जिनमें वैयक्तिक आक्रोश था, सभ्यता के नेताओं के प्रति नपुंसक ईर्ष्या थी, कुरूपता के प्रति असंतोष था और एक प्रकार की अराजक निराशा थी, जिसकी दिशा का पता नहीं चलता था। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रकार का गोल-मटोल विरोध मूलतः वैयक्तिक होता है। ऐसा विरोध वही कलाकार करता है, जो अपने को समाज का सिरमौर,

थाउजेण्ड वर्ड्स फार फिडेल कास्ट्रो' नाम से एक कविता क्यूबा के तानाशाह पर लिखी है। किन्तु, ये बातें सुझाव से अधिक विस्फोट के रूप मे आयी हैं। दरअसल, ये कवि सामाजिक दीखने पर भी राजनीति के कवि नही हैं। वे जिन बातो के लिए चीख चिल्लाहट मचा रहे हैं, वे बातें राजनीति तक सीमित नही की जा सकती, वे राजनैतिक प्रवृत्ति और भावना से बहुत आगे तक जाने का सकेत देती हैं।

कभी-कभी यह सोचने को जी चाहता है कि साहित्य मे इतने दिनो से जो वायवीयता भरी गयी है, वैयक्तिकता का जो सायास अति सस्कार किया गया है, उसके ये क्रुद्ध नौजवान विरोधी हैं और साहित्य को वे फिर से सुबोध बनाकर जनसाधारण के पास लाना चाहते है। किन्तु, वैयक्तिकता उनकी इतनी कराल है कि नीति, राजनीति, धर्म और सभ्यता, सबके खिलाफ वे जो चाहे, वही बोलना अपना कर्तव्य और अधिकार समझते हैं। सुररियलिज्म ने कवियो का सकोच छुडा दिया। जो बातें पहले अवचेतन से ऊपर उठकर चेतन मे आने से भी घबराती थी, ये कवि उन बातो को भी कला के भीतर सजाकर आदमी के आगे पेश कर रहे हैं और इस अदा से पेश कर रहे है, मानो, वे यह पूछना चाहते हो कि अगर ये बातें सच हैं, तो इन्हे बोलने मे तुम शरमाते क्यो हो ? समाज के जिस किसी भी क्षेत्र मे आदरणीय और अधिकारी व्यक्ति हैं, उन्ह ये कवि मखौल की मार से धराशायी करना चाहते हैं, सभ्यता के सभी मूल्यो की हँसी उडाकर वे उन्हे उखाड फेंकने को कटिबद्ध हैं। लेकिन, या तो निराशा से जर्जर होने के कारण अथवा अकर्मण्यता और आलस्य के अधीन, ये कवि कर्म-योजना को पसन्द नहीं करत, केवल जडन्य तटस्थता की आड लेकर जीना चाहते हैं। हाँ, सभ्यता के भीतर जो लूट मची हुई है, मौका खोजकर, ये विद्रोही भी उस लूट के मजे लेते हैं। केनेथ अलसाप ने लिखा है, "The angry young man lashes out and the angry young man cashes in" अर्थात् क्रुद्ध नौजवान कोरे भी फटकारते है और पैसे भी वे ही कमा रहे हैं।

क्रुद्ध युवको की पीढी का स्वागत इग्लैण्ड मे जैसा अच्छा हुआ है, वैसा अच्छा स्वागत विरले लोगो को प्राप्त होता है। उन्हे पाठक मिले हैं, पत्रकार मिले हैं, थियेटर, रेडियो और टेलिविजन उनके अनुकूल हैं। लेखको की सही शिकायत एक ही हो सकती है कि हमारे पाठक नहीं है। इग्लैण्ड की नाराज पीढी को समाज ने इस शिकायत का मौका नही दिया। किन्तु, इग्लैण्ड की नयी पीढी तब भी नाराज है। सुविधाएँ प्राप्त कर लेने के बाद उसे अपने कधो पर जिम्मेदारी का बोझ अनुभव करना चाहिए था। लेकिन, यह एहसास उसमे नहीं है। इस स्थिति से खीझ कर ए० पी० हर्बर्ट ने पच मे एक कविता छपवायी थी, जिसकी कुछ पक्तियो का कच्चा-पक्का अनुवाद नीचे

सुरुचि और संवेदना की अद्वितीय मंजूषा तथा जीवन के प्रति सब से ईमानदार समझता है। अमरीका में राजनैतिक कविताएँ छिपपुट ही लिखी गयी हैं। किन्तु समाज की आलोचना वहाँ जिन कवियों ने की है, वे इसी पिछले वर्ग के कवि हैं।

वैयक्तिक संवेदना की लपेट में एक प्रकार के कारणहीन क्षोभ, दिशाहीन आक्रोश, बेमतलब की कुढ़न, घुटन और खीझ से भरी हुई कविताएँ लिखनेवालों की संख्या द्वितीय महायुद्ध के बाद से, विशेषत, १९५० ई० से संसार के सभी देशों में बढ़ी है और चूँकि यूरोप का हर अतीत भारत में वर्तमान बनता है, अतएव ऐसी कविताएँ अब भारतवर्ष में भी लिखी जाने लगी हैं। फ्रांस में ऐसे कवियों का नाम आउट साइडर (जो नय और आचार के प्रचलित रूप से बाह्य है), डेजर्टर (जिसने प्रचलित मूल्यों को छोड़ दिया है) तथा अब्जेक्टर (जो स्थिर मूल्यों में आपत्ति उठाता है) चलता है। अमरीका में उन्हें सौन्दर्यासक्त अथवा बीट कहते हैं एवं इंग्लैण्ड में उनका सामान्य नाम एंग्री यंग मैन अथवा क्रुद्ध नौजवान है।

यह सम्भवत. ध्यान देने की बात है कि जहाँ का समाज अति-समृद्धि का समाज है, उसके विद्रोही सौन्दर्यवादी हैं तथा जिस देश में सुख का उतना आतिशय्य नहीं है, वहाँ के नौजवान केवल नाराज समझे जाते हैं।

मगर, इन नामों का ज्यादा महत्त्व नहीं है, न यही कहा जा सकता है कि सभी देशों के क्रुद्ध कवि एक ही भाषा बोलते हैं अथवा उनका ध्येय एक है। फिर भी, विभिन्न देशों के ये कलाकार लगभग एक ही भावदशा से पीड़ित दीखते हैं। वे एक साथ बहुत-सी चीजों से नाराज हैं। साहित्य, काव्य, कला, थियेटर, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक आचार, लगता है, उन्हें कुछ भी पसन्द नहीं है और सब कुछ को वे बिलकुल बदल डालना चाहते हैं। किन्तु, समाज को बदलने के कार्यक्रम उनके पास नहीं हैं, न वे कर्म में भाग लेने को तैयार हैं, न वे यही कहते हैं कि अमुक व्यवस्था क्यों खराब है और उसमें क्या संशोधन होना चाहिए। शुद्ध कवित्व के आन्दोलन ने जो परंपरा बनायी है, वह कर्म के तिरस्कार की परम्परा है, ज्ञान और विचार को अछूत समझने की परम्परा है, उपदेशवाद की गंध से दूर भागने की परम्परा है। वह तर्क नहीं करती, केवल अनुभूति जगाती है और आशातीत बातों का संधान करके पाठकों को चमत्कृत करती है। स्पष्ट है कि क्रुद्ध नौजवानों को समाज की वर्तमान व्यवस्था पसन्द नहीं है और वे रैंम्बू और मलार्मे के समान अदृश्य में भी छिपकर सन्तुष्ट नहीं हो सकते। लेकिन, समाज बदलने का कर्म कविता नहीं, कर्म होगा और कला की नयी परम्परा कर्म का वर्जन करती है। अतएव, ये क्रुद्ध नवयुवक उमस-भरे बादलों के समान घुमड़ते हैं, मगर छूटकर बरसने का काम नहीं कर सकते।

इंग्लैण्ड के क्रुद्ध युवकों ने, अलबत्ता, एक सुझाव दिया है कि इंग्लैण्ड से बादशाहत को खत्म कर देना चाहिए। इसी प्रकार अमरीका के एक बीट कवि ने "वन

थाउजेण्ड वर्ड्स फार फिडेल कास्ट्रो' नाम से एक कविता क्यूबा के तानाशाह पर लिखी है। किन्तु, ये बातें सुझाव से अधिक विस्फोट के रूप में आयी हैं। दरअसल, ये कवि सामाजिक दीखने पर भी राजनीति के कवि नहीं हैं। वे जिन बातों के लिए चीख-चिल्लाहट मचा रहे है, वे बातें राजनीति तक सीमित नहीं की जा सकती, वे राजनैतिक प्रवृत्ति और भावना से बहुत आगे तक जाने का संकेत देती हैं।

कभी-कभी यह सोचने को जी चाहता है कि साहित्य में इतने दिनों से जो वायवीयता भरी गयी है, वैयक्तिकता का जो सायास अति सत्कार किया गया है, उसके ये क्रुद्ध नौजवान विरोधी हैं और साहित्य को वे फिर से सुबोध बनाकर जनसाधारण के पास लाना चाहते है। किन्तु, वैयक्तिकता उनकी इतनी कराल है कि नीति, राजनीति, धर्म और सभ्यता, सबके खिलाफ वे जो चाहें, वही बोलना अपना कर्तव्य और अधिकार समझते है। सुररियलिज्म ने कवियों का संकोच छुड़ा दिया। जो बातें पहले अवचेतन से ऊपर उठकर चेतन मे आने से भी घबराती थीं, ये कवि उन बातों को भी कला के भीतर सजाकर आदमी के आगे पेश कर रहे हैं और इस अदा से पेश कर रहे है, मानो, वे यह पूछना चाहते हों कि अगर ये बातें सच हैं, तो इन्हे बोलने मे तुम शरमाते क्यों हो? समाज के जिस किसी भी क्षेत्र मे आदरणीय और अधिकारी व्यक्ति हैं, उन्हे ये कवि मखौल की मार से धराशायी करना चाहते हैं, सभ्यता के सभी मूल्यों की हंसी उड़ाकर वे उन्हें उखाड़ फेंकने को कटिबद्ध हैं। लेकिन, या तो निराशा से जर्जर होने के कारण अथवा अकर्मण्यता और आलस्य के अधीन, ये कवि कर्म-योजना को पसन्द नहीं करते, केवल जड़क्रिय तटस्थता की आड़ लेकर जीना चाहते है। हाँ, सभ्यता के भीतर जो लूट मची हुई है, मौका खोजकर, ये विद्रोही भी उस लूट के मजे लेते हैं। केनेथ अलसाप ने लिखा है, "The angry young man lashes out and the angry young man cashes in" अर्थात् क्रुद्ध नौजवान कोरे भी फटकारते है और पैसे भी वे ही कमा रहे हैं।

दिया जाता है।

जब से यौवन शुरू हुआ,
कोई भी ब्रिटिश जवान
कहाँ तुम्हारी तरह
नेमतो से भरपूर, सुखी था ?
युद्ध नाम से घबराते हो ?
पर मैंने जीवन मे
दो लड़ाइयाँ लड़ीं,
तीसरी या भी दश रहा है।
हमने तो अपनी किस्मत पर
उफ भी नहीं किया था,
न तो गर्भ से हम निराश,
रूठे, विपण्ण आये थे।
अन्धकार मे भी कुछ थोड़ी
चमक हमे दीखी थी।
समझोगे तुम भी सब कुछ
लाडलो ! समय आने पर।

गुणो और दुर्गुणो का उनके भीतर ऐसा विचित्र समवाय है कि न तो हम यही कह सकते है कि ये नौजवान समाजद्रोही हैं, न यही कहते बनता है कि सभ्यता की आगामी किरणें उनके भीतर से जगमगा रही हैं। उनके भीतर प्रतिभा है दावित है, ताजगी है, व्यग्य का माद्दा है और सबसे बढ़कर चिन्तन मे एक प्रकार की कठोर सचाई की झलक है। किन्तु, वे शून्यवादी, नास्तिक और निहिलिस्ट हैं। जिन मूल्यो के सहारे वर्तमान सभ्यता टिकी हुई है, उनमे से किसी भी मूल्य को वे मानने को तैयार नही हैं। वे राजनीति से अपने को तटस्थ बताते है, किन्तु, जब-तब उनके भीतर फासिस्त प्रवृत्तियाँ भी दिखायी दे जाती हैं। सबसे बुरी बात यह है कि वे कभी भी खिसियाहट और कुढन के बिना कोई बात नही बोलते और बराबर यह प्रदर्शित करते रहते हैं कि यह दुनिया हमारे लिए अजनबी जगह है और इसकी कोई भी जिम्मेदारी लेने को हम तैयार नही हैं।

इग्लैण्ड मे कोलिन विलसन इस आन्दोलन के 'गुरिल्ला दार्शनिक' समझे जाते हैं। जब उनकी 'आउट साइडर' नामक पुस्तक निकली, जे० बी० प्रिस्टले ने उस पर अपनी सम्मति देते हुए कहा था, "यदि आउट साइडर अहभाव के जहर से इतना जहरीला हो उठा है, यदि वह केवल घाव करना जानता है, मरहम लगाना नही जानता, यदि उसके भीतर घृणा अधिक और प्रेम कम है, तो हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वह हमे समाधान के पास पहुँचायेगा ?" (अवश्य ही

प्रिस्टले की यह उक्ति "आउट साइडर" के उन पात्रो पर लागू नही होती, जो अमृत के कोष हैं।)

और सामरसेट माम ने नव-लेखकों पर यह राय दी थी कि "ये लोग पानी के ऊपर के बुलबुले और फेन हैं।"

बुलबुले और फेन वे हो सकते हैं, लेकिन जल के भीतर की वह अशान्ति क्या है, जिसके कारण ये बुलबुले और फेन उठ रहे हैं ? समझा अक्सर यह जाता है कि कि ये वे लेखक और कवि हैं, *जिनके बचपन अथवा चढती जवानी के दिन युद्ध की* छायाम बीते हैं। बमो की गडगडाहट, आसमान से होने वाली अग्नि-वृष्टि, रह रह कर साइरेन का बजना, लोगो का हवाई हमलो से पनाह पाने को मोर्चों मे पडा रहना, भोजन अनियमित, शयन अनियमित, वस्तुओ का अभाव, सबधियो का बिछोह और बीसो प्रकार की मानसिक यत्रणाएँ, इतने तनाव के वातावरण मे जो *आदमी बढकर जवान होगा,* वह क्या उसी प्रकार सोचेगा जिस प्रकार पहले वाली पीढी के लोग सोचते थे ? वह क्या उसी तरह बोलेगा, जैसे पिछली पीढी के *लोग बोलते थे ? और तब ये युवक विश्वविद्यालयो मे पहुँचे होगे और उन्होंने* ऊँची ऊँची कविताएँ पढी होगी, ऊँचे ऊँचे दार्शनिक व्याख्यान सुने होग और इस बात पर विस्मय से विचार किया होगा कि ससार के राजनेताओ की अगर तैयारी हमेशा युद्ध के लिए ही चलती है, तो फिर वे दुनिया को शान्ति क्यो सिखाते हैं ? कोई आश्चर्य नहीं है कि ये लेखक और कवि राजनीति से जितने नाराज हैं, उतने नाराज वे और किसी भी बात से नही है। "जवानो की पीढी अराजनैतिक है और अराजनैतिकता को लेकर ही समूचे यूरोप के जवान एक है। यह पक्षपातहीन *युवको का पक्ष है। आज ब्रिटेन मे सामान्य धारणा यह है कि राजनीति गुडो का* रैकेट है। राजनीति का सबसे अच्छा और सबसे विश्वसनीय ध्येय स्वार्थ है। राजनीति के लोग स्वार्थी होते हैं, शोहदे होते हैं, मूलत बेईमान होते हैं।"

पहले महायुद्ध की कुर्बानी बेकार गयी थी। दूसरे महायुद्ध मे युवक सदिग्ध मन से ही अपना बलिदान करने को गये थे, किन्तु, अन्त मे, दिखायी यह पडा कि दूसरे महायुद्ध की भी कुर्बानी व्यर्थ हो गयी। प्रत्येक युद्ध तभी लडा जाता है, जब उसे रोकने की राह नहीं रह जाती है और लड लेने के बाद प्रत्येक युद्ध बेकार प्रतीत होता है। और शान्ति के कागज पर दस्तखत होते ही लडाई की तैयारी फिर शुरू हो जाती है। क्रुद्ध नौजवानो क भीतर जो तीखी अनुभूति आगे चलकर उत्पन्न होने वाली थी, उसका आभास जर्मन कवि ब्रेख्ट ने कुछ पूर्व ही दिया था।

> सत्य है कि मैं अधे युग का वासी हूँ।
> शान्ति से बोलना बेवकूफी की बात है।

दिया जाता है।

जब से यौवन शुरू हुआ,
कोई भी ब्रिटिश जवान
कहाँ तुम्हारी तरह
नेमतों से भरपूर, सुखी था?
युद्ध नाम से घबराते हो?
पर मैंने जीवन में
दो लड़ाइयाँ लड़ीं,
तीसरी का भी दर्द सहा है।
हमने तो अपनी किस्मत पर
उफ भी नहीं किया था,
न तो गर्भ से हम निराश,
रूठे, विपण्ण आये थे।
अन्धकार में भी कुछ थोड़ी
चमक हमें दीखी थी।
समझोगे तुम भी सब कुछ
लाउलो! समय आने पर।

गुणों और दुर्गुणों का उनके भीतर ऐसा विचित्र समवाय है कि न तो हम यही कह सकते हैं कि ये नौजवान समाजद्रोही हैं, न यही कहते बनता है कि सभ्यता की आगामी किरणें उनके भीतर से जगमगा रही हैं। उनके भीतर प्रतिभा है, शक्ति है, ताजगी है, व्यंग्य का माद्दा है और सबसे बढ़कर चिन्तन में एक प्रकार की कठोर सचाई की झलक है। किन्तु, वे शून्यवादी, नास्तिक और निहिलिस्ट हैं। जिन मूल्यों के सहारे वर्तमान सभ्यता टिकी हुई है, उनमें से किसी भी मूल्य को वे मानने को तैयार नहीं हैं। वे राजनीति से अपने को तटस्थ बताते हैं, किन्तु, जब-तब उनके भीतर फासिस्त प्रवृत्तियाँ भी दिखायी दे जाती हैं। सबसे बुरी बात यह है कि वे कभी भी खिसियाहट और कुढन के बिना कोई बात नहीं बोलते और बराबर यह प्रदर्शित करते रहते हैं कि यह दुनिया हमारे लिए अजनबी जगह है और इसकी कोई भी जिम्मेदारी लेने को हम तैयार नहीं हैं।

इंग्लैण्ड में कोलिन विलसन इस आन्दोलन के 'गुरिल्ला दार्शनिक' समझे जाते हैं। जब उनकी 'आउट साइडर' नामक पुस्तक निकली, जे० बी० प्रिस्टले ने उस पर अपनी सम्मति देते हुए कहा था, "यदि आउट साइडर अहंभाव के ज़हर से इतना ज़हरीला हो उठा है, यदि वह केवल घाव करना जानता है, मरहम लगाना नहीं जानता, यदि उसके भीतर घृणा अधिक और प्रेम कम है, तो हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वह हमें समाधान के पास पहुँचायेगा?" (अवश्य ही

प्रिस्टले की यह उक्ति "आउट साइडर" के उन पात्रों पर लागू नहीं होती, जो अमृत के कोष हैं।)

और सामरसेट माम ने नव-लेखकों पर यह राय दी थी कि "ये लोग पानी के ऊपर के बुलबुले और फेन हैं।"

बुलबुले और फेन वे हो सकते हैं, लेकिन जल के भीतर की वह अशान्ति क्या है, जिसके कारण ये बुलबुले और फेन उठ रहे हैं? समभा अक्सर यह जाता है कि कि ये वे लेखक और कवि हैं, जिनके बचपन अथवा चढ़ती जवानी के दिन युद्ध की छायामे बीते है। बमो की गडगडाहट, आसमान से होने वाली अग्नि-वृष्टि, रह-रह कर साइरेन का बजना, लोगों का हवाई हमलो से पनाह पाने को मोर्चों मे पडा रहना; भोजन अनियमित, शयन अनियमित, वस्तुओ का अभाव, सबधियो का विछोह और बीसो प्रकार की मानसिक यत्रणाएँ; इतने तनाव के वातावरण मे जो आदमी बढकर जवान होगा, वह क्या उसी प्रकार सोचेगा जिस प्रकार पहले वाली पीढी के लोग सोचते थे? वह क्या उसी तरह बोलेगा, जैसे पिछली पीढ़ी के लोग बोलते थे? और तब ये युवक विश्वविद्यालयो मे पहुँचे होगे और उन्होन ऊँची-ऊँची कविताएँ पढी होगी, ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक व्याख्यान सुने होंगे और इस बात पर विस्मय से विचार किया होगा कि ससार के राजनेताओ की अगर तैयारी हमेशा युद्ध के लिए ही चलती है, तो फिर वे दुनिया को शान्ति क्यो सिखाते हैं? कोई आश्चर्य नही है कि ये लेखक और कवि राजनीति से जितने नाराज हैं, उतने नाराज वे और किसी भी बात से नही हैं। "जवानों की पीढ़ी अराजनैतिक है और अराजनैतिकता को लेकर ही समूचे यूरोप के जवान एक हैं। यह पक्षपातहीन युवको का पक्ष है। आज ब्रिटेन मे सामान्य धारणा यह है कि राजनीति गुडो का रकिट है। राजनीति का सबसे अच्छा और सबसे विश्वसनीय ध्येय स्वार्थ है। राजनीति के लोग स्वार्थी होते हैं, शोहदे होते हैं, मूलत बेईमान होते हैं।"

पहले महायुद्ध की कुर्बानी बेकार गयी थी। दूसरे महायुद्ध मे युवक नदिग्ध मन मे ही अपना बलिदान करने को गये थे, किन्तु, अन्त मे, दिखायी यह पडा कि दूसरे महायुद्ध की भी कुर्बानी व्यर्थ हो गयी। प्रत्येक युद्ध तभी लड़ा जाता है, जब उसे रोकने की राह नहीं रह जाती है और लड लेने के बाद प्रत्येक युद्ध बेकार प्रतीत होता है। और शान्ति के कागज पर दस्तखत होते ही लडाई की तैयारी फिर शुरू हो जाती है। युद्ध नौजवानो के भीतर जो तीखी अनुभूति आगे चलकर उत्पन्न होने वाली थी, उनका आभास जर्मन कवि ब्रेख्ट ने युद्ध पूर्व ही दिया था।

सत्य है कि मैं अधे युग का वासी हूँ।
शान्ति से बोलना बेवकूफी की बात है।

ललाट पर शिकन का न होना
श्रसवेद्यता की निशानी है।
जो आदमी हँस रहा है,
स्पष्ट ही,
उसके कानों में खौफनाक खबरें नहीं पहुँची हैं।

× × ×

मनुष्य जीता कैसे है?
अपने भाइयों का गला दबा कर,
उन्हें पीस कर,
उनका पसीना निकाल कर।
नहीं, महाशयो! नहीं,
हम इस सत्य से भाग नहीं सकते,
आदमी सिर्फ गन्दे कामों से जीता है।

जिन दिनों लडाई चल रही थी, आज के क्रुद्ध युवक या तो बच्चे थे अथवा किशोर। किन्तु, उस समय कुछ ऐसे कवि भी थे, जिन्हें जबर्दस्ती लाम पर जाना पडा था। गोलियों की वृष्टि के नीचे और खन्दकों में दिन गुजारने वाले इन कवियों ने मोर्चों पर काम करते समय ऐसी अनेक कविताएँ लिखी, जो साहित्य की शोभा बढाने वाली कृतियाँ हैं। किन्तु इन कविताओं में लडाई के लिए जोश नहीं है, शत्रु को पराजित करने की आतुरता नहीं है, न देशभक्ति के उन्मादक भाव हैं। ये कविताएँ उस दर्दनाक बेबसी के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हैं, जिसके कारण मनुष्य को अनिच्छित काम करना पडता है, एक ऐसी जिन्दगी जीनी पडती है, जो तर्कहीन, बेबस और लाचार है, उन परिस्थितियों से समझौता करना पडता है, जिन्हें एक क्षण भी बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिए। चर्चिल के वाक्यों में जो जोश था, वह जोश मोर्चों के जवानों में नहीं था। वे राजनीति से नाराज थे, अपनी किस्मत से बजार थे। हाथों से तोपें और बन्दूकें चलाते रहने पर भी, मन से वे युद्ध से घृणा करते थे। जो अनुभूति आगे चलकर क्रुद्ध युवकों को होनेवाली थी, उस अनुभूति का जन्म इन सैनिक कवियों की कविताओं में हुआ था।

"तुमने मुझे खरीदना चाहा था
और आखिर मे खरीद ही लिया।"

× × ×

आइटम—एक नौसैनिक, जिसकी टाँगें कट गयी हैं।
फायदा—गैर-जिम्मेवार राजनीतिज्ञों के लिए वोट।
आइटम—सिपाही की दाहिनी बाँह नहीं है।
फायदा—विवेकहीन अखबारों के लिए मसाला।

× × ×

सागीनाव की वह औरत,
जो सरकार के शोक-तार को पढ़ कर
इकलौते बेटे के लिए रो रही हैं।

× × ×

हम कैलेन्डर के गलत पेज पर मरे।
हमने उन नगरो को जलाया,
जिनके बारे मे हमने स्कूल मे पढ़ा था।
उन्होने कहा, "नक्शे यहाँ हैं";
और हमने नगरो को जला दिया।
ज्यादा दिन बचने वालो को
तमगे और ईनाम मिलते हैं।
लेकिन, जब हम मरते हैं,
कहा जाता है, हताहतो की सख्या अल्प है।

× × ×

मेरे मरे हुए दोस्त !
अब देखो,
जिन्होने तुम्हे देश-भक्ति के बहाने
फुसलाया था,
वे तुम्हे कहाँ पहुँचा गये ?

× × ×

'वीर', यह शब्द केवल शान्ति-काल के लिए है।
युद्ध तो तीन ही वास्तविकताएँ जानता है,
दुश्मन, बन्दूक और जिंदगी।
जो पनाह खोजते हुए
एक पेड़ से दूसरे पेड़ की ओर नहीं भागा है,
जिसने धरती खोदकर अपनी गरदन नहीं छिपायी है,
बमो के धडाको से हिलती धरती की मांद मे
जिसने अपने घुटने नहीं समेटे हैं,
वह आदमी युद्ध को नहीं जानता है।

× × ×

लेकिन याद रखो,
जिसे तुम मार गिराते हो,
वह एक दिन अचानक खड़ा हो जाता है
और तुम्हारी आंखो मे आँखें डालकर

बड़ी ही सजीवगी से पूछता है,
"भाई, मुझे तुम क्यों मारते हो ?
मै तो आदमी हूँ।"

प्रिस्टले के उपदेश, माम की मखौल और हर्बर्ट की कविता से क्रुद्ध नौजवानों की गर्म नाड़ियाँ ठडी नही बनायी जा सकती। सभ्यता के भीतर जहाँ आग लगी है, वहाँ आग बुझाने वाली नलें पहुँच ही नही सकतीं। यह आग न तो प्रिस्टले बुझा सकते हैं, न वह चर्चिल के ओजस्वी वाक्यो से बुझेगी। शायद सारी सभ्यता विनाश की लपेट मे है। शायद मनुष्य उस राह पर आयेगा ही नही, जो विनाश से बचने की राह है। सवाल यह है कि क्या मनुष्य विनाश से बच सकता है ? और यही सवाल हमारे युग की बेचैनी और उसका दर्द है। कर्तव्य की योजनाएँ बनाने से फायदा क्या है ? कौन उन योजनाओ को मानेगा ? क्रुद्ध युवक मानते है कि वे वह शुतुर्मुर्ग हो गये है, जो तूफान से बचने के लिए अपनी गरदन बालू के भीतर घुसेड देता है। "मगर, आँख खोलकर तो कोई बेवकूफ भी चीजो को देख सकता है, लेकिन, शुतुर्मुर्ग को जो चीजें बालू के भीतर दिखायी देती हैं, उनका गवाह कौन है, वे चीजें और किसको दिखायी देती हैं ?"

जार्ज आरवेल ने आज से तीस वर्ष पहले लिखा था, "आदमी का व्यक्तित्व राजनीति और टैंको से रौंदा जायगा।" क्रुद्ध कवि अपनी आत्मा पर राजनीति और टैंको का बोझ अनुभव करते है। इसीलिए वे दु:खी हैं, नाराज हैं। उनका काम ज्ञान-दान और योजना-निर्माण नही है। वे बुद्धि के विरोधी और भावना के तरफदार हैं। "हम तो सिर्फ वे ही बातें बोलते हैं, जिन्हे जनता सोच रही है। मगर हम चाहते हैं कि जनता तड़पे और क्रोध करे, रोये और विलाप करे, बातो को एहसासे और व्याकुल हो जाय। हम जनता के भीतर दर्द की अनुभूति जगाना चाहते हैं। सोचने का काम वह बाद मे कर लेगी।'

क्रुद्ध युवकों की चिन्ताधारा एक प्रकार की भयानक मोह-भग की मुद्रा से उत्पन्न हुई है। "सत्य के ज्ञान से जीवन का आनन्द सघन नही होता। जीवन जिस मिथ्या माया के कारण सह्य है, सत्य उस माया को ही उजाड़ डालता है।"

विलसन ने किसी आचार्य से पूछा था, "निहिलिज्म का अर्थ क्या है ?" आचार्य ने बताया, 'प्रत्येक वस्तु के मिथ्यापन मे विश्वास।' विलसन आनन्द से उछल पडा, क्योकि उसे अपनी मनोदशा के लिए उपयुक्त नाम मिल गया था। "हाँ, निहिलिज्म किसी वस्तु मे विश्वास के अभाव को नही कहते हैं। वह प्रत्येक वस्तु के मिथ्यापन मे विश्वास का नाम है।' क्रुद्ध नौजवानो को सभ्यता का कोई भी मूल्य, कोई भी आचार पसन्द नही है। वे सभी मूल्यो और सभी मान्यताओं को गलत समझते हैं।

जीने की विवशता से प्रेरित होकर ये कलाकार सुख और सुविधा की तो खोज करते हैं, किन्तु समाज की परम्पराओ को अपने पास फटकने देना नही चाहते। बुद्धि बताती है, अगर उन्हे समाज से घृणा है तो उन पर यह दायित्व भी आता है कि अपनी घृणा के औचित्य का ब्यौरा वे समाज को समझने दें। किन्तु, द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोप और अमरीका मे जो विरोधमूलक साहित्य तैयार हुआ है, उसमे विरोध के कारणों का उल्लेख नही है। सम्भव यह है कि लेखक समाज का विरोध केवल विरोध के लिए कर रहे हो। वास्तव मे, इस विरोध मे उनकी अपनी आस्था भी काफी मजबूत नही है। शायद, समाज के भीतर वे अपनी स्थिति को डावाँडोल महसूस करते हैं, शायद अपने विरोध के उद्देश्य का उन्हे खुद भी कोई ज्ञान नहीं है। अतएव आत्म-सन्देह को छिपाने के लिए वे और अधिक कटुता, और अधिक कडवेपन का आश्रय ले रहे है। ज्यो ज्यो समाज उनकी कटूक्तियो की उपेक्षा करता है, इन लेखको का निहिलिज्म और भी तेज होता जाता है।

लेकिन, निहिलिज्म क्या कोई जीवन-दर्शन हो सकता है? निहिलिज्म विफलता-बोध से उत्पन्न एक ऐसा ध्वसात्मक भाव है, जो हर चीज को गलत मानता है, मगर जो बात सही हो सकती है, उसका पता उसे कही नही चलता। समाज के स्तर पर वह अराजकता और अव्यवस्था का पर्याय है तथा साहित्य के भीतर वह उस अगुरु का धुआँ है, जो सूने मन्दिर मे जल रहा है। वह क्रान्ति को केवल क्रान्ति के लिए पूजने की भावना है। यह वीरता और बलिदान को केवल वीरता और बलिदान के लिए जगाने का भाव है। यह वह स्वतन्त्रता है, जो जीवन की सेवा का मार्ग नही जानती। यह वह अधिकार है, जो अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अपराध अथवा आत्महत्या को जायज बताना चाहता है। निहिलिज्म का सहारा वह व्यक्ति लेता है, जो यह समझता है कि उसके हाथ और पाँव बँधे हुए हैं तथा बकने के सिवा वह और कुछ करने से लाचार है। किन्तु, जो लोग यह समझते हैं कि मनुष्यता अभी जीवित है, वह जगायी जा सकती है और वह अपना सुधार भी करने मे समर्थ है, वे ऐसे नैराश्यवादी दर्शन के चक्कर मे नही पडकर किसी ऐसी विचारधारा से काम लेते हैं, जो निहिलिज्म की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट और ध्येययुक्त हो।

कभी-कभी हमे ऐसा लगता है कि अमरीका के बीट और इंग्लैण्ड के क्रुद्ध युवको ने अपने लिए जो शैली तैयार की है, वह कविता मे दुरूहता लानेवाले आन्दोलनो का ही एक अप्रत्यक्ष परिणाम है। लेखक बराबर यह चाहता है कि उसके पाठक थोडे नही, अधिक से अधिक लोग हो। मगर, जब रेम्बू और मलार्मे के प्रयोगो के कारण कविता के पाठको की सख्या घटने लगी, तब उन्ही लोगों ने सोचा था कि जो क्षति सामाजिकता के त्याग से हो रही है, उसे हम शैली के

जादू से पूरा करेंगे। तब से कविगण बराबर शैली के जादू का भरोसा ज्यादा करते रहे है और आलोचको के एक दल को बराबर यह सन्देह रहा है कि यह एक तरह की क्षति-पूर्ति का ही प्रयास है।

जब भी कोई सर्वथा मौलिक कृति समाज के सामने पहल-पहल आती है, समाज की चेतना को उससे धक्का सा लगता है और वह कृति सर्वत्र चर्चा की वस्तु बन जाती है। जब इलियट का वेस्ट लैंड पहले-पहल प्रकाशित हुआ था, समाज के मन पर उस कविता से धक्का लगा था। मगर, अब उस कृति से किसी को भी धक्के की अनुभूति नही होती। बडी से बडी मौलिकता भी युग-युगान्तर तक धक्कामार नही रह सकती। काल पाकर लोग उसके अभ्यस्त हो जाते हैं और उसका 'शॉक' एक तरह से मर जाता है। पिकासो एक समय बेजोड धक्कामार थे, मगर, अब उनके चित्र धक्के की अनुभूति नही देते हैं। कुछ यह बात भी है कि पिछले सौ वर्षों से साहित्य और कला ने जन-रुचि को इतन अधिक धक्के दिये है (जैसे नीत्से और बर्नार्ड शा ने) कि जनता अब ऐसी शैली की अभ्यस्त हो गयी है और कडवी से कडवी बातो से भी वह अधिक विचलित नही होती। इससे कवियो को निराशा हो रही है। वे चाहते हैं कि लोग घबरायें, विचलित हो, जनता के बीच खलबली मचे और लोग हमारा विरोध करें। लेकिन, जब उनके सामने रुकावट नही डाली जाती, वे और निराश हो जाते हैं तथा तब उनकी भाषा और भी धक्कामार हो उठती है।

यह प्रवृत्ति केवल यूरोप और अमरीका मे ही नही बढी है, उसके कुछ थोडे आसार रूस और चीन मे भी हैं। मगर, रूस और चीन की सरकारें ऐसी बातो को चलने देना नही चाहती। तब भी, जब-तब इस प्रवृत्ति के दृष्टान्त उन देशो मे भी दिखायी पड जाते हैं। असल मे, पूँजीवादी और समाजवादी, दोनो ही प्रकार के देशो मे एक विचारधारा प्रकट हुई है, जो मर्यादा-भग और स्थिर मूल्यो के विरोध की भावना को सिद्धान्त का रूप देना चाहती है।

सरकारें समाजवादी हो या पूँजीवादी, वे यह जरूर चाहती हैं कि कविता और साहित्य समाज की उन्नति और विकास मे सहायता प्रदान करें। और ऐसा वे चाहे क्यो नही? समाजवादी योजना के आदि आचार्य प्लेटो ने ही तो कहा था कि उनकी कल्पना के समाज म कवियो के लिए कोई स्थान नही है। निदान, सरकारें कवियो को स्थान तब देंगी, जब वे अपने को समाज के लिए उपयोगी सिद्ध करे। यही कारण है कि बीट और क्रुद्ध युवको की भावना राजनीति के प्रति प्राय एक ही समान है। यही कारण है कि साम्यवादी देश का कोई कवि यदि राजनीति द्वारा निर्धारित लक्ष्मण रेखा का अतिक्रमण करता है तो उस देश की सरकार तो अप्रसन्न हो जाती है, लेकिन, अमरीका और यूरोप के कलाकार उसे हाथो हाथ उठा लेते हैं। अमरीका के गिन्सबर्ग, रूस के येव्तुशेंको और इग्लैड

के टेडी कवि, इन सबकी विचारधारा आपस मे मिलती-जुलती है।

और रूस मे केवल येवतेशेंकू ही नही है, वहाँ और भी नये कवि है, जो रूस के क्रुद्ध युवक समझे जाते हैं। साम्यवाद से उनका कोई विरोध नही है लेकिन साहित्य और कला की एकरसता से वे ऊब गये है और पख खोलकर कल्पना की अज्ञात दिशा की ओर उडना चाहते हैं। सारे ससार मे साहित्य के भीतर यह भाव सिर उठा रहा है कि साहित्य को राजनीति से सावधान रहना चाहिए और जहाँ भी साहित्य राजनीति की अधीनता मे है, वहाँ उसे इस अधीनता से मुक्त होना चाहिए। कुछ यह प्रेरणा भी है, जो नयी पीढी को राजनीति से विमुख किये जा रही है।

जब से हिरोशिमा पर बम फेंका गया (१६४५ ई०), प्राय तभी से विश्व-साहित्य मे भाव की एक धारा प्रकट हुई है, जो सनसनीखेज है, आक्रामक और प्रचारेच्छुक है। इन सभी लेखको मे एक प्रकार की आध्यात्मिक बेचैनी मिलती है, आत्मा की तडप मिलती है, ससार को हिलाने का जोश मिलता है। जो लोग आस्तिक हैं, उनकी तड़प की भगिमा एक तरह की है, जो नास्तिक है, उनकी तडप कुछ और है। लेकिन समाज के ध्येयो की निन्दा, मर्यादा-भग की प्रवृत्ति और नैतिकता की खिल्ली उडाने का भाव इन सभी लेखको मे समान रूप से मिलता है। बीटो के बीच आपसी मतभेद चाहे जो हो, किन्तु एक बात मे वे सब के सब समान हैं यानी समाज को बर्दास्त करने की बात उनमे से कोई नही करता, शहरो और नगरो मे जो मनुष्यो का सुसगठित समाज चल रहा है, उससे वे ऊबे हुए है और इतने ऊबे हुए है कि मर जाना उन्हे ज्यादा पसन्द है।

सामान्य सामाजिक जीवन के वे खिलाफ है। अच्छा जीवन वह है, जो निरा वैयक्तिक है जो आवारो का है, घुमक्कडो का है, अव्यवस्थित और सनकी लोगो का है। अच्छा जीवन सामाजिक नही होता, वह हमेशा आन्तरिक होता है, जहाँ आदमी जो भी चाहे, सोच सके, जो भी चाहे बोल सके, जो भी चाहे कर सके। वैयक्तिकता को पहले के कवियो ने किसी ऊँचे ध्येय की सिद्धि के लिए स्वीकार किया था। किन्तु, अब उसका उपयोग गन्दी और हेय बातो के लिए किया जाने लगा है।

किन्तु, बीटो मे कभी-कभी ऐसी बातें भी मिलती हैं, जिनसे अनुमान होता है कि, हो न हो, उनका रोग धार्मिक स्नायुघात का रोग है और, अप्रत्यक्ष रूप से, वे किसी न किसी तरह की आध्यात्मिक शान्ति की तलाश मे हैं। इसी प्रकार, इग्लैंड के क्रुद्ध युवको की यह अनुभूति बहुत भली लगती है कि हम अभागे लोग हैं। पूर्वजो ने हमारी सारी समस्याएँ हल कर दी। उन्होने ऐसा कोई ध्येय क्यो नही छोडा, जिसके लिए हम सघर्ष करते?

खैरियत की बात यह है कि भारत के क्रुद्ध नौजवान उतने अभागे नही हैं। उनके पूर्वजो ने दरिद्रता, अनेकता और अभावो का इतना भयानक उत्तराधिकार छोडा है कि वह अभी पीढियो तक भी हल नहीं होगा।

मनीषी और समाज

बुद्धिजीवी, इन्टेलेक्चुअल अथवा मनीषी के बारे में हमारी जो धारणा आज , उसकी कुछ थोड़ी झलक मनुस्मृति में भी मिलती है। मनीषी उस समय केवल ाह्मण जाति में होते थे, अतएव, पूरी ब्राह्मण जाति की कल्पना मनु ने धर्म, माज और संस्कृति के प्रहरी के रूप में की थी। ब्राह्मण समाज के विवेक कांसेंस) के प्रतिनिधि होते थे। औरों की तो बात ही क्या, यदि स्वयं राजा भी कुमार्ग पर चले, तो उसे टोकना ब्राह्मणों का धर्म था। स्पष्ट ही, इस कठोर धर्म का पालन वही कर सकता है, जो सभी प्रकार की लोभ की भावनाओं से मुक्त हो। निर्धनता को ब्राह्मण का सर्वस्व बताकर शास्त्रों ने उसके धन-लोभ को समाप्त कर दिया यानी उसे इस योग्य बना दिया कि राजा उसे धन से नहीं खरीद सके। किन्तु, राजा जिसे धन से नहीं खरीद सकता, उसे सम्मान देकर खरीद सकता है। अतएव, सम्मान को भी मनुस्मृति ब्राह्मण के लिए अग्राह्य बताती है।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषादिव,
अमृतस्येव चाकांक्षेत् अवमानस्य सर्वदा।

सम्मान से ब्राह्मण उसी प्रकार भागे, जैसे मनुष्य जहर से भागता है और अपमान की कामना वह उसी प्रकार करे, जैसे लोग अमृत की कामना करते हैं।

अर्चितः पूजितो विप्रः दुग्धगौरिव सीदति।

अर्थात् अर्चित-पूजित विप्र दुही हुई गौ के समान सूख जाता है।

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तप.क्षयः।

असम्मान पाने से तपस्या में वृद्धि होती है, सम्मान पाने से तप का विनाश होता है।

सात्विक क्रोध को संस्कृत में मन्यु कहते हैं। क्रोध की निन्दा तो शास्त्रों में सर्वत्र है, किन्तु, मन्यु निन्द्य भाव नहीं है। मन्यु वह क्रोध है, जो क्रौंच-वध को देखकर आदि कवि के हृदय में उत्पन्न हुआ था। यह वह उग्र भाव है, जो शोषण, अन्याय, पाषण्ड और कायरता को देखकर प्रत्येक मनीषी के मन में उत्पन्न होता है। ब्राह्मण मन्युशील होते थे और मन्युशील ब्राह्मण का कोप भयानक समझा जाता था। धर्मशास्त्रों ने बार-बार समाज को सावधान किया है कि वह ब्राह्मण को रुष्ट होने का अवसर न दे।

क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ।

कुपित ब्राह्मण राष्ट्र का विनाश कर डालता है।

मन्युप्रहरणाः विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः
निहन्युर्मन्युना विप्राः वज्रपाणिरिवासुरान्।

ब्राह्मण शस्त्र उठाकर युद्ध नही करता, उसका हथियार उसका क्रोध है। सात्विक क्रोध के द्वारा ब्राह्मण वैसा ही विनाश करता है, जैसा विनाश असुरो का इन्द्र करते हैं।

आज की भाषा मे इसका अर्थ यह है कि मनीषी तलवार से नही, कलम से लडते हैं और समाज मे ऐसा भूकप ला सकते हैं, जैसा भूकप सेनाएँ भी नही ला सकतीं।

सात्विक क्रोध मनीषी की जान है। जिसमे यह क्रोध नही होता, उस मनीषी की वाणी विफल हो जाती है। नवीन युग की सभी क्रान्तियाँ पहले मनीषियो के दिमाग मे सुलगी थी, पीछे उनकी लपेट मे जनता भी आ गयी। स्थापित समाज के विरुद्ध अगर मनीषियो के मन मे असतोष नही है, तो वह समाज नही टूटेगा। लेकिन, मनीषी अगर उसके विरुद्ध हैं, तो उस समाज को आज नही तो कल बदलना पडेगा। मनीषी वह सरल, निश्छल यत्र है, जिसके भीतर जनता की छाती धडकती है सम्यता और सस्कृति के हृदय के स्पन्दन सुनायी देते हैं और जन-जन के मन की पीडाएँ बोलती हैं। मनीषी स्वय मे एक देश है, एक जनता है, एक पूरी सम्यता का प्रतीक है। जब वह विगडता है, तब समझना चाहिए कि सारी जनता बिगडने को तैयार है। जब वह बदलता है, तब सकेत लेना चाहिए कि सारी जनता बदलना चाहती है। क्रान्ति के समय जो तलवार चलती है, वह पहले चिंतकों के दिमाग मे गढी जाती है। जनता जब भूडोल मचाती है, तब उसका मूल कवियों और लेखको के असतोष मे होता है। फासीसी क्रान्ति के समय किसी कवि ने अपनी व्यथा का वर्णन करते हुए कहा था

धक्के खाकर मैं गिरा, नाक मेरी मिट्टी मे समा गयी।
यह और किसी का नहीं, जुर्म रूसो का वालतेयर का है।

ब्राह्मणो के लिए जो भिक्षा की वृत्ति विहित बतायी गयी थी, उसका भी उद्देश्य यही था कि ब्राह्मण किन्ही दो-एक व्यक्तियो के सामने कृतज्ञता से न दब जाय। वह सारी जनता का प्रवक्ता बनकर रहे और जो भी व्यक्ति धर्म का उल्लघन करे, उसके खिलाफ निन्दा की बात वह निर्भीक होकर बोल सके। भिक्षा के पेशे की जो प्रतिष्ठा भारतवर्ष मे थी, वह किसी और देश मे नही थी और इस पेशे की थोडी-बहुत इज्जत आज भी इसी देश मे है। भारतीय सस्कृति के भीतर कही एक मान्यता छिपी रही है कि भिक्षा पर जीने वाले ब्राह्मण की प्रतिष्ठा नही घटती, उलटे इससे उसकी नैतिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। चूँकि ब्राह्मण

नैतिकता का प्रहरी है, अतएव, सारे समाज का कर्तव्य है कि वह उसका आदर-पूर्वक रक्षण और पालन करे तथा उसे अपने प्रति कृतज्ञ बनाने की आशा नही रखे।

आरभ मे ब्राह्मणो ने समाज की आलोचना का कार्य निर्भीकता से अवश्य किया होगा और इसके लिए उन्होने कष्ट भी सहे होगे। अन्यथा, शास्त्रो मे उतना ऊँचा स्थान उन्हे नही दिया गया होता। लेकिन, धीरे-धीरे वे स्थापित धर्म और समाज के प्रहरी नही रहे, उसके रक्षक बन गये और जो अधिकार उन्हे समाज की आलोचना करने को दिया गया था, उसका उपयोग वे उन क्रान्तियो को दबाने के लिए करने लगे, जो स्थापित धर्म और समाज के खिलाफ पडती थी। अर्थात् वे आलोचक न रहकर 'आफिसियल' बन गये और समाज की आलोचना का क्षेत्र उन मनीपियो से भर गया, जो महावीर अथवा गौतम बुद्ध के अनुयायी थे।

इस दृष्टि से देखने पर सस्कृत के कवि मन्युहीन दिखायी देते हैं। उनके भीतर समाज की आलोचना करने की प्रवृत्ति नही है, वश और जाति की महिमा का विरोध करने का भाव नही है। वे केवल कलाकार हैं। वे शब्दो के भक्त और अभिव्यक्ति के आचार्य हैं, किन्तु, समाज की अवस्था पर स्वतन्त्र चिंतन करने का उनमे साहस नही है।

बुद्ध के समय से भारत मे मनीपियो की दो परम्पराएँ हम देखते हैं। एक परम्परा उनकी है, जो स्थापित धर्म और समाज को पूर्ण और असशोधनीय समझते हैं। उनके भीतर शान्ति और सतोप के भाव प्रधान मिलते है। उन्हे दुख है भी तो केवल इस बात का कि ऐसे अच्छे धर्म और समाज के भी आलोचक उत्पन्न हो रहे हैं। और दूसरी परम्परा उन कवियो और दार्शनिको की है, जो वर्णाश्रम-धर्म को दूषित समझते है, वैदिक और पौराणिक मत को अपूर्ण मानते है तथा जाति और वश की महिमा के विरुद्ध जिनके भीतर विद्रोह के ज्वलत भाव हैं। पहली धारा के शास्त्रकार मनु और पराशर, दार्शनिक शकराचार्य तथा कवि वाल्मीकि, कालिदास, कंबन, पोतना, तुलसी और सूर हैं। तथा दूसरी धारा के दार्शनिक बुद्ध नागार्जुन और वसुबधु तथा कवि तिरुवल्लुवर, सरहपा, नहपा, कबीर, नानक, दादू दयाल, वेमना और रवीन्द्रनाथ हैं।

जहाँ तक राजनीति और साहित्य के द्वन्द्व का प्रश्न है, यह बात प्राचीन कवियो को भी मालूम थी कि राजा का मुँह जोहने से साहित्यकार की स्वतन्त्रता मारी जाती है।

> नरपतिहितकर्त्ता द्वेपतां याति लोके,
> जनपदहितकारी द्विष्यते पार्थिवेन,
> इति महति विरोधे त्यज्यमाने समाने
> नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता।

राजा का हित करने वाले व्यक्ति से जनता को द्वेष होता है। और जनता का हित चाहने वालो से राजा द्वेष करने लगता है। ये दोनों विरोधी बातें हैं और दोनों ही त्यागने के योग्य हैं। ऐसी अवस्था में वे कार्यकर्त्ता दुर्लभ हैं, जो राजा और प्रजा, दोनों को प्रसन्न रख सकें।

किन्तु, संस्कृत कवियो मे ऐसे कवि नही मिलते, जो राजा को ललकारें अथवा प्रजा से ही कहे कि ये बातें गलत हैं और हम इन्हे चलने नही देंगे।

किन्तु, मुस्लिम-काल के हिंदी कवियो मे यह भाव जब-तब मिलता है कि कवि को राजा की परवाह नही करनी चाहिए। तुलसीदास के मन मे एक बार शायद यह विचार आया था कि कवि होने के साथ अगर मैं मनसबदार भी हुआ होता, तो कैसा होता। लेकिन, इस विचार के उठते ही उन्हे अपने-आप पर हँसी आ गयी और उन्होने कहा :

हम चाकर रघुबीर के, पटौ लिख्यौ दरबार,
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार?

राजा की प्रशस्ति लिखने का उस समय जो रिवाज था, शायद उसी की ओर लक्ष्य करके तुलसीदास ने कहा है :

प्राकृत मनुज करत गुनगाना
सिर धुनि गिरा लागु पछिताना।

लेकिन, राजा होने पर भी नायक यदि जनता की इच्छाओ का प्रतीक हो, तो उसकी स्तुति करने मे कविगण दोष नही मानते थे। सभी प्रकार की स्तुतियाँ लिखने वाले कवियो से अपने को श्रेष्ठ बताते हुए भूषण ने बड़े ही गौरव के साथ कहा है :

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते
अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर बानी।
राम युधिष्ठिर के बरने
बलमीकहु व्यास के अंग समानी।
भूषन यों कलि के कविराजन
राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य-चरित्र सिवा सरजै
सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।

कुम्भनदास को सीकरी से शायद बुलावा आया था, किन्तु, उस बुलावे का उन्होने यह कहते हुए तिरस्कार कर दिया कि :

संत को सिकरी सों का काम?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गये हरि नाम।
जाको मुख देखे दुख उपजत, ताको करिबे परी सलाम।

लेकिन, इस दृष्टि से सबसे विलक्षण कविता श्रीधर कवि की है। श्रीधर अकबर के समकालीन थे। अकबर के दरबार में केवल फारसी के ही शायर नहीं जाते थे, वहाँ संस्कृत और हिन्दी के कवियों का भी खूब जमाव था। इसमें श्रीधर को कवियों के स्वाभिमान का ह्रास दिखायी पड़ा और उन्होंने बड़े ही क्रोध के साथ लिख दिया

अब के सुलतान भये फुहियान-से, बाँधत पाग अटब्बर की।
नर को नरको कविता जु करै, तेहि काटिये जीभ सुलब्बर की।
इक श्रीधर आस है श्रीधर की, नहि आस अहै कोउ बब्बर की।
जिन्हें कोउ न आस अहै जग में, सो करो मिलि आस अकब्बर की।

नर की स्तुति में जो नारकीय कविता लिखता है, उस लफंगे कवि की जीभ काट लो। श्रीधर को न तो शेर-बब्बर का भय है, न वह अकबर के दादा बाबर की परवाह करता है।

मध्यकाल के कवियों को मनीषी-धर्म के असली मर्म का पता नहीं था। उसका स्पष्टीकरण अभी हाल की घटना है, जब कवि को अपने व्यक्तित्व की महिमा का ज्ञान हुआ है। किन्तु, मनीषी तो स्वभाव से ही मनीषी होते हैं। मध्यकाल में भी ऐसे कवि हुए थे, जो मौन मानवता की ओर से बोलते थे, जो समाज को सावधान करना चाहते थे। कबीर की सामाजिक चेतना के बारे में हम सबको बहुत अच्छी जानकारी है। किन्तु, स्वयं गुरु नानक इसके अपवाद नहीं थे। बाबर के खिलाफ उनकी एक सूक्ति मिलती है, जिसमें उन्होंने कहा है, "खुरासान को तो भगवान ने बचा दिया, लेकिन आफत हिन्दुस्तान में भेज दी। कर्त्ता अपने ऊपर दोष नहीं लेता। इसीलिए उसने मोगलों को यम बनाकर भारत पर चढ़ा दिया।"

खुरासान खसमाना किया,
हिन्दुस्तान डराया।
आपे दोस न दई करता,
जम कर मोगल चढाया।

भारत के मनीषी ब्राह्मण थे और ब्राह्मणों की जीविका भिक्षा-वृत्ति थी। सब जानते थे कि ब्राह्मण भिक्षु होते हैं, किन्तु, किसी भी ब्राह्मण को यह कहने में संकोच नहीं होता था कि मैं ब्राह्मण हूँ। किन्तु, यूरोप में लेखक अपने को लेखक कहने में शरमाते थे। कलम से जीविका कमाने की बात वहाँ लज्जा की बात समझी जाती थी। अतएव, लेखक अपने को लेखक न बताकर भद्र मनुष्य बताना ही ठीक समझते थे। अंगरेजी के नाटककार काग्रीव जब बहुत प्रसिद्ध हो गये, एक बार उन्होंने पेरिस की यात्रा की। पेरिस में काग्रीव को आया जान वालतेयर उनसे मिलने आये और उन्होंने काग्रीव से कहा कि, "लेखक के रूप में आपने जो कीर्त्ति अर्जित की है, वही मुझे आपके पास खींच लायी है।" काग्रीव ने उत्तर दिया,

"मगर मै तो लेखक नहीं, भद्र मनुष्य हूँ।" वालतेयर तुरन्त यह कहकर वहाँ से उठ गये कि, "मैं उस काग्रीव से मिलने नही आया था, जो निरा भद्र मनुष्य है।"

भारत में लेखक-वृत्ति की कभी निन्दा रही हो, ऐसा दिखायी नहीं देता। कवियो और विद्वानो को प्रश्रय प्रायः राजदरबारो मे मिलता था। चीन मे तो और भी विलक्षणता की बात थी। वहाँ के राजे नौकरी केवल विद्वानो को ही देते थे और उनमें भी प्राथमिकता अवसर उन्हे मिलती थी, जो कनफ्युसियस के अनुयायी होते थे। एक यह कारण भी हुआ कि चीन मे कनफ्युसियस ने लाओत्सू को दबा दिया। राज्य के पास ऐसी शक्ति होती है कि चाहे तो वह विरोधी विचारधारा को उभरने से रोक दे।

किन्तु, भारत मे कवियो और विद्वानो को राज्याश्रय उनसे नौकरी करवाने को नही दिया जाता था। कभी-कभी कवि और विद्वान् सेनापति और मन्त्री भी बना दिये जाते थे, लेकिन यह अपवाद की बात थी। साधारणतया काव्य-रचना को छोडकर कवियो पर और कोई दायित्व नही डाला जाता था। राजे हिरन पालते थे, मुर्गे और पहलवान पालते थे। इसी तरह, कवि और विद्वान् का पालन करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। यह एक प्रकार के भावनात्मक सन्तोष का काम था, क्योकि जो राजा बहुत अच्छे कवि का आश्रयदाता होता था, वह कम से कम, इस एक बात को लेकर अन्य राजाओ से अपने को श्रेष्ठ समझ सकता था।

यह कला के प्रति ठीक कला-जैसे वर्ताव का दृष्टान्त है। शुद्धतावादी कवियो ने इधर कहना शुरू किया है कि जो लोग कविता के उपयोग की बात पूछते हैं, वे यह क्यो नही पूछते कि फूलों का क्या उपयोग है, मैदान की शोभा किस काम मे आती है और शहरो मे पार्क बनाने के फायदे क्या हैं। यदि कवियो को आश्रय देने वाले राजाओं से यह सवाल पूछा गया होता, तो आज के नये कवियों के उत्तर उन राजाओं को भी समीचीन मालूम हुए होते। और यह तो है ही कि दरबारो मे पलने वाले कवियो का ध्यान समाज पर नही था। वे न तो काल पर सोचते थे, न अपने देश और समाज पर। विषय उनके गिने-चुने होते थे, मगर, कारीगरी और पच्चीकारी के काम वे खूब करते थे। साहित्य मे जब भी शैली का सौन्दर्य प्रधान होता है, जीवन गौण बन जाता है। और जो भी कवि जीवन को प्रभावित करना चाहता है, वह शैली के पीछे अपना दिमाग कम खपाता है। बिहारीलाल और कबीर इस बात के पक्के प्रमाण हैं।

मध्यकालीन युग के अन्त तक कवियो का व्यक्तित्व प्रायः सर्वत्र ही सोया हुआ था, यद्यपि उनकी कला और पाण्डित्य नींद मे नहीं थे। राज्याश्रय स्वीकार करने से कवि-प्रतिभा का ह्रास हो सकता है, इस भय की अनुभूति उसी मुक्त व्यक्तित्व की अनुभूति थी। जरा और गहराई मे झाँकने पर हमें यह भी दिखायी देता है कि इस खतरे की जड़ इस विश्वास मे गड़ी है कि कवि का सर्जे

बड़ा धर्म अपने विचारो के प्रति निश्छल रहना है, अपनी आत्मा के प्रति ईमानदार रहना है। यदि इस ईमानदारी के पालन मे ही सकट हो तो फिर कविता करने से लाभ क्या है? कबीर-जैसे कवियो ने यह भी देख लिया था कि खतरे केवल राजभवन से ही नही आते, वे प्रजा की ओर से भी आते हैं। निरापद मार्ग यह है कि कवि सौन्दर्य की बात करे, अभिव्यक्ति का चमत्कार दिखाये और समाज की किसी भी समस्या की ओर अगुलि-निर्देश न करे। क्योंकि कवि अगर स्थापित मान्यताओ के खिलाफ जायेगा तो राजा और प्रजा, दोनो उसके दुश्मन बन जायेंगे। राजा रूठ जाय तो कवि प्रजा को लेकर रह सकता है, प्रजा रूठ जाय तो वह राजा के साथ सुख से अधम जीवन बिता सकता है, किन्तु, जिस कवि से राजा और प्रजा, दोनो रूठ जाते हैं, असली परीक्षा उसी की होती है।

किन्तु, कवियो का जो व्यक्तित्व मध्य काल तक सोया हुआ था, वह क्रान्ति के समय फ्रांस मे जगा। विचारो और भावनाओ मे समाज को बदलने की, राज-सत्ता को उखाड फेंकने की और मनुष्यो के भीतर नया विश्वास पैदा करने की जो शक्ति है, उससे मध्यकालीन कवि, प्राय, अपरिचित रहे थे। फ्रासीसी क्रान्ति के समय उन्हे यह ज्ञात हुआ कि वे केवल रूप-रचनाकार नही है, उनका व्यक्तित्व अनूठा है, वे समाज को बदल सकते है, इतिहास की धारा को मोड सकते हैं। और समाज को बदलने का काम उन्होने उस प्रकार के व्यावहारिक चिन्तन से नही किया, जिसका सहारा हम तात्कालिक ध्येयो की प्राप्ति के लिए लेते है। व्याव-हारिक मनुष्य वे थे ही नही, न राजनीति से उनका सीधा सम्बन्ध था। उस दिनो फ्रासीसी सरकार के हजारो बडे अधिकारियो मे से एक भी अधिकारी मनीषी नहीं था। इसका अर्थ यह है कि फ्रास के मनीषी न तो राज्य के प्रति कृतज्ञ थे, न उन्हे राज्य की अपार शक्ति का ज्ञान था। इसी से वे निरकुश होकर सोच सके और जब क्रान्ति का समय आया, उन्हे यह आशका नही हुई कि राजा क्रान्ति का दमन भी कर सकता है।

अगरेजी के इन्टेलेक्चुअल शब्द मे आज जो अर्थ दिखायी देते है, वे मुख्यत-फ्रासीसी मनीषियो की देन है। रूसी भाषा के शब्द इन्टेलिजेंसिया का अर्थ 'मुक्त व्यवसाय' होता है। फ्रास के मनीषी ठीक मुक्त धन्धो के लोग थे। वे नौकरी मे नहीं थे, व्यापार नही करते थे, न वे कृषक अथवा मजदूर थे। उनका काम सिर्फ चिंतन करना, अपने सहधर्मियो के साथ चर्चा करना और फिर लेखन का कार्य था। और चिन्तन उनका सोद्देश्य नही था। तात्कालिक समस्याओ के समाधान के लिए अपने चिन्तन की दिशा को इधर या उधर ले जाने की बात वे नही सोचते थे। बुद्धि उनके चिन्तन का निष्कलुप यन्त्र थी और चिन्तन की लडी जहाँ तक चलना चाहती, वहाँ तक उसे वे स्वतन्त्र होकर चलने देते थे, परिणाम उसका चाहे जो भी निकल जाय। इस प्रकार के शुद्ध चिन्तन से समाज की उत्पत्ति,

मनुष्यो के अधिकार, राज्यसत्ता की प्रकृति आदि सैंकडो मौलिक विषयों के बारे मे फ्रास मे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वही क्रान्ति की प्रेरणा बन गया। कहते है, फ्रास मे क्रान्ति इस कारण हुई कि उससे पूर्व अमरीका मे क्रान्ति हो चुकी थी। किन्तु, कहने की असली बात यह होनी चाहिए कि खुद अमरीकी क्रान्ति फ्रास के मनीषियों के चिन्तन से उत्पन्न हुई थी।

क्रान्ति के पूर्व, राजनीति के मौलिक प्रश्नो को लेकर फ्रास मे इतना गम्भीर विचार-मथन हुआ कि इस सम्बन्ध मे तरह तरह के सिद्धान्त जनता के समक्ष आ गये। इस विचार-मथन का परिणाम सक्रामक सिद्ध हुआ और उससे जनता का दिमाग खोलने लगा। कहते है, उन दिनो फ्रास की औरतें और किसान भी इस 'साहित्यिक राजनीति'' के प्रवाह मे आ गये थे और विचारो की चर्चा मे रस उन्हे भी आने लगा था। लेखको ने प्रजा को विचारमूलक राजनीति मे दीक्षित कर दिया और, गरचे, शासन का सूत्र राजनीतिज्ञो के हाथ म था, किन्तु, समाज के असली नेता लेखक और विचारक बन गये।

तब से फ्रास मे लेखको की यह मर्यादा प्राय अक्षुण्ण रही है। फ्रास का शासन चाहे जिसके भी हाथ मे हो, वहाँ की जनता अपना असली नेता लेखको और विचारको को मानती है। जर्मनी मे सबसे अधिक सम्मान प्रोफेसरो का है और अमरीका मे विशेषज्ञो का। किन्तु, फ्रासीसी जनता लेखको और विचारको को पूजती है, क्योंकि दो शताब्दियो से उसने देख लिया है कि लेखक और विचारक अपनी रुचि और विश्वास के अनुसार काम करते है, वे निरन्तर शुद्ध चिन्तन करते है, हमेशा न्याय का पक्ष लेते हैं और किसी भी लोभ के बदले अन्याय और असत्य का वे समर्थन नही करते। फ्रास मे जीवन की चरम उपलब्धि राजनैतिक सफलता नही, साहित्य की कृति मानी जाती है। वहाँ के राजपुरुषो, राजदूतो और जनरलो की भी आन्तरिक कामना यह रहती है कि वे कोई साहित्य की कृति लिख सकें, जिससे उन्ह मनीषियों के बीच स्थान मिल सके।

यहाँ तक साहित्य की आत्मा स्वस्थ थी और कविताओ, उपन्यासो एव विचारो के समाजोपयोगी समझे जाने से लेखक और कवि का अपमान नही होता था। लेखक तब भी प्रचारक नही था। उसका व्यक्तित्व कर्म से कुछ दूर था। जीवन को छूने वाले विषयो पर भी चिन्तन वह दूर मे ही करता था, क्योंकि विषयो की गहराई मे जाने का मार्ग सीधे सम्पर्क का मार्ग नही है, निकट का मार्ग नही है, वह हमेशा दूर का ही मार्ग होता है। मनीषी के व्यक्तित्व का यह रूप हमे रोमाटिक युग के कवियों और लेखको मे उजागर दिखायी देता है।

लेकिन, रोमाटिक युग मे ही एक ऐसी विचारधारा फूट निकली, जो शैली को विषय से अधिक श्रेष्ठ बतलाना चाहती थी। यही यूरोप मे सौदर्यबोध के आन्दोलन का आरम्भ था। पहले-पहल शेली ने यह बात कही थी कि कविता की असली परख

कुरूप दिखायी देने लगा। सम्भव है, उस समय तक आकर पहले की शैली की सारी सभावनाएं समाप्त हो गयी थी और अब दुहराहट और नीरसता को अगीकार किये बिना उस शैली का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। अथवा यह भी सभव है कि वास्तविकता की आराधना मे कवियो को अपनी ताजगी अब खत्म होती दिखायी पड़ रही थी। निदान, उन्होने अपने मन को भुलाने के लिए एक खूबसूरत मोहिनी का आविष्कार कर लिया, व्यावहारिक मनुष्य से वे अपने को श्रेष्ठ और जन-जीवन को अपने से हेय समझने लगे, कविता की ओर से उन्होने पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और उनकी कला का ध्येय बिम्ब की योजना, प्रतीको का विधान और प्रत्येक वस्तु के भीतर छिपे अकथ और अरूप का सधान हो गया।

यह अच्छा हुआ या बुरा, इस पर निश्चित राय देना आसान काम नही है। इस प्रश्न के मूल मे और भी कई प्रश्न है, जिनके बारे मे कोई भी बात निश्चितता के साथ नही कही जा सकती। पहला प्रश्न यह है कि कविता अगर अपने को और भी कवित्वपूर्ण बनाना चाहती है, तो क्या यह उद्देश्य उसे इस चिंता के कारण छोड देना चाहिए कि अधिक कवित्वपूर्ण हो जाने पर वह समाज के लिए उपयोगी नहीं रहेगी? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या यह उचित है कि कविता और जनता का मिलन केवल कवि-सम्मेलनो मे ही चलता रहे, उस सामान्य धरातल पर ही चलता रहे, जहाँ तक जनता पहुँच सकती है और जहाँ तक कवि नीचे आ सकता है? यदि यह बात सच है कि कवियो मे यह शक्ति आ गयी है कि वे और भी ऊँची उडानें भर सकें, तो क्या उनसे हम यह कहना चाहते हैं कि अपनी उडानो को तुम तब तक रोके रहो, जब तक जनता भी तुम्हारे साथ उडने के योग्य न हो जाय?

असल मे, यह प्रश्न उन सभी प्रश्नो के साथ सपृक्त है, जो सभ्यता की मूलभूत समस्याएँ हैं। जब तक सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीयता का वरण नही करते, तब तक एक, दो या दस राष्ट्रो को राष्ट्रीयता का त्याग करना चाहिए या नही? जब तक सभी राष्ट्र नि शस्त्रीकरण के लिए तैयार नही होते, तब तक एक, दो या दस राष्ट्रो को नि शस्त्रीकरण करना चाहिए या नही? विज्ञान का विकास क्या तब तक के लिए रोक दिया जाय, जब तक मनुष्य का नैतिक विकास इतना उच्च न हो जाय कि वैज्ञानिक शक्ति का उपयोग वह अपने विनाश के लिए न करे? जब तक सारी दुनिया सभ्य नही हो जाती, दो एक देशो के अत्यत सभ्य होने से उन पर खतरे बढते हैं। तो क्या सभ्यता की प्रगति तब तक के लिए रोक दी जाय, जब तक सभी देश एक समान सभ्य नही हो जाते है?

यो भी सभ्यता जब अत्यत सभ्य हो उठती है, वह नपुसक हो जाती है और जब-जब सभ्यता नपुंसक या बीमार हुई है, साहित्य शैली मे जीने को लाचार हुआ है। साहित्य सीधे प्रचार का साधन नही है, यह बात प्राचीन युग के लोगो

उसमे प्रतिपादित विषय को दृष्टिगत रखकर नही, बल्कि, उसकी लय, ध्वनि और शैली को लेकर की जानी चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि लय, ध्वनि और शैली की महिमा का ज्ञान शेली से पूर्व के भी पाठको को था, लेकिन, इन चीजो को पहले के रसज्ञ कविता का सपूर्ण सार नही मानते थे। रोमाटिक युग मे कविता के प्रति समाज मे जो चाव और आदर का भाव पैदा हुआ था, उसका कारण कुछ और था। किन्तु, अब जनरुचि को यथेष्ट नही मानकर कवि एक विशेष प्रकार के पाठको की माँग करने लगा। इसके भीतर यह भाव प्रच्छन्न था कि विशिष्ट रुचि के पाठक कविता मे सामाजिक उत्तेजना की झलक नहीं खोजते, न नैतिक प्रेरणा की तलाश करते हैं। जैसे शिष्ट रुचि के पाठक चित्रो मे रग नहीं देखते, विषय नही खोजते, केवल रेखाओ के आकार देखते हैं, उसी प्रकार कविता के शिष्ट पाठक वे हैं, जो काव्य की शैली का आनन्द लेते हैं। यही से कवि और मनीषी का व्यक्तित्व अपने चिंतक-रूप से हटकर कलाकार-रूप की ओर खिसकने लगा। यहीं से साहित्य मे वैयक्तिकता का उभार आरम्भ हुआ, जो आगे चलकर अत्यत जटिल रूप धारण करने वाला था।

तब भी, यह ठीक है कि कवि के भीतर वैयक्तिकता का पुट हमेशा से रहा है। "मैं अद्वितीय हूँ, मेरी रचना अद्वितीय है, वह दूसरो के मनोरजन के लिए नही, मेरे अपने आनन्द के लिए है," इस अनुभूति का थोडा-बहुत आभास पहले के कवियो मे भी दिखायी पडा था। भवभूति का आदर उनके जीवन-काल मे भी था, किन्तु, वह उन्हे यथेष्ट नही लगा था। अपनी कीर्त्ति के लिए वे अजन्मा समानधर्माओ का अधिक भरोसा करते थे।

उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा,
कालोह्यमनिरवधि विपुला च पृथ्वी।

यह और कुछ नहीं, कवि की वैयक्तिक चेतना का ही सक्षिप्त विस्फोट था। और तुलसीदासजी जो लोक-मर्यादा के कवि थे, समाज को प्रभावित करने वाले कवि थे, उनका भी आन्तरिक विश्वास यही था कि कवि दूसरो के लिए नही, केवल अपने अन्त सुख के लिए लिखता है।

शेली ने जो कुछ कहा था उसका आशय शायद इतना ही था कि कवियो की प्रशसा केवल इसीलिए नही की जानी चाहिए कि वे समाज के 'विधायक' हैं, बल्कि, इसलिए भी कि लय, ध्वनि और भाषा का उनका प्रयोग विलक्षण होता है। किन्तु, शेली के कोई पच्चीस साल बाद अमरीकी कवि एडगर एलन पो ने 'कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त की घोषणा कर दी और पेरिस के मनीषियो (बोदलेयर, रेम्बू, मलार्मे आदि) ने उस सिद्धान्त के अनुसार कविताएँ रचकर साहित्य को एक भिन्न दिशा की ओर मोड दिया। जिस रास्ते से साहित्य ने समाज पर अपना प्रभाव डाला था, वह रास्ता उसे अनगढ, स्थूल और

कुरूप दिखायी देने लगा। सम्भव है, उस समय तक आकर पहले की शैली की सारी सभावनाएं समाप्त हो गयी थी और अब दुहराहट और नीरसता को अंगीकार किये बिना उस शैली का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। अथवा यह भी सभव है कि वास्तविकता की आराधना मे कवियो को अपनी ताजगी अब खत्म होती दिखायी पड़ रही थी। निदान, उन्होने अपने मन को भुलाने के लिए एक खूबसूरत मोहिनो का आविष्कार कर लिया, व्यावहारिक मनुष्य से वे अपने को श्रेष्ठ और जन-जीवन को अपने से हेय समझने लगे, कविता की ओर से उन्होने पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और उनकी कला का ध्येय बिम्ब की योजना, प्रतीको का विधान और प्रत्येक वस्तु के भीतर छिपे अकथ और अरूप का सधान हो गया।

यह अच्छा हुआ या बुरा, इस पर निश्चित राय देना आसान काम नही है। इस प्रश्न के मूल मे और भी कई प्रश्न हैं, जिनके बारे मे कोई भी बात निश्चितता के साथ नही कही जा सकती। पहला प्रश्न यह है कि कविता अगर अपने को और भी कवित्वपूर्ण बनाना चाहती है, तो क्या यह उद्देश्य उसे इस चिंता के कारण छोड़ देना चाहिए कि अधिक कवित्वपूर्ण हो जाने पर वह समाज के लिए उपयोगी नहीं रहेगी ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या यह उचित है कि कविता और जनता का मिलन केवल कवि-सम्मेलनो मे ही चलता रहे, उस सामान्य धरातल पर ही चलता रहे, जहाँ तक जनता पहुँच सकती है और जहाँ तक कवि नीचे आ सकता है ? यदि यह बात सच है कि कवियो मे यह शक्ति आ गयी है कि वे और भी ऊँची उड़ानें भर सकें, तो क्या उनसे हम यह कहना चाहते हैं कि अपनी उडानो को तुम तब तक रोके रहो, जब तक जनता भी तुम्हारे साथ उडने के योग्य न हो जाय ?

असल मे, यह प्रश्न उन सभी प्रश्नो के साथ सपृक्त है, जो सभ्यता की मूलभूत समस्याएँ हैं। जब तक सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीयता का वरण नही करते, तब तक एक, दो या दस राष्ट्रो को राष्ट्रीयता का त्याग करना चाहिए या नहीं ? जब तक सभी राष्ट्र नि शस्त्रीकरण के लिए तैयार नही होते, तब तक एक, दो या दस राष्ट्रों को नि शस्त्रीकरण करना चाहिए या नही ? विज्ञान का विकास क्या तब तक के लिए रोक दिया जाय, जब तक मनुष्य का नैतिक विकास इतना उच्च न हो जाय कि वैज्ञानिक शक्ति का उपयोग वह अपने विनाश के लिए न करे ? जब तक सारी दुनिया सभ्य नही हो जाती, दो-एक देशों के अत्यत सभ्य होने से उन पर खतरे बढते है। तो क्या सभ्यता की प्रगति तब तक के लिए रोक दी जाय, जब तक सभी देश एक समान सभ्य नही हो जाते हैं ?

यो भी सभ्यता जब अत्यत सभ्य हो उठती है, वह नपुसक हो जाती है और जब-जब सभ्यता नपुंसक या बीमार हुई है, साहित्य शैली मे जीने को लाचार हुआ है। साहित्य सीधे प्रचार का साधन नहीं है, यह बात प्राचीन युग के लोगो

को भी मालूम थी। किन्तु, १९वी सदी के कवियो ने चाहा कि साहित्य, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी भी भाँति का ज्ञानदान का काम न करे, वह विषय को कच्चा माल समझे, जिससे कला अपनी प्रतिमा तैयार करती है। इतने के सिवा, साहित्य मे विषय का और कोई महत्त्व नही है।

इस मान्यता के आते ही प्रश्न यह खड़ा हुआ कि तब कवि का जनमत से क्या सम्बन्ध हो सकता है। अगरेज कवि रासेटी जनमत की परवाह नही करता था। उसने एक मान्यता चलायी थी कि जनता के साथ कलाकार का सम्बन्ध जितना ही अधिक होता है, उतनी ही उसकी सौंदर्य-भावना दुर्बल होती जाती है। इससे भी आगे बढ़कर आस्कर वाइल्ड ने यह सिद्धान्त निकाला कि सौन्दर्य के भीतर खुद ही एक ऊँची नैतिकता का निवास है। कला और सौन्दर्य के नाम पर जो कुछ भी किया जाता है, वह अपने आप मे पवित्र है। कलाकार कभी भी पाप नही करता।

ज्यो-ज्यो कला विषय से भागने लगी, त्यो-त्यो वह कर्म से भी दूर होने लगी। (आस्कर वाइल्ड की ही एक सूक्ति चलती है, "मनुष्य जब कर्म करता है, वह कठपुतली होता है; जब वह निर्णय करता है, वह कवि बन जाता है।" यानी हिमालय पर चढ़ने का काम चाहे जो भी कर ले, मगर, हिमालय का वर्णन कोई महान् कलाकार ही कर सकता है।) पहले के चिंतको और कलाकारो को कर्म और ज्ञान के बीच कोई खास विरोध दिखायी नहीं पड़ा था। लेकिन अब जब वे अपनी रचना और अपने व्यक्तित्व की अद्वितीयता पर विचार करने लगे, उन्हे लगा, वे एक खास ढग के आदमी हैं और जो लोग नाना कर्मों मे लगे हुए हैं, उनसे वे भिन्न हैं। फ्लाउबेयर ने मजाक मे कहा था कि साहित्यिक वह है, जिसे इस बात पर भी आश्चर्य होता है कि वह वैसे ही कपड़े क्यो पहनता है, जैसे कपड़े और लोग पहनते हैं।

दोस्तोवास्की की कल्पना यह है कि व्यावहारिक मनुष्य व्यावहारिक इसलिए होता है कि उसमे चिंतन की शक्ति नही होती, उसकी चेतना अविकसित और जिज्ञासा कुठित होती है। वह आहत होने पर प्रतिशोध लेता है। किन्तु, सच्चे मनीषी प्रतिशोध नही ले पाते, क्योकि आहत या अपमानित होने पर भी वे सोचने लगते हैं कि प्रतिशोध की सार्थकता कैसे सिद्ध हो सकती है। वे पहले एक कारण तक पहुँचते हैं, फिर उसके पीछे उन्हे कोई और कारण दिखायी देता है और उसके भी पीछे कोई और। इस प्रकार, विचारो के ताने बाने मे वे इस तरह फँस जाते हैं कि उनसे कोई भी काम पार नही लगता। दोस्तोवास्की का पात्र कहता है, "मैं अपने को बुद्धिमान केवल इसलिए समझता हूँ कि सारे जीवन मे मैं न तो कोई काम शुरू कर पाया हूँ, न मैंने कोई काम खत्म किया है।" दोस्तोवास्की का मत यह भी है के पूर्ण रूप से जाग्रत चेतना का शुभ परिणाम अकर्मण्यता है ...

कर यह सोचते बैठे रहने का भाव है कि क्या करना ठीक और क्या करना गलत होगा। और व्यावहारिक मनुष्य व्यावहारिक इसलिए होता है कि उसकी चेतना लद्धड़ होती है, वह बेवकूफ होता है, क्योंकि आदमी यदि बेवकूफ नहीं हो, तो ऐसी स्थिति में वह पहुँच कैसे सकता है, जब उसे कोई शंका अथवा सन्देह नहीं रहे, और वह पूरे निश्चित मन से किसी कार्य में लग जाय ?"

चिंतन की दुविधता में पड़ा हुआ आदमी ऐसा हो सकता है, यही सोचकर शेक्सपियर ने हैमलेट की रचना की होगी। आधुनिक युग में गेटे ने 'फौस्ट' लिखा, जो 'हैमलेट' से मिलता-जुलता चरित्र है। हैमलेट और फौस्ट साहित्य के पात्र थे, मनुष्य के एक खास रूप के प्रतीक थे। किन्तु, वे नवयुग के मनीषियों को इतने अच्छे लगे कि उन्होंने हैमलेट और फौस्ट की अपने भीतर अवतारणा कर ली, उन्हें वे खुद जीने लगे। इस प्रकार सोलहवीं सदी में शेक्सपियर ने जिस मनुष्य का सपना देखा था, वह बीसवीं सदी के मनीषियों में साकार हो गया। कहना सत्य है कि केवल कला ही जीवन का अनुकरण नहीं करती, कभी-कभी जीवन भी कला का अनुकरण करता है। प्रेम वैसे मनुष्य में पहले भी था, किन्तु, साहित्य ने उसका इतना बखान किया कि प्रेम की प्रवृत्ति काफी शक्तिशालिनी और विशाल हो गयी। हैमलेट भी मनुष्य के भीतर कहीं रहा होगा। किन्तु, साहित्य के भीतर हैमलेटीय चिंतन के विकास से अनेक मनीषी हैमलेट और फौस्ट बन गये।

जैसे-जैसे कला की स्वाधीनता बढ़ी है, वैसे ही वैसे, कलाकारों का व्यक्तित्व समाज के प्रति अधिक दायित्वहीन होता गया है। संभव है, स्वाभाविक परिस्थिति में कलाकार खुद यह सोचने को बाध्य होते कि जनता को कलाकार चाहे जितने भी धक्के दे लें, मगर, उसके बिना कलाकारों का काम नहीं चल सकता। रोटी, अन्ततः, जनता देती है, मान्यता प्रोफेसर नहीं देते, जनता देती है, यश जनता देती है, जो कला और कलाकार, दोनों का आहार है। किन्तु, रूसी क्रान्ति ने शुद्धतावादी कलाकारों को चौंका दिया और वे जनता के करीब आने की बजाय, अपनी जगह पर जोर भी दृढ़ता के साथ अड़ गये।

साहित्य की जिन परंपरागत मान्यताओं को धराशायी बनाकर शुद्धतावादियों ने अपनी गजदंती मीनार खड़ी की थी, रूसी क्रान्ति ने उसी मीनार पर आघात किया। शुद्धतावादियों ने घोषणा की थी कि हमारी आस्था केवल हमारे शब्दों को अर्पित है। गोर्की ने एलान किया, "नहीं, कलाकार का दायित्व युग के प्रति होता है, समाज के प्रति होता है, कलाकारों का आलोचकों के प्रति दायी होने का कोई अर्थ नहीं है।"

शुद्धतावादियों ने समाज की उपेक्षा की परम्परा चलायी थी। गोर्की यह कह कर उन पर टूट पड़े कि यह अचरज की बात है कि समाज के प्रति दायित्व का भाव अन्य सभी मनीषियों की अपेक्षा साहित्यिक में बहुत कम है। साहित्यिक व्यक्ति-

वादी हैं और औरों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यक्तिवादी हैं। इंजीनियर व्यक्तिवादी हो तो क्षम्य है, क्योंकि इंजीनियरी के सिवा किसी और चीज की उम्मीद उससे नही की जा सकती। किन्तु, साहित्यकार व्यक्तिवादी कैसे हो सकता है? उसे तो कविता, इतिहास, दर्शन, इंजीनियरी और डाक्टरी से लेकर किसान और मजदूर, सबके बारे में जानकारी हासिल करनी है, सबके हृदय का स्पर्श करना है।

सन् १९३४ के आस-पास जब रूस से प्रगतिशील विचारो की यह धारा जोर से उठी थी, लगता था, वह शुद्धतावादी आन्दोलन को समाप्त कर देगी। जनता शुद्धतावादी घटाटोप से बड़े ही चक्कर मे थी। अतएव, प्रगतिशील आन्दोलन की घोषणाओ से उसे बड़ा सतोष मिला था। किन्तु, शीघ्र ही, रूस से खबरें आने लगीं कि वहाँ साहित्य की स्वतन्त्रता का हरण किया जा रहा है, लेखको से कहा जा रहा है कि तुम्हे लिखना हो तो राज्य की विचारधारा के अधीन लिखो अन्यथा तुम्हारे लिखने की कोई कद्र न होने दी जायगी। "पार्टी का कोई सदस्य यदि पार्टी की नीति से असहमत है, पार्टी के दृष्टिबोध को अस्वीकार करता है और विचारो के मामले मे पार्टी के सामने झुकने मे असमर्थ है, तो उसे खुद ही पार्टी का टिकट लौटा देना चाहिए अथवा पार्टी को चाहिए कि उसे अपने सगठन से निकाल दे।"

यह शुद्धतावादी विचारधारा को बहुत बड़ी चुनौती थी। शुद्धतावादियो ने उपयोगिता को ढकेलकर साहित्य से बाहर कर दिया था। साम्यवादियो ने उसे फिर साहित्य का मूल आधार मान लिया। "हम अध्यात्म नही, भौतिकता के सेवक हैं, हम राष्ट्र के सेवक हैं, राजनैतिक दल के सेवक है। हम तलवार नही, कलम से ससार की सेवा करते हैं। हम भौतिकता की आध्यात्मिक फौज हैं।" कहने वाले ने यह बात इस उम्मीद मे कही थी कि विरोधी हमारी जन-भावना के सामने निरुत्तर रह जायँगे। लेकिन शुद्धतावादी कलाकार कठोर चिंतन के बाद अपने सिद्धान्त पर पहुँचे थे। वे हिलने वाले नही थे। उन्होने ऐसी घोषणाओ पर बड़ी ही कटु प्रतिक्रिया व्यक्त की। "हाँ, किताबें वे ही अच्छी हैं, जो दलगत ध्येय का प्रचार करती हैं, राष्ट्र के गौरव को बढाती हैं, यानी सत्य वह है, जो उपयोगी है और जो चीज जितनी उपयोगी है, वह उतनी ही खूबसूरत भी है।"

अगर गोतिये जीवित रहे होते, तो वे अवश्य ही इतनी बात और जोड देते कि चूँकि शौचालय घर का सबसे उपयोगी भाग है, इसलिए, सबसे सुन्दर भी उसी को कहना चाहिए।

जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, फ्रास मे मनीषियो की राजनीति साहित्य के धरातल की राजनीति रही थी, विचार और विश्लेषण की राजनीति रही थी। राजनीति वह है, जो सिपाहियो और राज नेताओं को लेकर चलती है। राजनीति वह है, जो दिन-दिन की राजनीति नही है, मगर जिससे व्याव- राजनीति को रोशनी मिलती है, उसे अपनी गलतियो का ज्ञान होता है,

जिससे जनता सही और गलत का निर्णय करने की योग्यता प्राप्त करती है। साहित्यिकों की राजनीति यही वैचारिक राजनीति थी। किन्तु, साम्यवाद ने जब साहित्य के प्रति कड़ा रुख अपनाया और फासिस्त नेता भी उसी विचारधारा का अनुसरण करने लगे, तब संसार भर के मनीषियों में इस विषय को लेकर चिंता आरंभ हो गयी कि साहित्यिकों को राजनीति में जाना चाहिए या नहीं।

साहित्य जितना ही शुद्ध, जितना ही तटस्थ जितना ही अप्रत्यक्ष होता है, उतनी ही उसकी शक्ति और उज्ज्वलता में वृद्धि होती है। किन्तु, राजनीति के लिए तटस्थ और अप्रत्यक्ष रहना दुष्कर कार्य है। वह शक्ति के आधार पर खड़ी होती है और शक्ति केवल पुण्य से ही अर्जित नहीं की जाती, वह गन्दगी से भी प्राप्त होती है। सामान्यत, गन्दे काम किये बिना कोई भी व्यक्ति राजनीति की गद्दी पर न तो पहुँच सकता है, न वहाँ कायम रह सकता है। गांधीजी ने राजनीति को पवित्र रूप अवश्य देना चाहा था, किन्तु अगर वे प्रधान मंत्री हुए होते, तभी यह बात परखी जा सकती थी कि पुण्य के बल से आदमी गद्दी पर टिक सकता है या नहीं। प्रत्येक राजनीतिज्ञ सभा-मंचस मेकियावेली की निन्दा करता है, किन्तु, जभी वह अपने दफ्तर की कुर्सी पर जाता है, वह मकियावेली का छोटा या बड़ा शिष्य बन जाता है।

राजनीति का शरीर कर्म का और मन विशुद्ध चिन्तक का हो, यह कल्पना बहुत दिनों से चली आ रही है, लेकिन, वह अब तक कहीं भी साकार नहीं हो सकी। प्लेटो का यह स्वप्न कि राजा दार्शनिक और सन्त हो अथवा सन्तों और दार्शनिकों को ही मानव समाज पर राज्य करना चाहिए, अब तक स्वप्न ही रहा है। जब तक राजनीति का सिंहासन दूर था, गांधीजी के अनुयायी उनके पीछे आँख मूँदकर चलते थे। किन्तु जब सत्ता का आसन पहुँच के भीतर आ गया, गांधीजी के बड़े बड़े अनुयायी उनसे कतराने लगे थे।

न्याय और पुण्य की राजनीति उन्हें अनुकूल नहीं पड़ती, जो किसी देश पर राज करना चाहते हैं। जब से प्रजातन्त्र का विस्तार हुआ, संसार के कुछ साहित्यकार राजनीति में जाने से अपने को रोक नहीं सके। लेकिन, बाजार से वे प्राय खाली हाथ लौटे हैं। राजनीति के स्वामियों ने उनका इतना विश्वास नहीं किया कि वे मन्त्री बनाये जा सकें अथवा उनके हाथ में कोई बड़ा राजनैतिक अधिकार सौंपा जा सके।

इस मामले में मध्यकाल में भारत में कवियों का जो सम्मान था, वह यूरोप में नहीं था। क्रोमवेल ने मिल्टन से अपना पत्राचार तो तैयार करवाया था, लेकिन उन्हें उसने कोई राजनैतिक अधिकार नहीं दिया था। आज भी इस प्रसंग में सबसे बड़े अपवाद फ्रांस के सांस्कृतिक मन्त्री आंद्रे मालरो और भारत के राष्ट्रपति डाक्टर राधाकृष्णन ही हैं। किन्तु, इसका कारण यह है कि मालरो फ्रांस के हैं,

जहाँ का नैतिक नेतृत्व राजनीतिज्ञो नही, साहित्यिको के पास है, और राधाकृष्णन भारत के है, जो देश अभी अभी स्वाधीन हुआ है और उसके पास जो कुछ भी सुन्दर और श्रेष्ठ है, उसे ऊपर उछाल कर वह ससार मे सुयश पाना चाहता है।

साम्यवादी आन्दोलन के भीतर क्रान्ति का जो जोश था, शोषण और विषमता को समाप्त करने के लिए जो उत्साह था, ससार को साम्यावस्था और युद्धहीनता मे प्रतिष्ठित करने की जो कल्पना थी, उसका प्रभाव इग्लैण्ड और फ्रास के लेखको पर भी पडा। फ्रास मे मनीषियो के बीच इस विचारधारा के लिए जो पक्षपात बढा, उसका परिणाम यह है कि आज भी उस देश मे मनीषी शब्द से किसी प्रकार की वाममार्गिता की गध, आप से आप, निकल आती है। इसी प्रकार, इग्लैण्ड मे इलियट और एजरा पौण्ड की पीठ पर ऑडेन, स्पेंडर और लेवी की जो पीढी आयी, वह अपने को समाजवादी कहती थी। उन दिनो यह स्पष्ट दिखायी देता था कि शुद्धतावादी हारेंगे और प्रगतिवादी जीत जायँगे। साम्यवादी आन्दोलन के प्रचार से प्रजातन्त्री देशो मे जो घबराहट फैली, उसका कुछ अनुमान जार्ज आरवेल के लेखो से आज भी किया जा सकता है।

यह वह समय था, जब रूस मे स्टालिन, जर्मनी मे हिटलर और इटली मे मुसोलिनी का राज्य था। यद्यपि रूस की विचारधारा इटली और जर्मनी की विचारधारा से भिन्न थी तथा एक ओर स्टालिन और दूसरी ओर हिटलर और मुसोलिनी परस्पर दो विरोधी उद्देश्यो को लेकर चल रहे थे, किंतु, साहित्य वालो को खतरे दोनो शिविरो से दिखायी दिये। इस स्थिति से विचलित होकर जार्ज आरवेल ने लिखा कि साहित्य पर राजनीति की चढाई शुरू हो गयी है। हम जिस युग मे जी रहे हैं, वह राजनीति का युग है और जो बातें आज हमारे कानो मे सब से ज्यादा पडती हैं, वे युद्ध की बातें है, फासिस्तवाद की बातें हैं, व्यक्ति के दलन और वैयक्तिकता के ह्रास की बाते है, अणुबम और जन-विनाश की बातें हैं। क्या अब भी साहित्य जीवन से विमुख रहेगा ? जब पूरी नाव डूब रही हो, तब क्या उस पर चढे हुए मुसाफिरो को इस खतरे के सिवा किसी और बात की चर्चा शोभा देती है ?

आरवेल का उद्देश्य यह था कि फासिस्तवादी प्रवृत्तियों के अवरोध के लिए जनता के मन मे दुर्भेद्य प्राचीर खडा किया जाना चाहिए। और यह कार्य चूंकि केवल साहित्यकार कर सकते है इसलिए, साहित्यकारो से उन्होने कहा कि अपनी गजदती मीनार से उतरकर आप इस विपत्ति का सामना करे।

राजनीति मे साहित्यिक जाय या नहीं, इस विषय मे आरवेल का मत यह था कि राजनीति का त्याग आज जीवन के त्याग का पर्याय बन गया है, अतएव, राजनीति के त्याग की बात नहीं चल सकती। किन्तु, राजनीति मे जाकर भी साहित्यिक को साहित्यिक ही रहना चाहिए। मनीषी अगर शुद्ध चिन्तन का मार्ग

छोड देगे, तो इससे मनुष्यता की अपरिमित हानि हो सकती है। पार्टी मे शामिल होने के बाद भी उन्हे शुद्ध चिन्तन का मार्ग नही छोडना चाहिए, पार्टी के हिताहित का विचार करके अपने चिन्तन की दिशा को नही बदलना चाहिए। साहित्यिको का सम्मान उनके मुक्त चिन्तन के कारण है, उनकी ईमानदारी और निर्भीकता के कारण है। राजनीति उनका नागरिक धर्म है, उनका अपना धर्म साहित्य है और उनकी सम्पूर्ण भक्ति साहित्य को ही अर्पित होनी चाहिए। अगर पार्टी उन्हे इतनी आजादी देने को तैयार है, तो वे पार्टी मे जा सकते हैं। किन्तु, जहाँ इस स्वतन्त्रता मे आँच आती दिखायी दे, वही साहित्यिको को पार्टी से अपना सम्बन्ध छेद कर लेना चाहिए। नागरिक धर्म के पालन के लिए साहित्यकार को अपने मनीषी-धर्म से नही डिगना है। पार्टी के अनेक काम वह कर सकता है, किन्तु, पार्टी के लिए साहित्य सृजन का काम साहित्यकार के लिए सर्वथा निषिद्ध है। जबर्दस्ती प्रगतिशील बनने की अपेक्षा यह कही अधिक गौरव की बात है कि साहित्यकार अगतिशील रहे और ऐसा साहित्य तैयार करे, जो सचमुच साहित्यिक गुणो से युक्त हो। आज जो हालत चल रही है, उसमे तो यही दिखायी देता है कि जिस लेखक पर प्रतिक्रियागामी होने का थोडा भी सन्देह न हो, उसके सच्चे मनीषी होने पर कुछ सन्देह किया जाना चाहिए।

कविता और समाज के बीच क्या सम्बन्ध है, इस विषय की लम्बी चर्चा, बेवकूफी की बाते किये बिना, पूरी नही होती। प्रत्येक साहित्यकार जानता है कि उसके साहित्य का समाज के साथ, कही न कही, कोई अटूट सम्बन्ध है और जिस मात्रा मे इस सम्बन्ध के निभाने की सही कला उसे मालूम है, उसी मात्रा मे वह अच्छा साहित्यकार है। प्रचारवादियो को चुप करने के लिए सार्त्र ने यह कहा है कि प्रचार अगर उद्देश्य हो गया, तो कला कला नही रहेगी। सरकार यदि सगीत को प्रचार का माध्यम बनाना चाहेगी, तो सगीत शब्दो पर अवलम्बित हो जायगा तथा तान और आलाप की शक्ति उसकी मारी जायगी। अब प्रश्न यह है कि सगीत अपने निराकार गुणो का विकास करके अधिक कलापूर्ण होने की चेष्टा करे अथवा वह सरकारो की प्रचारेच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए शब्दो में फँसे और अर्थ का वाहन बन जाय? जो लोग साहित्य को प्रचार का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे भी साहित्य से साहित्यिक गुणो का अपहरण करके उसे कोरा ज्ञान, कोरी राजनीति बना देंगे।

सार्त्र की इस दलील से मन मे घबराहट तो होती है, किन्तु, उससे इस प्रश्न का समाधान नही होता कि तब उन विपत्तियो के साथ क्या सलूक किया जाय, जो इस पीढी के सामने मँडरा रही हैं। क्या जो लोग चिन्तन और कला का काम करते हैं, उन पर समाज की कोई जिम्मेदारी नही है? क्या राजनीति को इस बात की पूरी छूट दे दी जाय कि वह जो चाहे, करे, साहित्य उसकी भूमि मे दखल नही

देगा ? तो फिर साहित्यकार नाराज क्यों होते हैं ? जनता से वे क्या कहना चाहते हैं ? वे कैसी सरकार और कैसा समाज चाहते हैं ? क्या साहित्यकारों के रूठने से घबराकर राजनीतिज्ञ उस समाज की रचना कर देंगे, जो मनीषियों को भी पसन्द होगा ? और जो विपत्तियाँ ससार पर मँडरा रही हैं, वे क्या किसानों, बनियों, अफसरों और कमकरों के लिए ही हैं, चिन्तकों पर उनसे कोई खतरा नहीं आता है ? कमकर कभी भी अपना काम पा जायेंगे। किसान हर हालत में खेती, बनियाँ हर हालत में व्यापार और अफसर हर हालत में नौकरी करेगा। लेकिन अवाछनीय सामाजिक व्यवस्था के अधीन मनीषी क्या करने वाले हैं ? अगर खतरा किसी पर है, तो उस आदमी पर, जो अपनी बौद्धिक शक्ति को अपना सारा असबाब समझता है।

सच्चे अर्थों में सभी बुद्धिजीवी मनीषी नहीं होते। विशेषज्ञों को मनीषी की कोटि में गिनने का रिवाज नहीं है। डाक्टर, इजीनियर और वकील, ये मनीषी नहीं, बुद्धिजीवी हैं, विशेषज्ञ है। जड पदार्थों को मोडने का काम, उनके बाहरी रूप के बदलने का काम विशेषज्ञ करते हैं। मनीषी वह है, जो मनुष्य की चेतना को परिवर्तित करता है, उसके दिमाग में खलबली मचाता है। जो डाक्टर, वकील या इजीनियर, अपने पेशे के अतिरिक्त, यह काम भी करते हैं, वे मनीषी जरूर हैं, लेकिन इस कारण नहीं कि वे अपने पेशे में होशियार है, बल्कि, इसलिए कि वे मनुष्य के ज्ञान और भावना में हिलकोर मचाते हैं।

मनीषी वह है, जो विचारों के सघर्ष में है, अपने ऊपर सामाजिक जीवन का आघात ले रहा है और, बदले में, समाज को आघात दे रहा है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान को तोलता है, सूँघ कर सारे इतिहास की खुशबू लेता है, लोक और परलोक जिसकी कल्पना में चक्कर काटते है तथा धर्म और नैतिकता जिसके चिंतन के कडाह में खौलते हैं। मनीषी मानवता का पुरोहित है। वह मनुष्य के आध्यात्मिक, वैचारिक और नैतिक उत्तराधिकारों का मूल्याकन करता है और उनकी रक्षा, सुधार और विकास की भी जिम्मेवारी उसी की है। वह अगर तटस्थ हो गया, तो मानवता की सारी आध्यात्मिक सेना ही लडना छोडकर तटस्थ हो जायगी।

पिछले युगों के मनीषी अधिक सौभाग्यशाली थे। उस समय के अत्याचार भी सीमित और स्थूल थे, जिनसे दर्शकों को रोना चाहे जितना भी आता रहा हो, उनके भीतर घबराहट नहीं जगती थी, आशकाएँ उत्पन्न नहीं होती थी, न अपने ऊपर उन्हें कोई खतरा आता दिखायी देता था। लेकिन अत्याचार अब सूक्ष्म हो गये हैं और विज्ञान के बल से जब उनके तरीकों में भी तरक्की हो गयी है। यह समय तटस्थ रहने का नहीं है, गवाह बनकर जीने का नहीं है। अब गवाह की स्थिति भी सुविधा की स्थिति नहीं रही। अलबेयर कामू के अनुसार "यह वह समय है, जब जज, मुजरिम और गवाह आपस में अपनी जगहों की अदला-बदली करने

लगे है।"

मानवता का भाग्य केवल राजनीतिवालो के हाथ मे नही छोड़ा जाना चाहिए। जो लोग कारखानो में नये मनुष्य ढाल कर समाज पर अपनी अथवा अपने दल की पकड को अटल बनाने के उद्योग मे है, उन्हे चुनौती भेजना मनीषियो का धर्म है। अगर ये सारे काम मनीषियों को अपने गौरव के प्रतिकूल दिखायी देते हो, तो समझना चाहिए कि उनके अस्तित्व की समाप्ति समीप है। सोलहवी सदी के पूर्व तक मनीषियो का अस्तित्व नही था, क्योकि तब तक प्रचलित स्थिति का विरोध करने की बात उन्हे नही सूझी थी। अब अगर कला के नाम पर वे तटस्थ रहना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि प्रचलित स्थिति को वे बर्दाश्त करने को तैयार हैं। यही उनकी मृत्यु की पूर्व सूचना है क्योकि जिस मनीषी मे मन्यु नही है, विरोध की प्रवृत्ति नही है, उसका अस्तित्व भी कायम नही रहेगा।

मनुष्य की सस्कृति जीवन्त तभी रह सकती है, जब उसका साहित्य ठहरा हुआ नही, प्रगतिशील हो; तटस्थ या रूठा हुआ नही, बल्कि सघर्षशील हो। और मनीषी की सघर्षशीलता व्याख्यानो मे अभिव्यक्त नही होती, उसके माध्यम कल्पना और विचार है। जब भी लोग यह कहते हैं कि मनीषियो ने हमे धोखा दिया है, तब उस आक्रोश का आशय इतना ही होता है कि कल्पना ने वास्तविकता की सही रिपोर्ट नही लिखी है, जनता के हृदय मे आलोड़न मचाने का काम अधूरा रहा है और कला धरती से दूर तथा वायवीय लोक के बहुत समीप रही है।

पचतत्त्वो मे से एक तत्त्व वायु भी है, लेकिन, हवा से कोई बन्दूक बनायी जाय तो उससे गोलियाँ नही छूटेंगी। विषय समाज के जितने समीप से आता है, वह उतनी ही सुस्पष्ट और साकार शैली को अनिवार्य बना देता है। विषय जितना ही वायवीय होता है, उसकी शैली भी उतनी ही अरूप हो जाती है। जो लोग समाज की ओर बहुत ज्यादा झुके हुए है, उन्हे बार-बार अपने आप से यह सवाल करते रहना चाहिए कि मैं उत्तेजना के कारण कविता लिख रहा हूँ अथवा कविता लिखने के लिए नयी उत्तेजना की खोज मे हूँ। और जो लोग व्योमपथी हैं, उन्हे अपने आप से यह पूछना चाहिए कि बच्चे का जामा उसके जन्म के बाद तैयार किया जाना चाहिए या जामा तैयार करके अजन्मा शिशु की प्रतीक्षा करना ठीक है।

जो लोग कवि की आस्था और उसके विश्वास का प्रश्न उठाते है, वे भी एक ऐसे विषय की विचिकित्सा कर रहे हैं, जिसका आधुनिक काव्य से अथवा किसी भी काव्य से सीधा सम्बन्ध नही है। आस्था और दृष्टिबोध कवि मे उसी प्रकार व्याप्त रहते हैं, जैसे फूलो के भीतर उनकी सुगन्ध समायी रहती है। लेकिन, रचना के समय आस्था को लेकर कोई भी कवि माथापच्ची नही करता। जभी वह यह सोचने लगेगा कि मैं अपनी आस्था के अनुसार लिख रहा हूँ या नहीं, तभी वह

साहित्येतर चिन्ता में पड़ जायेगा, धर्म बचाने की फिक्र में कवित्व को कमजोर करने की दुविधा से ग्रस्त हो जायेगा। रचना के समय कवि का सारा ध्यान अभिव्यक्ति की सचाई और इस चिंता पर केन्द्रित रहना चाहिए कि जो कुछ मैंने अनुभव किया है, रचना मे वही चीज आ रही है अथवा मैं सुयश के लोभ अथवा अपकीर्ति के भय से कुछ और लिख रहा हूँ तथा जो मैं लिख रहा हूँ, उसमे मेरी अभिव्यक्ति संक्षिप्त और तीखी है या नही। लेकिन, रचना के क्रम मे लेखक को आस्था का वह रूप अवश्य दिख जाता है, जिसमे वह विश्वास करता है।

इसी प्रकार, व्यष्टि और समष्टि का विवाद भी व्यर्थ है, क्योंकि साहित्य बराबर उसी ज्ञान और अनुभूति के आधार पर लिखा जाता है, जिसका प्रचलन समस्त समाज मे हो चुका है। विशेषज्ञों का ज्ञान साहित्य का विषय नही हो सकता, वह अभी विशेषज्ञो का ही विषय रहेगा। साहित्य की भूमि मे एक जहाँ तक पहुँचता है, सबके लिए वहाँ तक जाना शक्य है और जहाँ सब पहुँचते हैं, वहाँ तक प्रत्येक व्यक्ति जा सकता है। तब भी, जो साहित्य सबके लिए दुर्बोध हो जाय, उसके बारे मे यही कहा जा सकता है कि

वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते।

सार्त्र ने यह प्रश्न भी उठाया है कि कला कौन ठीक है। वह, जो स्वाधीन और अमूर्त्त है? अथवा वह, जो साकार और गुलाम है? कला का प्रधान श्रोता कौन है? वह जनता, जो अशिक्षित और अबुद्ध है अथवा वह एक व्यक्ति, जो शिक्षित किन्तु, बुर्जुआ है? यह समस्या सनातन है अथवा वह इतिहास के क्षण-विशेष की उपज है, इस पर सार्त्र ने कोई राय नही दी है। किन्तु, जो भी लोग साहित्य को सुन्दर और शक्तिशाली रूप मे जीवित देखना चाहते हैं, वे यही मानना चाहेगे कि यह अतिवादिनी द्विधा इतिहास के एक क्षण की उपज है और उसके गुजर जाने पर साहित्य मुक्त भी होगा और आज की अपेक्षा अधिक साकार भी। साहित्य की मुक्ति और उसकी साकारता के बीच शाश्वत विरोध नही है, यह बात मन ही मन प्रत्येक कवि जानता है।

कला में व्यक्तित्व और चरित्र

कला की रोमांटिक धारणा यह थी कि वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। किन्तु, जब रोमांसवाद का विरोध शुरू हुआ, इलियट ने यह स्थापना रखी कि *कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, उससे पलायन की क्रिया है।* व्यक्तित्व क्या है, इसकी व्याख्या इलियट ने नहीं दी है। उन्होंने केवल यह कहा है कि कलाकार के पास व्यक्तित्व नहीं होता। उसके हाथ मे केवल माध्यम होता है, जिस पर वह काम करता है। माध्यम का अर्थ कवि के प्रसंग में शब्द, भाषा, छन्द आदि होंगे और चित्रकार के प्रसग मे उसे रंग और चित्रपट समझना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि कविता और चित्र के पीछे कलाकार के व्यक्तित्व की महिमा नहीं होती, प्रेरणा, पसन्द-नापसन्द अथवा दृष्टिबोध नहीं होता। कविता केवल हुनर है और जो भी व्यक्ति तेजस्वी तथा अध्यवसायी है, वह मजे मे कविता और चित्र बना सकता है।

अपनी सूक्ति की यह व्याख्या इलियट को ग्राह्य होती या नहीं, हम नहीं जानते। किन्तु, उन्होंने जो कुछ कहा है, उसका यही अर्थ हमारे सामने आता है। कवि अवतारी होता है, कवि पैगम्बर होता है, उसकी प्रेरणा आसमान से आती है, यह एक अतिवाद था। दूसरा अतिवाद यह है कि कवि अवतारी या पैगम्बर कुछ भी नहीं होता, न उसकी प्रेरणा आसमान से आती है। कविता साधना या अभ्यास की चीज है। अतएव, जो भी व्यक्ति चाहे, अभ्यास करके कवि बन जा सकता है। अर्थात्

> अभ्यासी का श्रम-सीकर ही काव्य है,
> कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

संभव है, शुद्धतावादियों के बीच ऐसे लोग भी हों, जो कविता के भीतर कवि के व्यक्तित्व की महिमा को स्वीकार करते हों, किन्तु, व्यवहारत, वे भी अभ्यास उसी नियम का करते हैं, जिसका निर्धारण इलियट ने किया है। क्योंकि कविता अगर व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानी जाय, तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि काव्य केवल शैली से नहीं बनता, उसमे वे उपकरण भी अभिव्यक्ति पाते हैं, जिनसे कवि के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। और वे उपकरण भावनाएँ हो सकती हैं, विचार हो सकते हैं, किसी चीज का अच्छा या बुरा लगना

हो सकता है, सम्मति, धारणा और दृष्टिबोध हो सकता है। लेकिन सम्मति, धारणा और दृष्टिबोध कविता मे आ गये, तो फिर कविता शुद्ध कैसे कही जायगी ? हमारा अनुमान है कि यही कुछ सोचकर इलियट ने कवि के व्यक्तित्व का वर्जन करके सारा जोर अभ्यास पर दिया है।

इलियट-जैसे मनीषियो की ऐसी उक्तियो का ही यह प्रभाव है कि अब जिसे भी थोडा अवकाश है अथवा जो भी व्यक्ति जीवन पर आदर्शवाद के दो-चार छींटे डाल लेने को अच्छा काम समझता है, वह कविता की ओर पाँव बढा देता है। देखते-देखते कविता की भूमि इतने अधिक साधको से भर गयी है कि अब यह भी पता नही चलता कि इनमे से कौन सत्कवि हैं और कौन ऐसे लोग, जिनकी सारी पूँजी अभ्यास है। (कवि मात्र जन्म से ही कवि नही होता, उसे अभ्यास भी करना पडता है। किन्तु, अभ्यास उन्ही को फलता है, जो जन्म से भी कवि हैं।

जैसे सगीत और चित्रकारी के स्कूल चलते हैं, उस प्रकार कविता के स्कूल की बात हमने अब तक नही सुनी है। और सगीत तथा चित्रकारी के स्कूलो मे भी, जिसे चाहे उसे भर्ती करके, हम नये गायक और चित्रकार तैयार नही कर सकते। कलाकार खास ढग के लोग होते हैं। कवि कारखानो मे तैयार नही किये जा सकते। आस्तिक लोगो के बीच यह जनश्रुति चलती थी कि काव्य प्रतिभा के बीज पूर्व जन्म के सस्कार मे होते हैं। नयी मान्यता अगर यह हो कि काव्य के बीज परिवेश मे होते हैं, तो भी इस मान्यता के अपवाद अनेक लोग मिलेंगे।

सच्ची बात यह है कि जैसे हम यह नही जानते कि आदमी रहस्यवादी और सन्त क्यो हो जाता है, साम्राज्य को ठुकरानेवाला प्रेमी और दूसरो के लिए सर्वस्व लुटानेवाला दानी क्यो हो जाता है, उसी प्रकार, हमे यह भी मालूम नहीं है कि आदमी और कुछ न बनकर कवि, गायक और चित्रकार क्यो बन जाता है। स्पेंगलर ने बीसवी सदी के युवको को यह राय दी थी कि वे कवि न बनकर इजीनियर बनने की कोशिश करें, दार्शनिक न बनकर राजनीतिज्ञ बनने का प्रयास करें। हमारा ख्याल है, स्पेंगलर ने इस कठिनाई का ध्यान नही रखा कि जो व्यक्ति कवि की प्रतिभा लेकर पैदा हुआ है, वह शिक्षा के अभाव मे अविकसित भले रह जाय, मगर उसके अच्छा इजीनियर बनने की सभावना थोड़ी ही रहेगी।

यह रहस्य क्या है, हम नहीं जानते। हमारा ख्याल है, इसे मनोविज्ञान भी अभी नही जान सका है। अतएव, जब तक मनोविज्ञान इस गुत्थी को सुलझाने मे असमर्थ है, तब तक हमे यही मान कर चलना है कि कवि-प्रतिभा अविज्ञेय शक्ति हैं और उसका सबध, कही न कहीं, अचेतन के नीचे दबे सूक्ष्म सस्कारो

से पड़ता है। और ये संस्कार केवल इसी जन्म के नहीं हैं, उनका संबंध अनेक जन्मों से हो सकता है, सारी मानवता के संस्कार से हो सकता है। विज्ञान के नियमों से हम कवि तैयार नहीं कर सकेंगे, क्योंकि विज्ञान केवल बुद्धि का दूसरा नाम है। लेकिन, अचेतन की लहरें इतनी शक्तिशालिनी होती हैं कि उनके आते ही बुद्धि के महल ढहकर धराशायी हो जाते हैं।

इस विषय पर इलियट की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट चिंतन रवीन्द्रनाथ और मोहम्मद इकबाल ने किया है। इलियट कला को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं मानते हैं, किन्तु, रवीन्द्रनाथ और इकबाल, दोनों का विचार है कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। लेकिन व्यक्तित्व किसे कहते हैं, इस विषय में रवीन्द्रनाथ और इकबाल के मत परस्पर भिन्न हैं।

इकबाल उस व्यक्ति को व्यक्तित्वशाली नहीं मानते, जो ढीला-ढाला, संघर्ष-भीरु, आराम-पसन्द और अकर्मण्य है। जब तक मनुष्य निष्क्रिय, आलसी, परोपजीवी और तटस्थ है, तब तक वह व्यक्तित्व का दावा नहीं कर सकता। व्यक्तित्व उसका तब आरंभ होता है, जब वह जीवन के संघर्षों में भाग लेने लगता है। जिसके जीवन में संघर्ष नहीं है, तनाव नहीं है, कर्मठता और उत्साह नहीं है, उसका व्यक्तित्व भी नहीं है। व्यक्तित्व का आरंभ समर का आरंभ है, जीवन को घेरने वाली बाधाओं पर आक्रमण का आरंभ है। "जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, वह संघर्ष की अवस्था है। जब तक यह अवस्था बनी रहती है, तभी तक मनुष्य का व्यक्तित्व भी कायम रहता है।"

इकबाल निवृत्ति के द्रोही और प्रवृत्ति के समर्थक हैं। जो भी जातियाँ आराम, सुरक्षा और शान्ति के लिए खतरों से भागती फिरती हैं, वे व्यक्तित्व-हीन हैं। "मनुष्य का नैतिक और धार्मिक आदर्श निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति है। मानव-जीवन का विकास शान्ति-सेवन और निवृत्ति की आराधना से नहीं हो सकता। उसके लिए निरन्तर संघर्ष करना आवश्यक है। जीवन की प्रगति का मार्ग निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति का मार्ग है।" अर्थात् मनुष्य संघर्ष की ज्वाला में जितना ही अधिक दग्ध होता है, उसके व्यक्तित्व का तेज उतना ही अधिक निखार पाता है।

शुद्ध कवित्व की धारा जिस उत्स से फूटी है, इकबाल उस उत्स के ही खिलाफ हैं। वे निश्चित रूप से मानते हैं कि कविता को नैतिकता का माध्यम और कर्म की प्रेरणा का स्रोत होना चाहिए। जिस कविता से नैतिकता में बाधा पड़ती है अथवा कर्म की प्रेरणा मन्द होती है, वह कविता त्याज्य है। और जिस काव्य से नैतिकता को शक्ति तथा कर्म को तेजस्विता प्राप्त होती है, वह कविता काम्य है। जीवन से अलग कला की कोई अपनी कसौटी नहीं हो सकती। जो कुछ जीवन के लिए श्रेष्ठ है, उसे कला के लिए भी श्रेष्ठ मानना चाहिए और जो कुछ जीवन के

लिए अधम और त्याज्य है, उसे कला के भीतर भी स्थान नही मिलना चाहिए। "जो भी वस्तुएँ हम मे निद्रा और आलस्य का सचार करती हैं, जो भी वस्तुएँ हमारी आँखो से उस वास्तविकता को ओझल करती है, जिसे अधिकार मे लाये बिना जीवन नही टिक सकता, वे सब-की-सब मृत्यु और विनाश लाने वाली हैं।"

'कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त का तिरस्कार करने मे इकबाल को उतनी भी झिझक नही है, जितनी झिझक कलावादियो को उसे स्वीकार करने मे होती है। जो कला जीवन को प्रेरणा नही देती, जिस कला से आदमी के भीतर सघर्ष की उमग नही उठती, उसे इकबाल कही भी स्थान देने को तैयार नही हैं। "कला मे अफीम-सेवन के लिए गुजाइश नही होनी चाहिए। 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त पतनशीलता का प्रपचपूर्ण आविष्कार है और उसका ध्येय भुलावे मे डालकर हमे अशक्त बनाना है, जिससे हमारे हाथो का अधिकार दूसरे के हाथो मे चला जाय।"

इक़बाल ने अपने बहुत से विचार नीत्से से लिये थे। ईसाई धर्म के विवेचन के प्रसग मे नीत्से ने कहा था कि ऐसे कोमल धर्म का आविष्कार वह जाति करती है, जो गुलाम होती है। कोमल धर्म का प्रचार गुलाम जातियाँ इस आशा से करती हैं कि शासक जातियो के लोग कोमल और कमजोर हो जायँ। वही बात इकबाल ने यहाँ कला पर लागू कर दी है। इकबाल मे युद्धप्रियता के जो भाव हैं, वे भी नीत्से से ही लिये गये हैं, गरचे वे इस्लाम के जिहाद-सिद्धान्त से भी जोड़े जा सकते हैं।

जो लोग काव्य का उपयोग समाज के उत्थान के लिए करना चाहते हैं, इकबाल उनके पक्षपाती हैं। समाज का ध्यान यदि सघर्ष से हट गया, वास्तविकता से दूर हो गया और समाज के अग्रणी लोग यदि यह मानकर चलने लगे कि जीवन निस्सार है, इसलिए, हमे जीवन को छोडकर मृत्यु की उपासना करनी चाहिए यानी वैराग्य-भाव से जीना चाहिए, तो वह समाज धँसकर पाताल चला जायगा। इसीलिए इक़बाल प्लेटो के निवृत्ति-मार्ग, हिन्दुओ के मायावाद, बौद्धो के शून्यवाद और मुसलमानो के सूफीवाद का विरोध करते थे। व्याजान्तर से यह आघात उस दर्शन पर भी पड़ता है, जिससे शुद्ध कवित्व के आन्दोलन का जन्म हुआ है। जो भी काव्य कर्म से दूर रहना चाहता है, उपयोगी होने से घृणा करता है और समाज की धाराओ से असपृक्त रहना चाहता है, इकबाल उस काव्य के शत्रु हैं। केवल काल्पनिक सुन्दरता की रचना करना पाप है, उसे सत्य और शिव से भी युक्त होना चाहिए। जो कविता केवल सौन्दर्यपूर्ण और मादक है, किन्तु वह कर्म की प्रेरणा नहीं देती, वह प्रशसा नही, निन्दा की पात्री है। हाफ़िज़ की गजलें शुद्ध कवित्व के बहुत ही श्रेष्ठ उदाहरण उपस्थित करती हैं, किन्तु, इकबाल हाफ़िज़ के बहुत ही विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि इस्लाम

के पौरुष का ह्रास हाफिज़-जैसे मादक कवियों की कविताओ के कारण भी हुआ है। जीवन की नश्वरता का चित्र खीचकर मनुष्य को अकर्मण्य तथा विरक्त बनाने वाला दर्शन, इकबाल की दृष्टि मे, मृत्यु का दर्शन है। हाफ़िज़ के खिलाफ जनता को आगाह करते हुए उन्होने अपनी एक कविता मे कहा है, "फारस के इस गुलाब से बचो, क्योकि उसकी पत्तियो के भीतर ज़हरीला साँप छिपा हुआ है।" और प्लेटो की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा है, "प्लेटो का मैंने जो विरोध किया है, वह असल मे दर्शन के उन सभी सिद्धान्तो का विरोध है, जो जीवन की जगह मृत्यु को अपना आदर्श मानते है। जीवन की सबसे बडी बाधा मैटर (द्रव्य, प्रकृति) है, मगर ये दर्शन इस मूल बाधा से ही आँख फेर लेते है और उसे जीत-कर आत्मसात् करने के बदले, मनुष्य को उससे पीठ फेरकर भाग खड़े होने की सलाह देते है।" यहाँ यह स्मरणीय है कि प्लेटो का विरोध नीत्से ने भी किया था।

सक्षेप मे, इकबाल का कला-विषयक सिद्धान्त टालस्टॉय का सिद्धान्त है। कला का सौन्दर्य अनुपयुक्त छोडने की चीज नही है। उसका उपयोग मनुष्य को जगाने के लिए किया जाना चाहिए, उसे किसी-न-किसी ऊँचे कर्म मे प्रवृत्त करने को किया जाना चाहिए। उपयोगिता की कसौटी पर कला यदि खरी उतरती है, तो वह वरेण्य है। अन्यथा उसका त्याग किया जाना ही धर्म है। क्योकि सौन्दर्य जब उपयोगी नही होता, वह मनुष्य को भरमाकर कमजोर कर देता है।

कला के एक पक्ष का समर्थन जैसे इकबाल ने बड़ी निर्भीकता से किया है, उसी प्रकार, कला के दूसरे पक्ष का निर्भीक समर्थन हम रवीन्द्रनाथ मे पाते हैं। रवीन्द्रनाथ भी कला को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं, किन्तु, व्यक्तित्व से उनका आशय इकबाल के आशय से भिन्न है। इकबाल कला को सार्थकता उसकी उपयोगिता मे देखते हैं, किन्तु, रवीन्द्रनाथ का विचार है कि उपयोगिता मानव का पशु-धर्म है। जहाँ तक उपयोग की भूमि है, वहाँ तक मनुष्य और पशु मे कोई भेद नही है। पशु का स्वभाव है कि वह ऐसा कोई काम नही करता, जिसका उसकी जैव आवश्यकता के लिए महत्त्व नही हो। यदि मनुष्य भी चुन-चुनकर केवल उपयोगी कार्य ही करता रहे, तो वह भी केवल पशु-धर्म का पालन करेगा, और जब तक वह उपयोगी कार्यों मे लगा रहेगा, तब तक वह सच्चे अर्थों मे मानवीय व्यक्तित्व से हीन रहेगा। मनुष्य का मानवीय व्यक्तित्व तब आरम्भ होता है, जब वह ऐसे कार्य करने लगता है, जिनका जैव आवश्यकता की दृष्टि से कोई खास उपयोग नही है। गीत नही गाने से मनुष्य के कपड़े नहीं फटते। चित्र नही बनाने से मनुष्य पर सकट नही आते, न कविता और उपन्यास पढे बिना आदमी को भूखो मरना पड़ता है। कला की कोई भी क्रिया मनुष्य के जीवन-धारण के लिए अनिवार्य नहीं है। इसलिए कला ही मनुष्य को वह क्षेत्र प्रदान

कभी आत्मघातक भी हो सकती है।"

कला में शुद्धता के अति-आराधन से जीवन पर जो संकट आते हैं, उनकी ओर रवीन्द्रनाथ का ध्यान गया था। इसीलिए, उन्होंने इशारा किया है कि योद्धा अगर लड़ना छोड़कर अपने व्यक्तित्व के बनाव और सिंगार में खो गया, तो वह मारा जा सकता है। व्यक्तित्व की अति-आराधना से भी संकट उत्पन्न हो सकते हैं। और ये वे ही संकट हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर इकबाल ने हाफिज का विरोध किया है। इस्लाम के पतन का दायित्व इकबाल ने, अंशत, हाफिज-जैसे कवियों पर डाला है, जिनकी कविताएँ इतनी मनमोहक और मादक होती हैं कि हर आदमी उन्हें पढ़ना चाहता है और हर आदमी उन्हें पढ़कर निष्क्रिय बन बैठता है, संघर्ष-विमुख हो जाता है और समाज की पीड़ा को भूलकर अपनी पीड़ाओं को दुलराने लगता है। इसी प्रकार, भारतवर्ष के पतन का जिम्मा हम इस देश की निवृत्ति-प्रियता और शान्ति-आराधना पर डाल सकते हैं। और इस प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि हिटलर का सामना करने की शक्ति फ्रांस में इस कारण नहीं रही कि उस देश ने कला की बारीकियों का अभ्यास कुछ अधिक कर लिया था। और कला की निरुद्देश्यता, समाज-विमुखता और अतीन्द्रिय सौन्दर्य पर आसक्ति समाज को इस योग्य रहने नहीं देती कि वह बर्बर शक्तियों का सामना कर सके। सुसंस्कृति की सूक्ष्मता सबके लिए काम्य है। विपद केवल यह है कि लड़ाई में सुसंस्कृत लोग हार जाते हैं और जीत बर्बरों की होती है।

तब फिर करना क्या चाहिए? इकबाल और उनके समर्थक (जो कला के क्षेत्र में विशेषतः साम्यवादी होंगे) यह कहेंगे कि सौन्दर्य के अति-सत्कार की प्रथा को रोक दो। समाज की रक्षा और विकास के लिए जिस विचारधारा की आवश्यकता है, साहित्य को उसी का समर्थन करना चाहिए। साहित्य में सौन्दर्य केवल चाशनी है। उसकी लपेट में समाज को हमें कुनैन की गोलियाँ खिलानी हैं। जिस साहित्य का कोई उपयोग नहीं है, वह हमें बिलकुल नहीं चाहिए। शुद्ध कविता देवताओं की कविता हो सकती है, किन्तु, देवता होते हैं या नहीं, यह विषय संदिग्ध है। लेकिन, यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य केवल मनुष्य है और बुरी बात यह है कि वह पशु है। कविता हमें वही चाहिए, जो मनुष्य को, बल्कि, पशु को भी छू सके।

यदि सभी देशों के मनुष्य एक समान सूक्ष्म, परिमार्जित और शिष्ट रुचि के मनुष्य होते, तो दुनिया में लड़ाइयाँ नहीं होतीं, न कहीं राष्ट्रीयता का जोश उमड़ता। संभव है, तब समाज में पाप, दुर्बलता और कदाचार की समस्या भी इतना बड़ी नहीं होती कि हम शुद्ध कलाकारों से यह माँग करते कि वे शुद्धता को छोड़कर उपयोगिता और उद्देश्यवाद को स्वीकार करें। किन्तु, वह स्थिति आज तक कभी बनी नहीं, न आगे उसके अस्तित्व में आने की संभावना है। ऐसी अवस्था में उपाय

करती है, जिसमें वह अपने व्यक्तित्व का सच्चा विकास कर सकता है।

कला के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का विचार लगभग वही था, जिसका समर्थन अठारहवीं सदी में जर्मनी के दार्शनिक इमैनुअल काण्ट ने किया था। काण्ट ने सौन्दर्यबोध को नैतिकता, विज्ञान और उपयोगिता के क्षेत्र से बाहर गिना है। उनका तर्क यह है कि सौन्दर्यबोध की मनोदशा उपयोगिता, दैहिक सुख, यहाँ तक कि सत्य और शिव की अनुभूति से भी भिन्न होती है। सौन्दर्य बोधात्मक आनन्द ऐसे सन्तोष की स्थिति है, जिसका कोई लक्ष्य नहीं होता, जो तटस्थ, निष्प्रयोजन और निःस्वार्थ होता है। सौन्दर्य-बोध का आनन्द मधुमती भूमिका का आनन्द है। वह निर्विकल्प और निरुद्देश्य होता है। उस आनन्द के साथ किसी भी प्रकार की इच्छा, ध्येय अथवा उपयोगी दृष्टिकोण का हस्तक्षेप नहीं होता।

रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में उपयोगिता वह सीमा-रेखा है, जिसके इस पार रहने से मनुष्य पशु रहता है और उस पार जाने पर वह मनुष्य बनने लगता है। मनुष्य के व्यक्तित्व प्राप्त करने का अर्थ ही मनुष्य का मनुष्य बनना है, पशुओं से भिन्न होना है। इस भिन्नता की अभिव्यक्ति मनुष्य अनुपयोगी कार्य करके करता है, धर्म, रहस्यवाद, गीत, कविता, चित्रकारी और मूर्तिकारी को अपनाकर करता है, बाग बगीचे लगाकर और प्रसाधन की सामग्रियाँ उत्पन्न करके करता है।

मनुष्य पशु भी है और मनुष्य भी। अतएव, उसे दोनों योनियों के धर्म निभाने पड़ते हैं। यानी पशु के समान, वह जीवन-धारण के भी कार्य करता है और, मनुष्य के रूप में, वह कला की भी सृष्टि करता है। किन्तु, उपयोगिता ही वह रेखा है, जो मनुष्य के इन दोनों रूपों को विभक्त करती है।

अपने मत को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि माता, बहिन और सखी के रूप में स्त्रियों का उपयोग बहुत बड़ा है, किन्तु, यह उनका व्यक्तित्व नहीं है। "नारी का जो असली रूप है, वह उसकी सजधज की चित्रमयता तथा वाणी और गति की संगीतमयता में प्रकट होता है। नारी क्या है, इस जिज्ञासा का समाधान उसके उपयोगी होने में नहीं, उसकी आनन्दमयी मुद्राओं में मिलता है।"

इसी प्रकार, योद्धा का व्यक्तित्व उसके युद्ध-कौशल में नहीं होता। युद्ध तो आवश्यक कृत्य है। उसके भीतर से योद्धा के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना संभव नहीं होती। व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के लिए उसे वर्दी चाहिए, बाजे चाहिए और, कवायद की चाल में, मचक-मचक कर चलना चाहिए। योद्धा में जो योद्धा होने की तीव्र चेतना है, उसकी अभिव्यक्ति के बिना उसका व्यक्तित्व व्यंजित नहीं हो पाता, यद्यपि, इस चेतना की अभिव्यक्ति केवल अनावश्यक ही नहीं है, वह कभी-

कभी आत्मघातक भी हो सकती है।"

कला मे शुद्धता के अति आराधन से जीवन पर जो सकट आते हैं, उनकी ओर रवीन्द्रनाथ का ध्यान गया था। इसीलिए, उन्होंने इशारा किया है कि योद्धा अगर लडना छोडकर अपने व्यक्तित्व के बनाव और सिंगार मे खो गया तो वह मारा जा सकता है। व्यक्तित्व की अति आराधना से भी सकट उत्पन्न हो सकते हैं। और ये वे ही सकट है, जिन्हे ध्यान मे रखकर इकबाल ने हाफिज का विरोध किया है। इस्लाम के पतन का दायित्व इकबाल ने, अशत, हाफिज जैसे कवियो पर डाला है, जिनकी कविताएँ इतनी मनमोहक और मादक होती हैं कि हर आदमी उन्हें पढना चाहता है और हर आदमी उन्हे पढकर निष्क्रिय बन बैठता है, सघर्ष-विमुख हो जाता है और समाज की पीडा को भूलकर अपनी पीडाओ को दुलराने लगता है। इसी प्रकार, भारतवर्ष के पतन का जिम्मा हम इस देश की निवृत्ति-प्रियता और शान्ति आराधना पर डाल सकते है। और इस प्रसग मे यह भी कहा जा सकता है कि हिटलर का सामना करने की शक्ति फ्रास म इस कारण नही रही कि उस देश ने कला की बारीकियो का अभ्यास कुछ अधिक कर लिया था। और कला की निरुद्देश्यता, समाज विमुखता और अतीन्द्रिय सौन्दर्य पर आसक्ति समाज को इस योग्य रहने नही देती कि वह बर्बर शक्तियो का सामना कर सके। सुसस्कृति की सूक्ष्मता सबके लिए काम्य है। विपद केवल यह है कि लडाई मे सुसस्कृत लोग हार जाते है और जीत बर्बरो की होती है।

तब फिर करना क्या चाहिए ? इकबाल और उनक समर्थक (जो कला के क्षेत्र मे विशेषत साम्यवादी होगे) यह कहगे कि सौन्दय के अति सस्कार की प्रथा को रोक दो। समाज की रक्षा और विकास के लिए जिस विचारधारा को आवश्यकता है, साहित्य को उसी का समर्थन करना चाहिए। साहित्य म सौन्दर्य केवल चाशनी है। उसकी लपेट मे समाज को हम कुनैन की गोलियाँ खिलानी हैं। जिस साहित्य का कोई उपयोग नही है, वह हम बिलकुल नही चाहिए। शुद्ध कविता देवताओ की कविता हो सकती है, किन्तु, देवता होत हैं या नही, यह विषय सदिग्ध है। लेकिन, यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य केवल मनुष्य है और बुरी बात यह है कि वह पशु है। कविता हमे वही चाहिए, जो मनुष्य को, बल्कि, पशु को भी छज सके।

यदि सभी देशो के मनुष्य एक समान सूक्ष्म, परिमार्जित और शिष्ट रुचि के मनुष्य होते, तो दुनिया मे लडाइयाँ नही होती, न कही राष्ट्रीयता का जोश उम डता। सभव है, तब समाज म पाप, दुर्बलता और कदाचार की समस्या भी इतनी बडी नही होती कि हम शुद्ध कलाकारो से यह माँग करते कि वे शुद्धता को छोडकर उपयोगिता और उद्देश्यवाद को स्वीकार करें। किन्तु, वह स्थिति आज तक कभी बनी नही, न आगे उसके अस्तित्व मे आने की सभावना है। ऐसी अवस्था म उपाय

यही है कि मनुष्य शरीर से योद्धा और मन से साधु बनने का प्रयास करे। फिर शारीरिक संकटो का सामना लोग शरीर से करेंगे और मन निरुद्देश्य आनन्द मे मस्त रहेगा। 'साधु बर्बर' की कल्पना मनुष्य के सामने बहुत दिनो से टँगी रही है। रवीन्द्रनाथ ने भी उसे यह कहकर दुहराया है कि आदर्श मनुष्य वह है, जो शरीर से बर्बर और मन से देवता है। जब तक ऐसे आदर्श मनुष्यो की संख्या संसार मे यथेष्ट नही हो जाती, कला, विज्ञान और राजनीति की सबसे बड़ी समस्याओ का समाधान नही मिलेगा।

अंगरेजी के आलोचक हर्बर्ट रीड ने व्यक्तित्व की समस्या पर विचार एक अन्य दृष्टि से किया है। मनोविज्ञान के अनुसार हमारा मानसिक जीवन दो भागो मे विभक्त है। हमारे मन का जो भाग ऊपर है, उसे चेतन कहते हैं और जो भाग नीचे दबा है, उसे अचेतन कहते हैं। अचेतन मन के भी दो भाग है। एक वह, जो चेतन बनाया जा सकता है और दूसरा वह, जिसे चेतन बनाना दुष्कर कार्य है। किन्तु, अचेतन के इन दोनो स्तरो की ऊर्मियाँ उठकर बुद्धि को धक्के देती रहती है और बुद्धि अक्सर उन्ही अदृश्य आवेगो के अनुसार काम करती है।

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर उसकी मानसिक प्रक्रिया का एक सुसम्बद्ध, संगठित रूप होता है, जिसे 'ईगो' या अहं कहते हैं। यही अहं व्यक्तित्व का बीज है। हमारे भीतर भावनाओ और विचारो का जो चेतन प्रवाह चलता है, बाहरी वस्तुओ की हमारे मन पर जो छाप पडती है, सनसनाहटो और अनुभवो के जो प्रभाव पहुँचते हैं, वे सबके सब हमारे अहं का निर्माण करते हैं। यह अहं ही व्यक्तित्व को रूप देता है। जहाँ तक हमारी अचेतन वासनाओ का सम्बन्ध है, हमारा अहं इन वासनाओ का उपभोग नही करता, वे वासनाएँ ही अहं का उपभोग करती हैं अर्थात् वासनाएँ अहं के वश मे नही होती, हमारा अहं ही वासनाओं की लहरो पर उठता-गिरता रहता है। अतृप्त कामनाओं का दलन थोडा-बहुत सभी लोग करते हैं। तब भी व्यक्तित्व-शाली मनुष्य वह है, जिसमे दलन की यह क्रिया बहुत थोडी होती है। जो व्यक्ति कामनाओं का दलन कुछ अधिक दूर तक करता है, उसका व्यक्तित्व व्यक्तित्व न रहकर चरित्र बन जाता है।

व्यक्तित्व उस मनुष्य मे उजागर होता है, जो सहज रूप से धारा मे तैर रहा है। जो आदमी पानी के बीच चट्टान देखकर तैरना छोड़कर वहाँ बैठ गया, उसने मानो, व्यक्तित्व गँवा कर चरित्र का वरण कर लिया है। बाढ का पानी जब तक स्वतन्त्र है आदमी तभी तक व्यक्तित्ववान् है। जब वह पानी घाटो मे बँध गया, तब व्यक्तित्व व्यक्तित्व नही रहता, वह चरित्र बन जाता है। जब तक हम चेतना के प्रवाह पर प्रयासपूर्वक कोई रोक नही लगाते, हमारा व्यक्तित्व कायम रहता है। किन्तु, जभी हम अपनी कामनाओ को दबा कर चेतना को एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ देते हैं, हमारा व्यक्तित्व दबने लगता है और हम व्यक्तित्व से हट

कर चरित्र की ओर चलने लगते है।

इस दृष्टि से भारत का सहजिया-सम्प्रदाय व्यक्तित्ववादियो का सम्प्रदाय था। और चरित्रवादियो का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हम हठयोगियो को मानेंगे, जिनकी साधना शारीरिक क्रियाओ द्वारा मन को उस दिशा से अलग ले जाने की साधना है, जिस दिशा की ओर मन सहज रूप से जाना चाहता है। बोदलेयर ने कहा था कि पाप मनुष्य के लिए स्वाभाविक और पुण्य अस्वाभाविक कर्म है। पुण्य मनुष्य को सोच-समझकर करना पड़ता है, किन्तु, पाप उससे अनायास हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर पाप की सम्भावना व्यक्तित्व मे दिखायी देती है, क्योकि व्यक्तित्व चेतना के स्वाभाविक प्रवाह मे बाधा नही डालता। लेकिन, पुण्य के सायास कार्य चरित्र के कार्य हैं, क्योकि चरित्र के पास बने-बनाये नियम होते हैं, जो यह बतलाते रहते हैं कि यह दिशा पाप की दिशा है, अतएव चेतना को कोडे मार कर उस दिशा मे जाने से रोक रखो। और यह दिशा पुण्य की है, अतएव, चेतना को कोडे मार कर उस दिशा की ओर हांकना पुण्य का कार्य है।

किन्तु, व्यक्तित्व केवल पाप ही करता है, यह नही कहा जा सकता। चेतना पाप की ओर भी चलती है और वह पुण्य की ओर भी दौडना चाहती है। इसीलिए, व्यक्तित्वशाली मनुष्यो मे हम जहां नैतिक स्खलनो के छोटे-मोटे उदाहरण देखते हैं, वही ऐसे मनुष्य बलिदान, त्याग और परार्थ कष्ट-सहन के भी बडे-बडे कार्य करते हैं। समाज मे नैतिक युगान्तर लाने के कार्य व्यक्तित्वशाली लोग भी करते हैं। सामान्य नियम यह है कि चरित्रवान् व्यक्ति समाज की प्रचलित मान्यताओ का साथ देते हैं और व्यक्तित्वशाली लोग इन मान्यताओ को बदलना चाहते हैं। इस सघर्ष का जो अन्तिम परिणाम निकलता है, वही समाज की नैतिक प्रगति समझी जाती है।

रागों से भय मान कर उनके सहज प्रवाह को चेष्टापूर्वक रोकने का प्रयास व्यक्तित्व को तोडता और चरित्र का निर्माण करता है। इसी प्रकार, अपने मन को वैराग्य की ओर जबर्दस्ती हांकने का प्रयास चरित्र के अर्जन का प्रयास है। मनुष्य जब तक व्यक्तित्वशाली है, वह चेतना के सहज प्रवाह मे रुकावट नही डालता। वह न तो पुण्य की ओर जाने को अपनी चेतना का जबर्दस्ती प्रसार करता है, न सौन्दर्य की ओर बढने से अपनी चेतना को इस भय से रोकता है कि जहां सौन्दर्य है, वहां पाप भी अवश्य होगा। विधि और निषेध, दोनो चेतना को क्षुभित करते हैं और चेतना जब क्षुब्ध हो जाती है, वह सहज नही रहती।

परिवेश से भय मान कर चेतना कभी तो घोंघे की तरह अपने आपके भीतर सिकुडने लगती है और कभी अलभ्य को प्राप्त करने के लिए वह जबर्दस्ती अपना विस्तार करती है। चेतना का सकोचन और आस्फालन, व्यक्तित्व के

लिए दोनो अहितकर है। व्यक्तित्व हमारा तभी तक अक्षुण्ण है, जब तक हमारी चेतना का प्रवाह सहज-स्वाभाविक रूप से चल रहा है (उर्वशी काव्य मे व्यक्तित्व का पक्ष उर्वशी लेती है। पुरूरवा वह व्यक्ति है, जो व्यक्तित्व छोड़कर चरित्र पाना चाहता है। उर्वशी जब पुरूरवा से यह कहती है कि—

> राग-विराग दुष्ट दोनो, दोनो निसर्ग-द्रोही हैं।
> एक चेतना को अजुष्ट सकोचन सिखलाता है;
> और दूसरा प्रिय, अभीप्ट सुख की अभिप्रेत दिशा मे
> कहता है बल-सहित भावना को प्रसरित होने को।
> दोनो विषम, शान्ति-समता के दोनों ही बाधक हैं,
> दोनो से निश्चित चेतना को अभय बहने दो।
> करने दो सब काम उसे निर्लिप्त सभी से होकर,
> लोभ, भीति, सघर्ष और यम, नियम, सयमों से भी।
>
> (उर्वशी; तृतीय अंक)

तब उसका अभिप्राय यही है कि चेतना का सहज प्रवाह ही उचित है। उसे जबर्दस्ती सिकोड़ने या फैलाने से व्यक्तित्व का ह्रास होता है।

(चरित्र को अगरेजी मे 'कैरेक्टर' कहते हैं। कैरेक्टर शब्द ग्रीक भाषा की जिस धातु से निकला है, उसका अर्थ खुदा हुआ निशान होता है। और चरित्रवान् लोग, सचमुच, वे हैं, जिनके विचार पत्थर पर खुदे होते हैं, जिनमे दृढ़ता होती है, विश्वसनीयता होती है और आत्मविरोध का अभाव होता है। स्पष्ट ही, ये गुण चेतना की अनेक प्रवृत्तियो को दबाकर प्राप्त किये जाते हैं। (व्यक्तित्व-शाली मनुष्य सभी प्रकार के विचारो के लिए अपना दरवाजा हमेशा खुला रखता है। चरित्रवान् वह है, जिसने विरोधी मतो के लिए अपना द्वार हमेशा के लिए बन्द कर लिया है। चरित्र नये अनुभवो के विरुद्ध पत्थर का प्राचीर है। जिसने चरित्र प्राप्त कर लिया, उसने मजबूत खूंटे से अपने को बांध लिया है। अब उसे नैतिक और आध्यात्मिक अनुभव सिर्फ एक ही प्रकार के मिलेंगे।

चरित्रवान् व्यक्ति पर भावनाओं का कोई प्रभाव नहीं होता। जो दृढ़ और चारक होते हैं, वे भावनाओं को अपने ऊपर छाने नहीं देते। उनकी दृष्टि में जो भावनाएँ पुण्यमयी हैं, उन्हीं का वे स्वागत करते हैं। बाकी भावनाओं को दबा कर वे अचेतन के भीतर ढकेल देते हैं। फ्रायड के अनुसार भावनाओं का दमन दारिद्र्य लाता है। उससे मन के भीतर दूषित ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु, संसार भर में धर्म के जो भी नेता हुए हैं, उन्हें अपने मार्ग पर आगे बढ़ने की शक्ति भावनाओं के दमन से ही प्राप्त हुई थी।

(किन्तु, संसार के अधिकांश कवि चरित्र नहीं, व्यक्तित्व के पुजारी होते हैं। क्योंकि जिसने चरित्र की कठोरता धारण कर ली, उसने अनुभवों के सभी राज-

यन बन्द कर दिये हैं। ऐसा क्यो होता है कि अनेक कवि जवानी मे तो बहुत अच्छी कविताएँ लिखते हैं, किन्तु, प्रौढ़ होते-होते वे बिलकुल सूख जाते हैं और उनकी रचनाएँ नीरस होने लगती हैं? इसका कुछ कारण तो आलस्य और अभ्यासहीनता है। किन्तु, अधिक सबल कारण यह है कि जवानी मे उनकी आसक्ति व्यक्तित्व पर होती है, किन्तु प्रौढ होते-होते वे किसी एक विचार से अपने को बाँध लेते हैं। अर्थात व्यक्तित्व को छोड़कर वे चरित्र का वरण कर लेते हैं। कहावत प्रसिद्ध है कि सरस्वती की जवानी कविता होती है। दर्शन उसके बुढापे का नाम है।

हर्बर्ट रीड ने लिखा है कि चरित्र का आदमी विचारधारा का आदमी होता है, वह प्रायः कर्मभूमि का मनुष्य होता है। किन्तु, कलाकार और कर्मी के बीच कोई मौलिक भेद है। इसीलिए, कलाकार जब कर्म की ओर मुड़ता है, तब उसका व्यक्तित्व दब जाता है और उसकी रचनाओ मे सरसता की मात्रा न्यून होने लगती है। एक उम्र के बाद वर्डस्वर्थ की प्रतिभा सूख गयी थी। कारण यह था कि उन्होंने व्यक्तित्व को छोड़कर चरित्र का वरण कर लिया था। मिलटन जब कर्म की ओर मुडे यानी एक विचारधारा के साथ बँध गये, तब पच्चीस वर्षों तक वे कोई भी उल्लेखनीय काव्य नही लिख सके। पीछे जब उनका व्यक्तित्व फिर से उभरा, उन्होने एक दूसरे ढग की सत्कविताएँ लिखी। लेकिन, गेटे मे व्यक्तित्व और चरित्र, दोनो के लक्षण थे, यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा यही जायगा कि व्यक्तित्व उनका सच्चा था किन्तु, चरित्र नकली आवरण, जिसे उन्होने ऊपर से ओढ़ रखा था।

जो पुण्यवान्, तपस्वी और कर्मयोगी के रूप मे प्रसिद्धि चाहता है, उसे साहित्य की ओर प्राय नही आना चाहिए, क्योकि तपस्या हमेशा दिनचर्या के अनुसार जीने का उपदेश देती है। और दिनचर्या के अनुसार जीने से हमे अनुभव जीवन की एक ही दिशा का होता है। लेकिन, साहित्य तो वह कोमल सवेदनशील यन्त्र है, जिस पर सभी प्रकार की सिहरना के निशान पड़ते है। राजनैतिक अथवा धार्मिक नियन्त्रण की चुभन जितनी साहित्यकार को महसूस होती है, उतनी और किसी को नही होती। कारण यह है कि साहित्य मनुष्यता के सभी प्रकार के अनुभवो के सम्पर्क मे रहने से ही सरस और ताजा रहता है। अगर साहित्य को कुछ ही अनुभवो तक जाने की छूट दी जाय और बाकी अनुभवो से वह काटकर अलग कर दिया जाय, तो वह साहित्य, निश्चित रूप से, नीरस और बेस्वाद हो जायेगा। जैन और बौद्ध सप्रदायो के कवियो ने सरस कविताएँ नही लिखी, क्योकि जीवन के सरस निकुजो तक जाने की छूट उन्ह प्राप्त नही थी। सभी धर्म चरित्र की साधना की शिक्षा देते है। व्यक्तित्व के मुक्त विकास को वे सहानुभूति से नही देखते। विशेषत योग मत मे तथा जैन, बौद्ध और आर्य-समाजी विचारधाराओ मे धर्म की यह नीरसता अथवा पवित्रतावाद बहुत दूर तक विकसित हुआ।

अतएव, इन मतो के कट्टर अनुयायी अच्छे कवि नही हो सके।

चरित्र एकान्तवादी और व्यक्तित्व अनेकान्तवादी होता है। चरित्र उसे प्राप्त होता है, जो चलते-चलते किसी मजिल पर पहुँच गया है, प्रचलित व्याख्याओ मे से किसी एक व्याख्या को जिसने स्वीकार कर लिया है। किन्तु, व्यक्तित्व मजिलो म विश्वास नही करता। वह केवल चलता रहता है, केवल तैरता रहता है और मजिल पास आ भी गयी, तो वह वहाँ ठहरता नही, उससे आगे बढ जाता है।

मेरी जिन्दगी एक मुसलसल सफर है,
जो मजिल पै पहुँचा तो मजिल बढा दी।

—पृथ्वीराज कपूर

हिन्दी के सभी भक्त कवि चरित्रवान् थे, किन्तु, उनमे से वे लोग व्यक्तित्ववान् भी थे, जिन्होने यह घोषणा की कि भक्ति हम इसलिए नही करते हैं कि उससे हमे मुक्ति मिलेगी, बल्कि, इसलिए कि भक्ति हमारी आनन्द की साधना है, वह अपने आप म सबसे बडा पुरस्कार है।

देवा, तेरो भक्ति न छाडौं, मुक्ति न मांगौं,
तव जस सुनौं, सुनावौं।
राता-माता प्रेम का, पीया प्रेम अघाय,
मतवाला दीदार का, मांगै मुक्ति बलाय।
अस विचारि हरि भगत सयाने,
मुकुति निरादरि भगति लोभाने।

चरित्र किसी परिभाषा के अनुसार कठोरता के साथ जीने की कला को कहते हैं। किन्तु, व्यक्तित्व उस व्यक्ति मे दिखायी देता है, जिसे कोई भी परिभाषा इस हद तक स्वीकार नही है कि अपने जीवन को वह उसी के अनुसार नियन्त्रित कर सके। चरित्रवान् वह है, जो किसी भी शका अथवा विरोधी भाव को अपने पास फटकने नही देता। व्यक्तित्वशाली वह है, जो शकाओ को अपने चारो ओर मँडराने की छूट देता है। चरित्रवान् जिस रास्ते से चलता है, उसे पूर्ण रूप से सत्य मानता है। व्यक्तित्ववान् को कभी भी यह विश्वास नही होता कि उसी की राह सत्य की एकमात्र राह है।

किन्तु, यह नही समझना चाहिए कि चरित्रवान् की मानसिक प्रक्रिया, सगठित और व्यक्तित्ववान् की असगठित होती है। मानसिक प्रक्रिया, दोनो की सुसगठित होती है, किन्तु, दोनो मे भेद यह होता है कि व्यक्तित्ववान् की मानसिक प्रकिया प्रकृति के सहज नियमो से परिचालित और सगठित होती है, किन्तु, चरित्रवान् मे यह सगठन बुद्धि के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

साहित्य मे जो भी व्यक्ति सोद्देश्यता अर्थात् कर्म की ओर झुकता है, वह, असल मे, चरित्र की ही ओर झुक रहा है। और जो लोग चाहते हैं कि लेखक और

कवि किसी एक विचारधारा के दास बन जायें, वे कलाकारों से व्यक्तित्व का हरण करके उनके ऊपर अपनी पसन्द का चरित्र थोपना चाहते हैं।

चरित्र कर्म है, व्यक्तित्व चिंतन है। चरित्र की कठोरता साहित्य में क्लासिक शैली को जन्म देती है। व्यक्तित्व की उद्दामता से रोमांटिक शैली का आविर्भाव होता है। साहित्य की आधुनिक समस्या यह है कि लेखक शैली तो चरित्र की अपनाना चाहते हैं, किन्तु, उद्दामता उन्हें व्यक्तित्व की चाहिए।

कला का संन्यास

साहित्य में शुद्धता बोध का आरभ इस विन्दु से हुआ था कि साहित्य केवल आनन्द का माध्यम है, उसे देश, धर्म या समाज की सेवा का माध्यम नहीं बनना चाहिए। किन्तु, बीसवी सदी के आरभ के साथ साहित्य के भीतर एक सर्वथा नवीन मनोदशा भलक मारने लगी, जो यह बतलाती थी कि साहित्यकार का धर्म ससार की सभी जिम्मेवारियो से अलग रहकर अपनी स्वतत्रता को अक्षुण्ण रखना है। सभ्यता के किसी भी मूल्य का समर्थन करना गलत मूल्य का समर्थन है, क्योकि सभ्यता के सारे मूल्य खोखले हो चुके हैं। मनुष्य विरासत नही, योजना है। वह अतीत का बोझ ढोने को नही, भविष्य के निर्माण के लिए जन्म लेता है। सभ्यता के साथ व्यक्ति के जो भी एकरारनामे हैं, उनका आधार अतीत है। इन एकरारनामो को फाडकर मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध चिंतन एव बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के साथ वह अपना मूल्य आप तैयार करे।

तदनुसार मनीषियो ने ससार की सभी जिम्मेवारियो को कधे से फेंक कर एव सभी मूल्यो से अपने को मुक्त करके अन्तर्दृष्टिपूर्वक अपना अध्ययन आप करना आरभ किया। किन्तु, इस अध्ययन के पश्चात् उन्हे भासित यह हुआ कि मूल्यो के तिरस्कार एव दायित्वो के त्याग से व्यक्ति अपनी स्वतत्रता का अनुभव तो करता है, किन्तु उसे यह पता नही चलता कि इस स्वतत्रता का उपयोग किस ध्येय के लिए किया जाय, न उसे यही ज्ञात होता है कि सस्कारो से छूटा हुआ प्राणी किस नये सस्कार की कल्पना करे। सभी सस्कारो एव सभी मूल्यो के तिरस्कार से मनुष्य अकेला और नि सग हो जाता है, क्योकि तब बाहर कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह जाता, जिसे वह अपना आत्म बधु कह सके, न भीतर कोई आस्था रह जाती है, जिससे वह मार्गदर्शन ले सके, जिसका सहारा लेकर वह अपनी मन की दुनिया में पाँव गडा कर अड सके।

एक प्रकार की नि सगता वह है, जो आधुनिकता के प्रसार के साथ बढती जा रही है। इस नि सगता के शिकार वे लोग होते हैं, जो महानगरो मे रहते हैं। महानगरो का जीवन कर्म-सकुल और व्यस्त होता है तथा हर सफल आदमी को नगरों मे प्रति दिन बहुत लोगो से मिलना पडता है। किन्तु, महानगरो का जीवन इतना कृत्रिम होता है कि वहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ हार्दिक सबध स्थापित

नहीं कर पाता। प्राय सभी लोग एक दूसरे के साथ सतह पर मिल कर अलग हो जाते हैं। यह आधुनिकता का शाप है और इसी नि सगता के प्रसार के कारण महानगरो मे पागलो की सख्या बढने लगी है, उन्निद्रा का रोग फैलने लगा है और आत्महत्या की प्रवृत्ति मे भी वृद्धि होने लगी है। किन्तु, आधुनिक मनीषी की नि सगता इससे कहीं प्रखर वेदना है। नि सग मनीषी का अकेलापन उस व्यक्ति का अकेलापन है, जिसे ईश्वर मे विश्वास नहीं है, धर्म मे जिसकी आस्था नही है और सभ्यता के सभी मूल्यो को जो शका की दृष्टि से देखता है। जब कही भी कोई आधार न रहे, तब मनुष्य नि सग होने के सिवा और हो क्या सकता है?

अकेलेपन की इस व्यथा का चित्रण आन्द्रे जीद मे आरभ हुआ था और पिरेनडेलो, जूलियन ग्रीन, मालरो, अलबेयर कामू और जा पाल सार्त्र मे वह अधिकाधिक विकास पाता रहा है। भारतीय लेखको का ध्यान इस दर्द की ओर अभी हाल मे गया है। अज्ञेय जी का 'अपने अपने अजनबी' इसी अकेलेपन के दर्द का उपन्यास है। कैलास बाजपेयी जी की बहुत-सी कविताएँ इसी दर्द की कविताएँ हैं। आशा यह की जाती है कि जब यूरोप के साहित्यकार इस दर्द से निकलकर किसी नयी भूमि मे प्रवेश करेंगे, उस समय भारत के साहित्यकार इस अकेलेपन के दर्द से छटपटाते रहेंगे, क्योंकि यूरोप की छोडी हुई चीज को भी हम तब तक नही छोडते, जब तक उसकी एक आजमाइश, अपने ढग पर, न कर लें। यूरोप का हर अतीत एशिया मे वर्त्तमान बनता है, कही यह नियम झूठा न हो जाय, इसलिए हमे यूरोप के हर गुजरे अतीत को अपने घर में वर्त्तमान बना कर देखना ही चाहिए।

लेखको के भीतर दायित्व-विसर्जन की यह प्रवृत्ति क्यो उत्पन्न हुई, यह गभीर चिंतन का विषय समझा जाना चाहिए। क्या यह उस बिगडे हुए बेटे की मनोवृत्ति है, जो माँ-बाप से नाराज होने के कारण यह कहता है कि घर मे आग लगी है, तो उसे वे लोग बुझायें, जिनका इस घर पर अधिकार है? जब घर मेरा है ही नहीं, तो मैं आग क्यो बुझाऊँगा? अथवा यह उस आध्यात्मिक साधक की मनोवृत्ति है, जो ससार के सभी सबधो से छूट कर अपने अरूप आदर्श के साथ एकतान होना चाहता है?

भारत मे धर्म की साधना जब अपने अति विकास पर पहुँची थी, तब साधारणत सभी साधक अकर्मण्य हो गये थे। गीता ने उपदेश तो फलासक्ति के त्याग का दिया था, किन्तु साधको ने कर्मन्यास का अर्थ फलासक्ति का त्याग नही, कर्म मात्र का त्याग लगा लिया। इसीलिए भारत मे धर्म पलायनवादी हो गया और तत्परिणामस्वरूप भारतीयो ने अपनी स्वतत्रता और वैभव, दोनो गँवा दिये। निवृत्ति से जीवन का पतन और प्रवृत्ति से उसका उत्थान होता है। भारत ने निवृत्ति छोड कर जब प्रवृत्ति का मार्ग पकडा, वह फिर से स्वाधीन हो

गया। किन्तु, ससार के जिस भाग से प्रवृत्ति की शिक्षा भारत पहुँची थी, अब वही से कला की अकर्मण्यता का सदेश विकीर्ण हो रहा है।

अध्यात्म और कला के सन्यासियो के बीच एक साम्य प्रत्यक्ष दिखायी देता है और वह यह कि दोनो समार से छुट्टी ले कर अपने ध्येय की साधना करना चाहते हैं—साधक परमात्मा के साथ अपने रहस्य-मिलन की अनुभूति की और कलाकार अपनी मन स्थितियो के विशुद्ध वर्णन की[१]।"

और दोनो अपनी स्वतन्त्रता सब कुछ को छोड़कर ही प्राप्त करते हैं। किन्तु, उनके त्याग दो प्रकार के होते हैं। साधक की दृष्टि यह होती है कि जब तक हम इन्द्रियो, मानवो और वस्तुओ मे आसक्त हैं, तब तक हम स्वाधीन नहीं हैं और जहाँ-जहाँ हमारी आसक्ति है, वही वहीं हमारी पराधीनता है। जो व्यक्ति अपनी आसक्ति के सारे बधन खोल लेने मे समर्थ हो जाता है, वही सिद्ध है, वही स्वतत्र है और विश्व-प्रपच की लपटें उसी व्यक्ति को नही व्यापती हैं।

किन्तु, आधुनिक कलाकार जिस स्वतन्त्रता की कामना करते हैं, वह आध्यात्मिक साधक की स्वतन्त्रता नही है न उनका त्याग आध्यात्मिक साधक का त्याग है। कीर्त्ति की कामना अध्यात्म-साधना मे दूषित मानी जाती है, किन्तु, साहित्य-शास्त्र मे वह साहित्य का एक प्रयोजन समझी जाती थी। और अब, गरचे, ऐसे साहित्यकार हैं, जो यह कहते फिरते हैं कि मैं पराजित हूँ, मैं अभिनेता नही, ईमानदारी से अपने आपको समझने वाला कलाकार हूँ, मुझे कीर्त्ति नही, केवल अभिव्यक्ति की सफाई की तलाश है; किन्तु, यह खट्टे अगूर के त्याग का उदाहरण है अथवा सच्ची विनम्रता का, इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन कार्य है। फिर यह बात भी है कि आध्यात्मिक साधक की स्वतत्रता इन्द्रिय-जय का परिणाम होती है। किन्तु, कलाकार स्वतन्त्रता इसलिए चाहते हैं कि उनकी सवेदनाओ और अनुभूतियो का क्षेत्र खूब विस्तीर्ण हो सके। साधक की बाधा इन्द्रियासक्ति है, कलाकारो की बाधा वे मूल्य हैं, जो इन्द्रिय-तर्पण मे बाधा डालते हैं। आध्यात्मिक साधना चरित्र की साधना है, कला की साधना की मूल प्रेरणा व्यक्तित्व है। जब तक व्यक्तित्व प्रसरणशील है, तभी तक कला मे ताजगी रहती है और चेतना के नये-नये वातायन खुलते रहते है। किन्तु, चरित्र के आते ही चीजें जम कर पत्थर और निर्जीव होने लगती हैं तथा सवेदना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

मनुष्य का पूरा अस्तित्व तीन धरातलों मे बाँटा जा सकता है। सबसे निचला

१. सार्त्र का एक पात्र कहता है, 'मेरा उद्देश्य लिखने के लिए लिखना नहीं है। मैं किन्हीं खास मन-स्थितियों को सफाई से समझने के लिए लिखता हूँ। साहित्य से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मनमें जो बात आती है, उसे शब्दों की ज्यादा तलाश किये बिना, मैं ज्यों का त्यों लिखना चाहता हूँ।"

धरातल हमारा जैव धरातल है, जिस पर साहित्य के नौ मूल भाव उत्पन्न होते हैं। इन मूल भावों मे से अनेक (जैसे रति, क्रोध, भय, घृणा आदि) मनुष्य मे भी होते हैं और पशु मे भी। उससे ऊपर बुद्धि का धरातल है और उससे भी ऊपर आत्मा का। जैसे जैव धरातल के परिमार्जन से कलाएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही बुद्धि के विकास से विज्ञान और आत्मिक अनुभूतियो से धर्म का जन्म होता है। परपरा से कला की खूबी यह मानी जाती थी कि वह जैव धरातल से उठकर आत्मा के धरातल तक पहुँच सके। इस कार्य मे बुद्धि की सहायता कला भी स्वीकार करती है, किन्तु, उसके सकेत बुद्धि के परे भी पहुँचते हैं। आत्मा का धरातल बुद्धि के स्तर से ऊपर पड़ता है। इसीलिए, धर्म का जन्म सबुद्धि की कोध मे होता है, उन प्रश्नो के कोलाहल मे होता है, जिनके उत्तर विज्ञान के पास नही हैं। किन्तु, जन्म लेने के बाद धर्म की सार्थकता यह हो जाती है कि वह आत्मा के धरातल से नीचे भी उतरे और हमारी जैव उत्तेजनाओ को प्रभावित करे।

धर्म की चरम अभिव्यक्ति आचरणो की पवित्रता मे देखी जाती है। धर्म केवल रहस्यवाद मे नही उलझता, वह आचरण के सिद्धान्त भी सिखाता है। इसीलिए, धर्म व्यक्तित्व को दबाकर चरित्र का निर्माण करता है। इसीलिए, जो धर्म जितने ही अधिक कठोर नियमन मे विश्वास करता है, वह उतना ही कवित्वहीन भी होता है। कृच्छ्र साधना और वैराग्य मे विश्वास करने वाला व्यक्ति वैसा कवि नही हो सकता, जिसे हम सरस अथवा प्राणवान् कहते है। जब तक जीवशास्त्र और मनोविज्ञान का आविर्भाव नही हुआ था, कवि और वैरागी के बीच भेद तब भी था। किन्तु, जब से इन शास्त्रो के अनुसधान ने यह बताना आरभ किया कि नैतिकता के नियम ईश्वरीय नही हैं, वे परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहते हैं, तब से आदमी अपने स्खलनो के प्रति उदार हो गया है और तत्परिणामस्वरूप कवि और वैरागी के बीच की दूरी काफी बड़ी हो गयी है।

धर्म के अनादर का सामान्य कारण विज्ञान का उत्थान समझा जाता है, किन्तु, कला के क्षेत्र मे इसका अधिक प्रबल कारण चरित्र की उपेक्षा और व्यक्तित्व का मोह है। जब से नैतिकता का स्थान सौन्दर्यबोध ने और मरणोत्तर अमरत्व का स्थान कीर्त्ति कामना ने ले लिया, तब से कलाकार के व्यक्तित्व का प्रसार कुछ ज्यादा आसान हो गया है। साहित्य मे धर्म का अनादर इसलिए नही हुआ कि आदमी को वह रहस्यवाद की ओर प्रेरित करता है, बल्कि, इसलिए कि मनुष्य पर वह अकुश लगाता है, उसके आवेगो को नियन्त्रित करता है, उसके व्यक्तित्व को दबाकर उसे बँधे घाटो मे कैद रखना चाहता है। किन्तु, यह युग चरित्र नही, व्यक्तित्व का है। आदमी आज बँध कर रहना नहीं चाहता, वह उन्मुक्त प्रवाह मे अहर्निश बहना चाहता है। युगो से मनुष्य ने जो अनुभूति अर्जित की, बार-बार के अनुभवो से उसने जिस विवेक (कान्सेंस) को रूप दिया, वे सारे अनुभ-

गया। किन्तु, ससार के जिस भाग से प्रवृत्ति की शिक्षा भारत पहुँची थी, अब वही से कला की अकर्मण्यता का सदेश विकीर्ण हो रहा है।

अध्यात्म और कला के सन्यासियो के बीच एक साम्य प्रत्यक्ष दिखायी देता है और वह यह कि दोनो ससार से छुट्टी ले कर अपने ध्येय की साधना करना चाहते है—साधक परमात्मा के साथ अपने रहस्य-मिलन की अनुभूति की और कलाकार अपनी मन स्थितियो के विशुद्ध वर्णन की[1]।"

और दोनो अपनी स्वतन्त्रता सब कुछ को छोड़ कर ही प्राप्त करते हैं। किन्तु, उनके त्याग दो प्रकार के होते हैं। साधक की दृष्टि यह होती है कि जब तक हम इन्द्रियो, मानवो और वस्तुओं में आसक्त हैं, तब तक हम स्वाधीन नहीं हैं और जहाँ-जहाँ हमारी आसक्ति है, वही वहीं हमारी पराधीनता है। जो व्यक्ति अपनी आसक्ति के सारे बधन खोल लेने मे समर्थ हो जाता है, वही सिद्ध है, वही स्वतन्त्र है और विश्व-प्रपच की लपटें उसी व्यक्ति को नही व्यापती हैं।

किन्तु, आधुनिक कलाकार जिस स्वतन्त्रता की कामना करते हैं, वह आध्यात्मिक साधक की स्वतन्त्रता नही है न उनका त्याग आध्यात्मिक साधक का त्याग है। कीर्त्ति की कामना अध्यात्म-साधना मे दूषित मानी जाती है, किन्तु, साहित्य-शास्त्र मे वह साहित्य का एक प्रयोजन समझी जाती थी। और अब, गरचे, ऐसे साहित्यकार हैं, जो यह कहते फिरते हैं कि मैं पराजित हूँ, मैं अभिनेता नही, ईमानदारी से अपने आपको समझने वाला कलाकार हूँ, मुझे कीर्त्ति नही, केवल अभिव्यक्ति की सफाई की तलाश है; किन्तु, यह खट्टे अगूर के त्याग का उदाहरण है अथवा सच्ची विनम्रता का, इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन कार्य है। फिर यह बात भी है कि आध्यात्मिक साधक की स्वतन्त्रता इन्द्रिय-जय का परिणाम होती है। किन्तु, कलाकार स्वतन्त्रता इसलिए चाहते हैं कि उनकी सवेदनाओ और अनुभूतियो का क्षेत्र खूब विस्तीर्ण हो सके। साधक की बाधा इन्द्रियासक्ति है, कलाकारो की बाधा वे मूल्य हैं, जो इन्द्रिय-तर्पण मे बाधा डालते हैं। आध्यात्मिक साधना चरित्र की साधना है, कला की साधना की मूल प्रेरणा व्यक्तित्व है। जब तक व्यक्तित्व प्रसरणशील है, तभी तक कला मे ताजगी रहती है और चेतना के नये-नये वातायन खुलते रहते हैं। किन्तु, चरित्र के आते ही चीजें जम कर पत्थर और निर्जीव होने लगती हैं तथा सवेदना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

मनुष्य का पूरा अस्तित्व तीन धरातलो मे बाँटा जा सकता है। सबसे निचला

[1] सार्त्र का एक पात्र कहता है, 'मेरा उद्देश्य लिखने के लिए लिखना नहीं है। मैं किन्हीं खास मन-स्थितियों को सफाई से समझने के लिए लिखता हूँ। साहित्य से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मनमें जो बात आती है, उसे शब्दों की ज्यादा तलाश किये बिना, मैं ज्यों का त्यों लिखना चाहता हूँ।"

धरातल हमारा जैव धरातल है, जिस पर साहित्य के नौ मूल भाव उत्पन्न होते हैं। इन मूल भावो मे से अनेक (जैसे रति, क्रोध, भय, घृणा आदि) मनुष्य मे भी होते हैं और पशु मे भी। उससे ऊपर बुद्धि का धरातल है और उससे भी ऊपर आत्मा का। जैसे जैव धरातल के परिमार्जन से कलाएँ उत्पन्न होती है, वैसे ही बुद्धि के विकास से विज्ञान और आत्मिक अनुभूतियो से धर्म का जन्म होता है। परपरा से कला की खूबी यह मानी जाती थी कि वह जैव धरातल से उठकर आत्मा के धरातल तक पहुँच सके। इस कार्य मे बुद्धि की सहायता कला भी स्वीकार करती है, किन्तु, उसके सकेत बुद्धि के परे भी पहुँचते हैं। आत्मा का धरातल बुद्धि के स्तर से ऊपर पडता है। इसीलिए, धर्म का जन्म सबुद्धि की कोध मे होता है, उन प्रश्नो के कोलाहल मे होता है, जिनके उत्तर विज्ञान के पास नही हैं। किन्तु, जन्म लेने के बाद धर्म की सार्थकता यह हो जाती है कि वह आत्मा के धरातल से नीचे भी उतरे और हमारी जैव उत्तेजनाओ को प्रभावित करे।

धर्म की चरम अभिव्यक्ति आचरणो की पवित्रता मे देखी जाती है। धर्म केवल रहस्यवाद मे नही उलझता, वह आचरण के सिद्धान्त भी सिखाता है। इसीलिए, धर्म व्यक्तित्व को दबाकर चरित्र का निर्माण करता है। इसीलिए, जो धर्म जितने ही अधिक कठोर नियन्त्रण मे विश्वास करता है, वह उतना ही कवित्वहीन भी होता है। कृच्छ्र साधना और वैराग्य मे विश्वास करने वाला व्यक्ति वैसा कवि नही हो सकता, जिसे हम सरस अथवा प्राणवान् कहते हैं। जब तक जीवशास्त्र और मनोविज्ञान का आविर्भाव नही हुआ था, कवि और वैरागी के बीच भेद तब भी था। किन्तु, जब से इन शास्त्रो के अनुसधान ने यह बताना आरभ किया कि नैतिकता के नियम ईश्वरीय नही हैं, वे परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहते हैं, तब से आदमी अपने स्खलनो के प्रति उदार हो गया है और तत्परिणामस्वरूप कवि और वैरागी के बीच की दूरी काफी बडी हो गयी है।

धर्म के अनादर का सामान्य कारण विज्ञान का उत्थान समझा जाता है, किन्तु, कला के क्षेत्र मे इसका अधिक प्रबल कारण चरित्र की उपेक्षा और व्यक्तित्व का मोह है। जब से नैतिकता का स्थान सौन्दर्यबोध ने और मरणोत्तर अमरत्व का स्थान कीर्त्ति कामना ने ले लिया, तब से कलाकार के व्यक्तित्व का प्रसार कुछ ज्यादा आसान हो गया है। साहित्य मे धर्म का अनादर इसलिए नही हुआ कि आदमी को वह रहस्यवाद की ओर प्रेरित करता है, बल्कि, इसलिए कि मनुष्य पर वह अकुश लगाता है, उसके आवेगो को नियन्त्रित करता है, उसके व्यक्तित्व को दबाकर उसे बँधे घाटो मे कैद रखना चाहता है। किन्तु, यह युग चरित्र नही, व्यक्तित्व का है। आदमी आज बँध कर रहना नही चाहता, वह उन्मुक्त प्रवाह मे अहर्निश बहना चाहता है। युगो से मनुष्य ने जो अनुभूति अर्जित की, बार-बार के अनुभवो से उसने जिस विवेक (कान्सॅस) को रूप दिया, वे सारे अनुभव

अब नीरस और निरर्थक मालूम होते हैं। वह उनके घेरों को तोड़ कर नयी अनुभूतियां हासिल करना चाहता है, जरूरत हो तो चरित्र को गँवा कर भी व्यक्तित्व का विस्तार पाना चाहता है।

स्पष्ट ही, व्यक्तित्व के प्रसार में सबसे बड़ी बाधा पुराने मूल्य उपस्थित करते हैं, पुरानी नैतिकता उपस्थित करती है, वे रूढ़ियाँ उपस्थित करती हैं, जिनके आधार पर सभ्यता टिकी हुई है। ऐसी स्थिति में कवि को अगर पुराने मूल्य पसन्द न हों, तो उसे नये मूल्यों की सृष्टि करनी चाहिए, समाज के सामने उन नये मूल्यों का प्रस्ताव रखना चाहिए। किन्तु, नये मूल्य किसी को सूझते ही नहीं। अतएव, कलाकारों ने पुराने मूल्यों को चुनौती देने के बदले, उनसे रूठकर तटस्थ हो जाने की राह पकड़ ली है।

चूंकि यह सभ्यता पापण्डियों की सभ्यता है, चूंकि यह सभ्यता शक्तिशालियों के पाप पर पर्दा डालती है और धनियों के अपराध के बदले गरीबों को दण्ड देती है, इसलिए आधुनिक कलाकार इस सभ्यता के खिलाफ हैं, जो बहुत ही तर्कसंगत बात है। किन्तु, यह बात समझ में नहीं आती कि केवल रूठ जाने से, केवल अप्रतिबद्ध हो जाने से यह विकृत सभ्यता सुधर कैसे जायगी। रूठना और यह कहना कि हम इस सभ्यता के किसी भी मूल्य को स्वीकार नहीं करेंगे, सभ्यता की कठोर आलोचना तो जरूर है, किन्तु, केवल इतने से वह दुनिया वजूद में नहीं आ सकती, जिसकी कल्पना कवियों के मन में छिपी हुई है।

किन्तु, आधुनिक कलाकार मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की स्थापना की बात नहीं करते, सभ्यता को बदलकर नयी सभ्यता लाने की बात नहीं कहते। वे केवल यह दिखाकर रह जाते हैं कि यह सभ्यता उन्हें बिलकुल नापसन्द है और इस दुनिया के लोगों के बीच वे अजनबी बनकर जी रहे हैं। उनके जीवन की कोई सार्थकता नहीं है, उनके जीने का कोई औचित्य नहीं है। यह घूम-फिरकर उसी रोमांसवादी मनोदशा का प्रत्यावर्तन सा दीखता है, जिसके अधीन कविगण अपने को और लोगों से अधिक विलक्षण, अधिक सुकुमार और भिन्न समझते थे।

रोमांटिक मुद्रा के प्रभाव में आकर गालिब ने लिखा था—

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहां कोई न हो,
हमसखुन कोई न हो और हमजबां कोई न हो।
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइये तो नौहख्वां कोई न हो।

और आधुनिक बोध की परीशानियों से घबराकर सार्त्र का एक पात्र कहता है—

"मैं यहाँ से जाना चाहता हूँ। मैं किसी ऐसी जगह जाना चाहता हूँ जो मेरे अनुकूल हो, जहाँ की दुनिया में मैं फिट कर सकूँ। लेकिन, हाय,

मेरी जगह कही नही है। मैं कही का भी नही हूँ।"

—नौसिया

और सार्त्र के एक दूसरे पात्र से जुपिटर कहता है,

"घुसपैठिये ! इस दुनिया मे तेरे लिए जगह नही है। तू यहाँ उसी तरह घुस आया है, जैसे मांस मे कांटा घुस जाता है।"

—द फ्लाइज

नौसिया का नायक एक जगह और कहता है,

"मैं अकेला हूँ। सभी लोग जा चुके। अब वे अपने घरो पर अखबार पढ़ रहे होगे या रेडियो सुन रहे होगे। रविवार समाप्त हो रहा है। अजब नहीं कि सोमवार की बात सोचनी उन्होने आरभ कर दी हो। किन्तु, मेरे लिए रविवार और सोमवार, सब एक ही समान हैं। सभी दिन एक ढर्रे से आते हैं और वैसे ही निकल जाते हैं।"

आदमी सचमुच इतना अकेला होता है या नही, इसे हम संदिग्ध मानते हैं। लगता है, सार्त्र ने आदमी के अकेलेपन की कल्पना करने के लिए ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है। अथवा ऐसी भावना, पस्ती के समय, हम मे से प्रत्येक के भीतर उठती है। किन्तु, उसे हम देर तक ठहरने नही देते। या यह वह मानसिक रोग है, जिसका इलाज मनोविज्ञान के जानकार किया करते हैं। किन्तु, वह बात कौन-सी है, जो आदमी को इतना चिन्तित और विषण्ण रखती है ? वह कौन रहस्य है, जो अकेलेपन से ग्रस्त मनीषियो के हृदय मे तड़प रहा है और जिसका गाहक उन्हे सारे ससार मे कही नहीं मिलता ?

टॉलस्टॉय ने अपनी आत्मकथा (कनफेसन) मे लिखा है कि जब वे यूरोप घूमकर पहली बार लौटे, वे अपनी प्रसिद्धि से फूले हुए थे। किन्तु, शीघ्र ही उनके भीतर यह प्रश्न उठने लगा कि धन, ऐश्वर्य और कीर्ति पाकर मनुष्य को आखिर मिलता क्या है ? क्या ये चीजें मृत्यु को रोक सकती है ? मनुष्य जन्म क्यों लेता है ? वह किसलिए जीता है ? उसके जीवन की सार्थकता क्या है, औचित्य क्या है ? टॉलस्टॉय इन प्रश्नो पर बहुत दिनो तक विचार करते रहे और अन्त मे दिखायी उन्हे यह पडा कि जीवन की सार्थकता कर्म मे है। सबसे अच्छा आदमी किसान है, जो जिन्दगी की गहराइयो मे झाँककर विषण्ण होने के बदले, हर रोज डटकर शारीरिक श्रम करता है, और जब मृत्यु आती है, वह बिना घबराये हुए उसे स्वीकार कर लेता है। इसीलिए, टॉलस्टॉय ने किसान का जीवन स्वीकार कर लिया था।

टॉलस्टॉय की शकाएँ परम्परा के भीतर उठने वाली शंकाएँ थीं और उनका समाधान भी उन्हे लगभग परम्परा से ही प्राप्त हुआ था। किन्तु जब परम्परा टूट गयी, इन प्रश्नो के तीखेपन मे वृद्धि हो गयी। जब परम्पराएँ टूट गयीं, नैतिक

सिद्धान्तो की उस कठोर पद्धति का अभाव हो गया, जो जीवन की व्याख्या करती थी, जीवन को दिशा-निर्देश देती थी। जीवशास्त्र और मनोविज्ञान ज्यो-ज्यो मनुष्य को उसके नग्न रूप का दर्शन कराते गये, नैतिकता के सिद्धान्त त्यो-त्यो कुछ ज्यादा बेमानी होते गये। रोमासवादी युग तक मनुष्य निरन्तर-उन्नति के सिद्धान्त मे विश्वास करता था, इसलिए, उसके पास एक सहारा था, एक अवलम्ब था। किन्तु, अब वह अवलम्ब भी नष्ट हो गया। अब मनुष्य सोचता है कि हमारा जन्म नियति के किसी नियम के अधीन नही हुआ है, हम आकस्मिक घटनाएँ है। जैसे प्रकृति पशुओ और पेडो को बिना किसी उद्देश्य के उत्पन्न करती है, वैसे ही, वह मनुष्य को भी अकारण ही जन्म दे रही है।

परम्परा के बँधे-बँधाये, सुस्पष्ट सिद्धान्तो मे अविश्वास हो जाने के कारण मनुष्य ने अपने आपको उनसे तोडकर अलग कर लिया और इन सिद्धान्तो से टूटकर अलग हो जाने के कारण ही अब वह नि सग हो गया है। वह अपने जीवन की सार्थकता की सिद्धि खोजता है, किन्तु, सार्थकता उसे कही भी दिखायी नही देती। ससार मे आनन्द के साधन अनेक है, किन्तु, केवल आनन्द भोगकर, केवल खिलौनो से जी बहलाकर मर जाना यथेष्ट नही है। मनुष्य को कही न कही अडना भी चाहिए, किसी-न-किसी चिन्ह मे विश्वास भी करना चाहिए। आखिर, इस विश्व-ब्रह्माड के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? और जीवन को मार्गदर्शन देने वाले तथा मनुष्य को नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तो से मुक्ति पा लेने के बाद क्या मनुष्य सचमुच स्वाधीन हो गया? स्वाधीन वह भले ही हो गया हो, किन्तु, इससे उसकी कठिनाइयाँ घटी नहीं, बढकर बेशुमार हो गयी है। और सबसे बडी कठिनाई यह है कि जिन सिद्धान्तो के प्रचलन के कारण दायित्व निर्वाह मे पहले सुविधा होती थी, वे सिद्धान्त तो टूट गये, किन्तु, दायित्व माथे पर ज्यो-का-त्यो लदा हुआ है।

यही वह स्थिति है, जिसे पश्चिम के लेखक 'ऐंगिश', करुणा, नियति और 'एबसर्डिटी' कहकर व्यक्त करते हैं। यही वह स्थिति है, जिसे साहित्य मे उतारने के लिए लेखको ने ऐसे चरित्र निर्मित किये हैं, जिनके चारो ओर किसी भी क्षितिज का आभास नही मिलता, जो पात्र केवल बेचैनी का इजहार करते हैं और अपनी विपण्णता, असहायता और घोर अप्रसन्नता की छाप छोडकर हमसे विदा हो जाते हैं।

"मैं विश्व के साथ उतना ही सलग्न हूँ, जितना यह प्रकाश सलग्न है। मगर मैं पत्थर और पानी के ऊपर-ऊपर चलता हूँ। कोई चीज मुझे तल तक नहीं ले जा सकती, न मुझे किसी ठोस तत्त्व का स्पर्श करा सकती है। मैं अजनबी हूँ, ससार से निर्वासित, अतीत से निर्वासित, अपने आपसे निर्वासित।

स्वतन्त्रता निर्वासन है। मुझे स्वतन्त्र होकर जीने का दण्ड मिला है।"

—सार्त्र-कृत एक चरित्र

"मैं बनाया क्यो गया ? समय के पूर्व ही मैं बूढा हो गया हूँ, चूहे के समान काला और कुरूप हो गया हूँ। क्या मेरा निर्माण ईश्वर ने अपनी लीला के लिए किया था ?"

—जूलियन ग्रीन-कृत एक चरित्र

"मैं कही का भी नही हूँ। मेरे नही रहने से कोई मुझे याद नही करेगा। नीचे चलने वाली रेलमे भीड वैसी-की-वैसी ही है। रेस्तराँ अब भी खचाखच भरे हुए है। हर जगह मुड-ही-मुड दिखायी देते हैं और हर आदमी छोटी-छोटी बातो को लेकर उत्तेजित हो रहा है। मैं दुनिया से चुपके-से खिसक गया, मगर दुनिया अब भी भरी हुई है। सच्ची बात यह है कि मैं ससार के लिए अनिवार्य नही था।"

—सार्त्र-कृत द वाल

जिन्होने सभ्यता को रूटीन के रूप मे स्वीकार कर लिया है, उनके भीतर कोई बेचैनी नही उठती। वे दिन भर दफ्तरो मे काम करते है और रात मे क्लबो के मजे लेकर आनन्द से सो जाते हैं और उन्हे लगता है, वे पूरा जीवन जी रहे है। किन्तु, जो व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन के स्थान पर कृत्रिम, यान्त्रिक जीवन का वरण करके तृप्त नही होता, उसके भीतर प्रश्न उठते ही रहते हे और वह अनुत्तरित प्रश्नो के अरण्य मे भटकता हुआ कही भी शान्ति नही पाता है।

नये मनुष्य को नीत्से के मुख से यह सुनकर बडी खुशी हुई थी कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी। किन्तु, यह रहस्य अब खुला है कि ईश्वर की मृत्यु ईश्वर की मृत्यु नही, उन मूल्यो की मृत्यु थी, जो मनुष्य और ईश्वर के बीच सेतु बनाये हुए थे। नये आदमी की मुसीबत यह है कि वह न तो इस सेतु को फिर से बनाने को तैयार है, न वह इस सेतु के बिना शान्ति और आश्वासन पा सकता है।

एक अन्य दृष्टि से देखने पर यह भासित होता है कि यह स्थिति कर्म के त्याग से उत्पन्न हुई है, समाज से अपने को तटस्थ बनाने के कृत्रिम प्रयास से उत्पन्न हुई है। यह स्थिति सामाजिक और वैयक्तिक चेतनाओ के बीच खुदी हुई खाई का परिणाम है। यह निष्कर्म चिन्तन की उस लहर का निरर्थक रुदन है, जो ऐसे सवालो से उलझ रही है, जिनका जवाब न तो पहले मिला था, न कभी आगे मिलने वाला है। भले थे वे लोग, जो ससार को लीला समझकर सन्तुष्ट हो जाते थे। आधुनिक बोध से भूल यह हुई कि उसने ससार को रहस्य मान लिया। मगर, रहस्य-बोध के लिए जितने भी प्रयास किये जायें, रहस्य खुलने वाला नही है। आधुनिक बोध इस रहस्य के दरवाजे पर सिर पटकता है, मगर, दरवाजे हिलते भी नही। यही निष्फल, लेकिन सचाई से भरा क्रन्दन आधुनिक बोध की

सिद्धान्तो की उस कठोर पद्धति का अभाव हो गया, जो जीवन की व्याख्या करती थी, जीवन को दिशा-निर्देश देती थी। जीवशास्त्र और मनोविज्ञान ज्यो-ज्यो मनुष्य को उसके नग्न रूप का दर्शन कराते गये, नैतिकता के सिद्धान्त त्यो-त्यो कुछ ज्यादा बेमानी होते गये। रोमामवादी युग तक मनुष्य निरन्तर-उन्नति के सिद्धान्त मे विश्वास करता था, इसलिए, उसके पास एक सहारा था, एक अवलम्ब था। किन्तु, अब वह अवलम्ब भी नष्ट हो गया। अब मनुष्य सोचता है कि हमारा जन्म नियति के किसी नियम के अधीन नही हुआ है, हम आकस्मिक घटनाएँ है। जैसे प्रकृति पशुओ और पेड़ो को बिना किसी उद्देश्य के उत्पन्न करती है, वैसे ही, वह मनुष्य को भी अकारण ही जन्म दे रही है।

परम्परा के बँधे-बँधाये, सुस्पष्ट सिद्धान्तो मे अविश्वास हो जाने के कारण मनुष्य ने अपने आपको उनसे तोडकर अलग कर लिया और इन सिद्धान्तो से टूटकर अलग हो जाने के कारण ही अब वह नि.संग हो गया है। वह अपने जीवन की सार्थकता की सिद्धि खोजता है, किन्तु, सार्थकता उसे कही भी दिखायी नही देती। ससार मे आनन्द के साधन अनेक है, किन्तु, केवल आनन्द भोगकर, केवल खिलौनो से जी बहलाकर मर जाना यथेष्ट नही है। मनुष्य को कही न कही अड़ना भी चाहिए, किसी-न-किसी चिन्ह मे विश्वास भी करना चाहिए। आखिर, इस विश्व-ब्रह्माड के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? और जीवन को मार्गदर्शन देने वाले तथा मनुष्य को नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तो से मुक्ति पा लेने के बाद क्या मनुष्य सचमुच स्वाधीन हो गया? स्वाधीन वह भले ही हो गया हो, किन्तु, इससे उसकी कठिनाइयाँ घटी नही, बढकर बेशुमार हो गयी हैं। और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जिन सिद्धान्तो के प्रचलन के कारण दायित्व-निर्वाह मे पहले सुविधा होती थी, वे सिद्धान्त तो टूट गये, किन्तु, दायित्व माथे पर ज्यो-का-त्यो लदा हुआ है।

यही वह स्थिति है, जिसे पश्चिम के लेखक 'ऐंगिश', करुणा, नियति और 'एबर्सडिटी' कहकर व्यक्त करते हैं। यही वह स्थिति है, जिसे साहित्य मे उतारने के लिए लेखको ने ऐसे चरित्र निर्मित किये हैं, जिनके चारो ओर किसी भी क्षितिज का आभास नही मिलता, जो पात्र केवल बेचैनी का इजहार करते हैं और अपनी विपण्णता, असहायता और घोर अप्रसन्नता की छाप छोडकर हमसे विदा हो जाते है।

"मैं विश्व के साथ उतना ही सलग्न हूँ, जितना यह प्रकाश सलग्न है। मगर मैं पत्थर और पानी के ऊपर-ऊपर चलता हूँ। कोई चीज़ मुझे तल तक नही ले जा सकती, न मुझे किसी ठोस तत्त्व का स्पर्श करा सकती है। मैं अजनबी हूँ, ससार से निर्वासित, अतीत से निर्वासित, अपने आपसे निर्वासित।

स्वतन्त्रता निर्वासन है। मुझे स्वतन्त्र होकर जीने का दण्ड मिला है।"

—सार्त्र-कृत एक चरित्र

"मैं बनाया क्यो गया ? समय के पूर्व ही मैं बूढा हो गया हूँ, चूहे के समान काला और कुरूप हो गया हूँ। क्या मेरा निर्माण ईश्वर ने अपनी लीला के लिए किया था ?"

—जूलियन ग्रीन-कृत एक चरित्र

"मैं कही का भी नही हूँ। मेरे नही रहने से कोई मुझे याद नही करेगा। नीचे चलने वाली रेलमे भीड वैसी-की-वैसी ही है। रेस्तराँ अब भी खचाखच भरे हुए है। हर जगह मुड-ही-मुड दिखायी देते है और हर आदमी छोटी-छोटी बातो को लेकर उत्तेजित हो रहा है। मैं दुनिया से चुपके-से खिसक गया, मगर दुनिया अब भी भरी हुई है। सच्ची बात यह है कि मैं ससार के लिए अनिवार्य नही था।"

—सार्त्र-कृत द वाल

जिन्होंने सभ्यता को रूटीन के रूप मे स्वीकार कर लिया है, उनके भीतर कोई बेचैनी नही उठती। वे दिन भर दफ्तरो में काम करते है और रात मे क्लबो के मजे लेकर आनन्द से सो जाते हैं और उन्हे लगता है, वे पूरा जीवन जी रहे हैं। किन्तु, जो व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन के स्थान पर कृत्रिम, यान्त्रिक जीवन का वरण करके तृप्त नही होता, उसके भीतर प्रश्न उठते ही रहते है और वह अनुत्तरित प्रश्नो के अरण्य मे भटकता हुआ कही भी शान्ति नही पाता है।

नये मनुष्य को नीत्से के मुख से यह सुनकर बडी खुशी हुई थी कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी। किन्तु, यह रहस्य अब खुला है कि ईश्वर की मृत्यु ईश्वर की मृत्यु नही, उन मूल्यो की मृत्यु थी, जो मनुष्य और ईश्वर के बीच सेतु बनाये हुए थे। नये आदमी की मुसीबत यह है कि वह न तो इस सेतु को फिर से बनाने को तैयार है, न वह इस सेतु के बिना शान्ति और आश्वासन पा सकता है।

एक अन्य दृष्टि से देखने पर यह भासित होता है कि यह स्थिति कर्म के त्याग से उत्पन्न हुई है, समाज से अपने को तटस्थ बनाने के कृत्रिम प्रयास से उत्पन्न हुई है। यह स्थिति सामाजिक और वैयक्तिक चेतनाओ के बीच खुदी हुई खाई का परिणाम है। यह निष्कर्म चिन्तन की उस लहर का निरर्थक रुदन है, जो ऐसे सवालों से उलझ रही है, जिनका जवाब न तो पहले मिला था, न कभी आगे मिलने वाला है। भले थे वे लोग, जो ससार को लीला समझकर सन्तुष्ट हो जाते थे। आधुनिक बोध से भूल यह हुई कि उसने ससार को रहस्य मान लिया। मगर, रहस्य-बोध के लिए जितने भी प्रयास किये जायँ, रहस्य खुलने वाला नहीं है। आधुनिक बोध इस रहस्य के दरवाजे पर सिर पटकता है, मगर, दरवाजे हिलते भी नहीं। यही निष्फल, लेकिन सचाई से भरा क्रन्दन आधुनिक

विशेषता है।

रूढ़ियो की छाप पडते-पडते नैतिक मूल्य विकृत हो जाते है। जब भी सौन्दर्य की दुहाई विद्या की रूढि को जीवित रखने को दी जाती है, सौन्दर्य मे विकार भर जाता है उसकी ताजगी खत्म हो जाती है। जब भी किसी अन्याय को नजर-अन्दाज किया जाता है, न्याय की मृत्यु हो जाती है। और जब भी एक-पक्षीय सिद्धान्त को सत्य बना कर पेश किया जाता है, सत्य की रोशनी गायब हो जाती है। अतएव, जो मनीषी परपरागत मूल्यो के विरोध मे खडे है, उनकी ईमानदारी पर शका करने की कोई गुजाइश नही है। मूल्यो की महिमा यह होनी चाहिए कि वे मनुष्य के भीतर मानवीय भावनाओ को जगायें मनुष्य को सोचने को बाध्य करें, उसे व्याकुल और बेचैन बनायें। किन्तु, रूढिग्रस्त मूल्य केवल मुखोटे का काम देते हैं और उन्हे पहन करआदमी अपनी जडता को छिपा लेता है।

कला निरन्तर क्रान्ति का काम है और क्रान्ति की प्रेरणा चरित्र नही, व्यक्तित्व से आती है। किन्तु समाज के स्थापित मूल्य व्यक्तित्व नही, चरित्र के पक्षपाती होते है। व्यक्तित्व परिवर्त्तन लाना चाहता है, समाज के स्थापित मूल्य उस परिवर्त्तन को रोकना चाहते है। समाज की स्थिरता का कारण रूढियो का ही स्थैर्य होता है। जब समाज के स्थापित मूल्य बलवान होते हैं, व्यक्तित्व का उभार उनके खिलाफ नहीं टिकता। रूढियो का साथ देकर समाज मे अपने लिए स्थान बनाना आसान है। उनका विरोध करके आदमी समाज मे अपने लिए जगह बडी मुश्किल से बनाता है।

ये सारी दलीलें अपनी जगह पर सही है, लेकिन उतनी ही सही यह बात भी है कि चरित्र और व्यक्तित्व का यह सघर्ष नया नही है। उसके दृश्य हम सभी युगो मे देखते आये हैं। लेकिन समाज की प्रगति, अन्तत, उसी परिमाण मे हो पाती है, जिस परिमाण मे व्यक्तित्व के पक्षपाती चरित्र के पक्षपातियों को दबा सकते हैं। किन्तु व्यक्तित्ववादी लोग यदि रूठ कर तटस्थ हो गये, यह मान कर उन्होने अगर लडना ही छोड दिया कि सघर्ष मोटा काम है, अतएव, वह चिन्तकों को शोभा नही देता, तो फिर रूढियाँ ज्यो की त्यो बनी रहेगी और रूठनेवालो के आँसू भी अकारण ही सूख जायेंगे। सभी मूल्यो, सभी सस्कारो और सभी समस्याओ को पोछ कर अपने भीतर से निकाल देने के बाद आदमी स्वतन्त्र तो हो सकता हे, किन्तु, इस स्वतन्त्रता का प्रयोजन क्या होना चाहिए?

"अगर हम कभी भी प्रतिबद्ध नही हुए, तो फिर हमारी स्वतन्त्रता का ध्येय क्या रह जाता है? तुमने अपने-आप को स्वच्छ बनाने मे पैंतीस वर्ष लगा दिये, लेकिन नतीजा उसका यह है कि तुम केवल रिक्त हो गये हो।"

—सार्त्र-कृत द एज ऑव रीजन

अगर पुरानी मान्यताएँ झूठी हैं और उनमे विश्वास करने का कोई आधार नही है, अगर विज्ञान का यही कहना ठीक है कि मनुष्य कुछ भी नही है, तो भी आदमी पर यह दायित्व आता है कि वह अपने-आपको कुछ बनाने का प्रयास करे। अगर इस दायित्व से वह भागता है, तो फिर उसकी स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नही है।

> *"तुम्हें साहस करके हर आदमी की तरह काम करना चाहिए, जिससे तुम्हारी यह भावना खत्म हो जाय कि तुम किसी के भी समान नही हो।"*
>
> —द एज ऑव् रीजन

कर्म के अभाव मे चिंतन दु:खदायी हो जाता है। जो अप्रतिबद्ध है, वह अपनी स्वतंत्रता को इस उद्देश्य से बचाये फिरता है कि कर्म के पास जाने से कहीं वह स्वतन्त्रता मलिन न हो जाय। किन्तु, मनुष्य की महिमा प्रतिबद्ध होने मे देखी जाती है, दायित्व और खतरों का सामना करने मे परखी जाती है। सार्त्र के उपन्यास 'नौसिया' का नायक मैथ्यू वह व्यक्ति है, जो अपनी स्वतंत्रता को हृदय की मंजूषा मे जुगाये हुए हर कर्त्तव्य से भागता फिरता है। किन्तु, एकान्त मे यह कर्त्तव्य-विमुखता उसे दंश मारती है। वह स्पेन के गृहयुद्ध मे इसलिए नहीं गया था कि वह कहीं भी प्रतिबद्ध होने को तैयार नही था। लेकिन, एक दिन जब वह गोमेज के साथ खाने को बैठता है, उसे अपने और गोमेज के बीच का भेद स्पष्ट दिखायी देने लगता है। गोमेज वह वीर है, जो स्पेन के गृह-युद्ध मे लड़कर वापस आया है और मैथ्यू वह व्यक्ति है, जो उस युद्ध से अलग रहा है। अब मैथ्यू को अपनी अप्रतिबद्धता पर ग्लानि होती है और वह सोचता है :

"मास का एक टुकड़ा उसके सामने है, एक मेरे सामने। उसे इस मांस के मजे लेने का अधिकार है। उसे यह हक हासिल है कि वह इस मास को अपने उजले दाँतों से भँभोरे; उसे यह अधिकार है कि वह पास वाली खूबसूरत लड़की को देखे और सोचे, "वाह ! कैसी खूबसूरत है !" लेकिन, ये अधिकार मुझे प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि मैंने उनकी कीमत नही चुकायी है। अगर मैं कौर उठाऊँ, तो स्पेन के सैकड़ों शहीद मेरी गरदन पर टूट पड़ेंगे, क्योंकि मैंने कीमत नहीं चुकायी है।"

सार्त्र का आरंभिक चिंतन प्रतिबद्धता के विरुद्ध पड़ा था, किन्तु, अब वे इस निष्कर्ष पर आ गये हैं कि प्रतिबद्धता के बिना मनीषी का भी निस्तार नही है। प्रतिबद्धता ही वह चीज है, जो चिंतक को वास्तविकता के साथ जोड़कर रखती है।

> "हमें विश्वास हो गया है कि प्रतिबद्धता से भागना असंभव कार्य है। अगर हम पत्थर की तरह नीरव और मूक हो जायें, तो फिर हमारी निष्क्रियता ही एक प्रकार का कर्म बन जायगी।"
>
> —सिचुएसन्स

मनुष्य, स्वभाव से ही, अपने युग की नियति से सबद्ध होता है और अपने अस्तित्व मात्र से वह अपनी भूमिका अदा करता रहता है। उसके वैयक्तिक कर्म का प्रभाव समूह के कर्म पर पडता है और अगर वह अपने कर्म से विमुख हो जाता है, तब भी उसकी निष्क्रियता समूह के जीवन को प्रभावित करती है। समाज, राजनीति और ससार से टूटकर अलग जीने की बात केवल सोची जा सकती है। व्यवहार मे कोई भी व्यक्ति समाज से हमेशा तटस्थ नही रह सकता। खुद सार्त्र की प्रतिबद्धता-विषयक भावना तब सुधरी, जब उन्होने अपनी आत्मा पर युद्ध-जनित परिस्थितियो के धक्के महसूस किये।

"या खुदा ! मैं तो युद्ध से बिलकुल अलग रहना चाहता था, पराजय का भागीदार नही बनना चाहता था। मगर, यह क्या कौतुक हुआ कि मैं भी उसमे गिरफ्तार हो गया ?"

—सिचुएसन्स

मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसा नही होता कि वह सबसे टूटकर अलग जी सके। इच्छा न होते हुए भी व्यक्ति को सामूहिक जीवन के साथ बँधना पडता है, क्योकि व्यक्ति समाज पर निर्भर है और समाज की निर्भरता प्रत्येक व्यक्ति पर है। व्यक्ति स्वतत्र तो होता है, किन्तु दुनिया मे जो घटनाएँ घटती हैं, वह उनके असर के जद मे भी होता है। यह सभव है कि सामान्य स्थितियो मे आदमी अपने मन को यह कहकर बहला ले कि सामूहिक घटनाओ के स्पर्श से वह दूर है, किन्तु, जब चैम्बरलेन और हिटलर के बीच वार्ता चलने लगती है, तब सभी यह जानने को उत्सुक हो उठते हैं कि देखें, इस वार्ता का परिणाम क्या निकलता है। युद्ध की जिम्मेवारी केवल उन्ही लोगो पर नही होती, जो उसकी घोषणा करते हैं। उसकी जिम्मेवारी उन लोगो पर भी होती है, जो समय पर उसे रोकने का प्रयास नही करते।

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय गिनेगा उनका भी अपराध।

अगर यह बात सच है कि मनुष्य विरासत नही, योजना है, अतीत नही, भविष्य है, तो अपनी सही भूमिका वह तभी अदा कर सकता है, जब वह अर्थहीन अस्तित्व को अर्थ देने का प्रयास करे, वस्तुओ के पूर्व-निर्धारित अर्थो का तिरस्कार करके उनके भीतर नये अर्थो का समावेश करे। 'तेल पात्र मे है अथवा पात्र तेल मे', ऐसे निष्फल चिंतन मे डूबे हुए मनुष्य को जीवन की सार्थकता कही भी नही मिलेगी। स्वाधीनता का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम सच्चे अर्थो मे जीने का प्रयास करें यानी हम खुलकर प्रतिबद्ध हो और वस्तुओ के पूर्व-निर्धारित अर्थों को केवल अस्वीकृत ही न करें, उनके भीतर अपनी पसन्द के नये अर्थ बिठाने के लिए भी सघर्ष करें। मनुष्य अपनी आत्मा का सही सधान गुफाओ मे नही, मनुष्यो

के रेले मे पाता है, भीड और सघर्ष म पाता है। कोरा किताबी ज्ञान मनुष्य को धोखा भी दे सकता है, किन्तु, सघर्षों से निकली हुई शिक्षा कभी भी झूठी नही होती।

> "*हम अपने आप का सधान रहस्य कुजो मे नही, खुली सडकों पर पाते* हैं, शहरो मे पाते हैं, मनुष्यो की भीड मे पाते है। हम अपने आपका पता तब चलता है, जब हम चीजो के बीच महज एक चीज और मनुष्यो के बीच महज एक मनुष्य बनकर जीते है।"

—सिचुएसन्स

युद्ध के पहले सार्त्र ने अकेलेपन के दर्द के मजे खूब लूटे थे। लेकिन ईमानदार चिंतक चाहे जितने भी काल तक मौज से भटकता रहे, अन्त मे, सत्य के मार्ग पर वह अवश्य आ जाता है। युद्ध-जनित अनुभूतियो ने सार्त्र को बता दिया कि जैसे सन्यास लेकर ससार से भाग खडा होना पलायन का निन्द्य कृत्य है, उसी प्रकार ससार मे रहते हुए ससार से वैराग्य लेकर जीना भी प्रशसा की बात नही है। और इसके अपवाद साहित्यकार भी नही हो सकते। क्योकि ससार मे घटने वाली घटनाओ के प्रभाव मे, देर-अवेर, वे लोग भी गिरफ्तार हो जाते हैं, जिन्हे दुनिया से तटस्थ होने का शौक है। सिचुएसन्स मे सार्त्र ने बेलजाक पर अपना क्रोध इसलिए प्रकट *किया है कि सन् १८४८ की पेरिस क्रान्ति पर उन्होने कोई ध्यान नही दिया* था। और फ्लाउबेयर से सार्त्र की शिकायत यह है कि कम्यून के बाद जनता पर जो जुल्म ढाये गये, उन जुल्मो के खिलाफ फ्लाउबेयर न एक शब्द भी नही लिखा। लेखको और कवियो ने पिछले सौ वर्षों से अनासक्ति और तटस्थता का जो अभ्यास किया है, वह किसी भी प्रकार उचित नही कहा जा सकता।

> "पिछले सौ वर्षों से लेखक इस सपने मे मस्त रहा है कि पाप और पुण्य की विचिकित्सा के परे, बल्कि पतन के भी पास पहुँचकर वह अपनी सारी आस्था अपनी कला को अर्पित करेगा। किन्तु, यह बात वह बिलकुल ही भूल गया है कि समाज ने हमे कुछ जिम्मेवारियाँ भी सौंपी हैं, जो हमारे कधा पर मौजूद हैं।"

—सिचुएसन्स

ससार, निसर्गत ही, ऐसी स्थितियो को जन्म देता है, जिनसे नयी नैतिकता उत्पन्न होती है, नयी अनुभूतियाँ और नये मूल्य बोध पैदा होते हैं। दुनिया की किसी भी किताब की तरफ से यह दावा नही किया जा सकता कि भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के मनुष्यो के सभी आचरण सिद्धान्त उसमे लिखे हुए हैं। प्रचलित मूल्यो के अतिक्रमण से ही समाज मे परिवर्त्तन होते हैं, क्रान्ति होती है। अगर सारा जोर सभ्यता के रक्षण और पालन पर दिया जाय, तो बढावा रूढियो को मिलेगा एव सभ्यता से ताजगी एक दिन गायब हो जायगी। इसलिए

मूल्यों को शंका से देखने की दृष्टि क्रान्ति की ही दृष्टि है और इन मूल्यों के विरोध के अधिकार को बचाये रखना, असल में, चिंतक की स्वाधीनता को ही बचाये रखना है।

यहाँ तक सारी बातें ठीक हैं। किन्तु, चिंतक जब इस स्वाधीनता को ही सबसे बड़ा मूल्य मान लेता है, तब स्वाधीनता अर्थहीन हो जाती है। संघर्ष में पड़ने से कहीं हमारी स्वतंत्रता का ह्रास न हो जाय, चिंतक जब इस विचिकित्सा में गिरफ्तार हो जाता है, उसकी स्वाधीनता वहीं से बेमानी होने लगती है। जो भी चिंतक अपनी स्वाधीनता का प्रयोग करने से इनकार करता है, उस पर, कभी न कभी, यह आरोप लगकर रहेगा कि वस्तुओं के प्रचलित अर्थ उसे स्वीकार्य थे, क्योंकि उनके प्रचलन को रोकने के लिए उसने अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं किया। अनासक्त और अकर्मण्य भाव से विश्व की समस्याओं पर सोचने की स्वाधीनता कोई स्वाधीनता नहीं है। कर्म के कोलाहल से भरे संघर्ष में प्रवेश करने से ही स्वतंत्रता के भीतर सच्ची अर्थवत्ता का समावेश होता है। कर्मन्यास का अर्थ कर्म का त्याग नहीं, केवल फलासक्ति का त्याग है। अनासक्ति से योगी और कलाकार, दोनों की स्वतंत्रता में वृद्धि होती है। किन्तु, अकर्मण्यता दोनों में से किसी के भी लिए विहित नहीं है।

साहित्य में आधुनिक बोध

सामाजिक पृष्ठभूमि

अपने समग्र इतिहास मे दुनिया जिस रफ्तार से बदलती आयी थी, उससे कही तेजी के साथ वह पिछले सौ वर्षों मे बदली है। और इस परिवर्त्तन का सबसे प्रत्यक्ष एव दर्शनीय प्रमाण नगरो की सख्या, महत्त्व और उनके आकार का विकास है। नगर पहले भी होते थे, किन्तु, उस समय नगरो और ग्रामो की नैतिकता और सस्कृति एक थी। लेकिन, पिछले सौ वर्षों मे नगरो के भीतर से अनेक महानगर उत्पन्न हो गये और वर्त्तमान सभ्यता की जो भी विशिष्टताएँ हैं, वे महानगर उनके प्रमुख केन्द्र हो गये। अब महानगरो की सभ्यता और शहरो तथा देहातो की सभ्यता के बीच काफी चौड़ी दरार पड़ गयी है। आधुनिक बोध इन्ही महानगरो मे बसनेवाले मनीषियो का दृष्टिबोध है, जो ग्रामो और छोटे शहरो मे रहनेवालो की समझ मे कठिनाई से आता है।

विज्ञान और टेकनोलाजी के प्रयोग से मनुष्य अपने सुख, सुविधा और मनोरंजन का जो विस्तार कर सकता था, वह उसने महानगरो मे किया है। ससार के उद्योगो और व्यवसायो के मुख्य केन्द्र महानगरो मे हैं। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय महानगरो मे अवस्थित हैं। सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, नाटक, ओपरा और बैले के सर्वश्रेष्ठ केन्द्र महानगरो मे मिलते हैं। ससदो और सरकारो के मुख्य केन्द्र महानगरो मे हैं। श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाएँ महानगरो से निकलती हैं। अच्छे प्रकाशकों के मुख्य कार्यालय महानगरो मे है। बडी बडी प्रयोगशालाएँ महानगरो मे होती हैं। इसीलिए, राजनीतिज्ञ, विज्ञानवेत्ता, चिंतक, लेखक, कवि और कलाकार अधिकतर महानगरो मे बस गये हैं। ससार से तात्पर्य अब, असल मे, दुनिया के पाँच-सात महानगरो से है। जो मत इन पाँच सात महानगरो मे मान्य होता है, वही मत अब मानवता का मत समझा जाता है। लडाइयाँ इन पाँच-सात महानगरो के षड्यत्र और द्वेष से उत्पन्न होती हैं। शान्ति का नारा भी उन्ही महानगरो की क्लान्ति का उच्छ्वास है। वैज्ञानिक उन्नति से उत्पन्न सुविधाओ के भागीदार धीरे-धीरे देहात भी होते जाते हैं। किन्तु, देहात अब भी देहात हैं। दुनिया देहातो से केवल खाने के लिए अन्न और लड़ाइयो मे कटवाने के लिए नौजवान मर्द चाहती है। देहात

की ओर कोई बात नगरवालों को पसन्द नहीं है।

रूप तो अब देहातो के भी बदलने लगे हैं। जहाँ छोटी छोटी बस्तियाँ थी, वहाँ अब कल-कारखानो से भरे नगर खडे हो रहे हैं। रेडियो का थोडा-बहुत प्रचार गाँवों मे भी है। बिजली के तार देहातों में भी दौडने लगे हैं और देहातों मे भी ठाकुरबाडी से ज्यादा भीड अब सिनेमा-सदनो मे लगने लगी है। लेकिन, फिर भी देहातों का पुराना मन अभी मरा नहीं है। ईश्वर वहाँ अब भी अदृश्य अवलब के रूप मे जीवित है। प्रेम वहाँ अब भी मनुष्य की किसी गभीर और गोपन भावना का नाम है तथा मृत्यु को अब भी देहात के लोग मरणोत्तर जीवन का द्वार समझते हैं। और नारी के प्रति ग्रामो मे अब भी यह भाव है कि वह रक्षणीय है तथा सतति-निरोध की शिक्षा ग्रामो मे आज भी अच्छी नही समझी जाती है।

किन्तु, महानगरो का मन बहुत दूर तक परिवर्तित हो चुका है। विज्ञान और टेकनोलाजी का आधार लेकर उठनेवाली सभ्यता ने अपने विशिष्ट प्रतिनिधियों का जमाव महानगरों में किया है। इनमें से जो अत्यधिक आधुनिक हैं, वे मानते है कि नीत्से ने जब ईश्वर को मृत्यु की घोषणा की, तब वह पागलपन मे नहीं बोल रहा था। किन्तु, आधुनिकता की दौड़ मे जो लोग कुछ पीछे रह गये हैं, वे भी नास्तिक नही, तो सदेहवादी जरूर हैं। प्रेम इनकी दृष्टि मे कोई उदात्त भावना नही है। वह रुधिर का एक अधा वेग है, मन का एक अनचेतन विकार है। वह दोस्ती का एक तरीका है। वह इन्द्रिय तर्पण का एक माध्यम है, जिसे भ्रमवश आध्यात्मिक समझकर पहले के भावुक कवियो ने ढेर की ढेर कविताएँ लिखी थीं। प्रेम आँखो की मटकी है, प्रेम क्षण-भर की शारीरिक आवश्यकता का नाम है, प्रेम नये-नये चारागाहो की कौतुकी खोज है, प्रेम बोतल की फेंकी हुई काग है, प्रेम एक प्याली कॉफी या चाय है।

और मृत्यु? जिन्दगी की घात में लगी रहनेवाली यह खौफनाक चीज बहुत ही खराब है। वह सर्वनाश का नाम है। वह भय है, आतक है, परमाणु बम और नेपाम बम है। मृत्यु घातक रोग है, जो हमे भय दिखाकर जीने को लाचार करती है। मृत्यु नहीं चाहती कि हम उसकी याद करें, उसे अपने ध्यान मे रखें। दुनिया मे मौज-मजे की बहुत सी चीजें हैं। हम इनके असली मजे तभी उठा सकते हैं, जब मृत्यु को हम भूल जायें।

दुनिया का जो भाग आधुनिकता के आलोक से सबसे अधिक आलोकित है, वहाँ परिवार समाज की सबसे पवित्र इकाई नहीं है। विवाह का आधार दपति का व्रत नहीं, आपसी रजामन्दी है। नारियाँ विशेष रूप से रक्षणीय नहीं हैं, इसीलिए, वे पूजा की भी अधिकारिणी नहीं हैं। धर्म के व्यर्थ हो जाने से मूल्यों की दौड़ मे जो जगह खाली हुई, उस पर सौन्दर्यबोध ने आसन जमा

लिया और सौन्दर्य-बोध का मुखौटा पहनकर दुनिया के मन पर शासन, असल मे, कामदेव कर रहा है। व्यावहारिक मनुष्य के लिए ईमानदारी कोई अनिवार्य गुण नही है। प्रेम भावुक लोगो की बीमारी का नाम है। सिधाई, सचाई, वीरता और बलिदान उतने अच्छे नही हैं, जितनी अच्छी चालाकी हो सकती है। और जब सभी लोग चालाकी से ही जीते हैं, तब वीरता और बलिदान बेवकूफी की बातें नही, तो और क्या हैं? मूल्यो का पचडा बेकार है। सबसे बडा मूल्य वह है, जिसके सहारे गाडी चलती रहती है।

महानगरो मे जो सभ्यता फैली है, वह छिछली और हृदयहीन है। लोगो के पारस्परिक मिलन के अवसर तो बहुत हो गये हैं, मगर, इस मिलन मे हार्दिकता नही होती, मानवीय सबधो का घनत्व नही आ पाता। दफ्तरो, ट्रामो, बसो, रेला, सिनेमाघरो, सभाओ और कारखाना मे आदमी हर समय भीड मे ही रहता है, मगर, इस भीड के बीच वह अकेला होता है। मनुष्य के लिए मनुष्य के भीतर पहले जो माया, ममता और सहानुभूति के भाव थे, वे अब लापता होते जा रहे हैं। देशो की पारस्परिक दूरी घट गयी है, लेकिन, आदमी और आदमी के बीच की दूरी बढती जा रही है।

आरभ से ही, कामिनी और कचन पार्थिव जीवन के सब से बडे प्रलोभन रहे थे। किन्तु, मनुष्य ने, अपने अनुभवो के आधार पर, कुछ मूल्यो की रचना करके इस प्रलोभन पर अकुश लगा दिया था। जब तक यह अकुश बलवान था, कामिनी और कचन को लेकर खलबली तब भी मचती थी, लेकिन, उस समय फिर भी वह सँभाल मे थी। लेकिन, अब इस अकुश मे कोई जोर नही है। अतएव, सभी लोग काम और कचन की ओर बेरोक हो कर दौडने लगे हैं। और चूँकि कचन के बल से काम भी उपलब्ध किया जा सकता है, इसलिए, सभ्यता की मुख्य चालना कचन बन गया है। नि स्वार्थ सेवा की प्रेरणा महानगरो मे भी है, किन्तु ऐसे समाजसेवी अब हँसी के पात्र हैं। हर जगह समाज-सेवा का भी ध्येय कोई न कोई लाभ है। औरतें सेवा का बहाना करती हैं, ध्येय उनका कमेटियो का नेतृत्व करना होता है। डाक्टर अपने चेलो को खास दवाइयो का प्रचार सिखाते हैं और बराबर छिपे छिपे व्यवसायियो का पैसा खाते हैं। प्रोफेसरो का ध्यान ज्ञान की सेवा पर कम, चेयर पर अधिक रहता है। छात्र प्रश्नो को पहले से ही जानना चाहते हैं। मार्शल एड के अधीन मिली हुई विटामिन यूरोप मे काले बाजार मे बिकती है। सब लोग रुपयो के पीछे दौड रहे हैं, क्योकि कौडियो के मोल सब कुछ खरीदा जा सकता है। विज्ञापनो के चक्कर मे आ कर हर आदमी अपनी जरूरतें बढ़ाता है और हर आदमी आसानी से रुपये बनाने के लिए बेचैन है। बहुत-से मर्द क्लबो मे जाने के पहले सिंगार करते हैं और औरतें रसोई बनाने का काम भूलती जा रही हैं।

हिरोशिमा और नागासाकी पर जब से बम बरसे, आदमी का आत्मविश्वास और भी डोल गया। डारविन ने मनुष्य से उसका देवत्व छीन लिया था। मार्क्स ने उसकी सदाशयता की जड खोद डाली थी और फ्रायड ने यह सिद्ध कर दिखाया था कि आदमी का अपने को बुद्धिवादी समझना बिलकुल फालतू बात है। किन्तु, हिरोशिमा और नागासाकी ने आदमी को यह कहकर और भी आतंकित कर दिया कि मृत्यु के झपट्टे मे वह कभी भी आ सकता है, क्योंकि ज्ञान के फल को उसने पकने के पूर्व ही चख लिया है। कोई आश्चर्य नही कि आदमी अपने जन्म को आकस्मिक घटना मानता है और चूँकि अत्यत सहारक शस्त्रो से भरे हुए ससार मे कोई भी आदमी अपनी लबी आयु के लिए कोई योजना नहीं बना सकता, इसलिए वह क्षण के भीतर जीने को मजबूर है। जो व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षण को इस भाव से देखता है कि जो मिल गया, उसे ठीक से भोग लो, न जानें, कब परमाणु बम बरस पड़ें और मानवता का ध्वस हो जाय, वह उस व्यक्ति के समान आचरण नही कर सकता, जो जीवन को काफी लबा मानता था और युद्ध को सर्वध्वस का कारण नही समझता था।

यह घबराहट की स्थिति है, सभ्यता की निस्सहायता का दृश्य है। सभ्यता पर पहले जब जब विपत्ति आयी थी, लेखको और कवियो ने डट कर उसका मुकाबिला किया था। किन्तु, इस बार वे सिकुड़ कर अपने मनोवैज्ञानिक निकुज मे समा गये हैं। इस विशृखलता के बीच लेखक और कवि नये सिरे से जीवन के अर्थ की तलाश करना चाहते हैं, जीने के औचित्य और सार्थकता का सधान पाना चाहते हैं और इस बात पर अचरज करते हैं कि ससार के ये करोड करोड़ लोग कैसे खुश हैं, क्या सोच कर सतुष्ट है। और ससार के करोड़-करोड़ लोगो की समझ में लेखको और कवियो की बात नहीं आती, क्योंकि उनकी दृष्टि बहिर्मुखी हो गयी है। लेखको और कवियो ने ही तो इन करोड़-करोड लोगो को बताया था कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी और परलोक ढह कर नेस्तनाबूद हो गया है। तो फिर जो कुछ सामने है, उसे जी भर कर भोग लेना ही धर्म है। और, सचमुच ही, लोग भीतर की आँखें बन्द किये सुख की तलाश मे बेतहाशा दौड रहे है।

इसलिए हमारा ख्याल है कि साहित्य मे, साधारणतः, जिसे आधुनिक बोध कहा जाता है, वह कोई शाश्वत मूल्य नही है। मूल्य शायद वह है ही नही। मूल्यो के विघटन से उत्पन्न वह एक दृष्टि है, जिसमे घबराहट, निराशा, शका, त्रास और असुरक्षा के भाव हैं। अतएव, आधुनिक बोध की सारी व्याप्तियाँ ऐसी नहीं हैं, जो आँख मूँद कर स्वीकार कर ली जायँ।

दूसरी कठिनाई यह है कि आधुनिक बोध की जो भावना यूरोप और अमरीका में प्रचलित है, वह उस भावना से भिन्न है जिसका प्रचलन साम्यवादी देशों मे हुआ है। पश्चिमी देशो के आधुनिक कलाकार अपने को जीवन के दायित्व से मुक्त

समझते हैं। समाज के प्रति वे अपनी जवाबदेही का स्वीकार नहीं करते, न वे अपनी शक्ति का उपयोग सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए करना चाहते हैं। उनकी सारी आस्था शब्दों के प्रति है, शैली और भाषा के प्रति है। जैसे नृत्य, संगीत और चित्र प्रचार के माध्यम नहीं हैं, उसी प्रकार, वे कविता को भी प्रचार का माध्यम बनाने के विरुद्ध हैं।

शैली के प्रति पक्षपात

कविता की गिनती, कम से कम, भारत में कलाओं में नहीं की जाती थी। कविता विद्या है। कलाएँ उपविद्याओं में गिनी जाती हैं। लेकिन, व्यवहार में कविता के साथ यहाँ भी लगभग वही सलूक किया जाता था, जो कलाओं के साथ किया जाना चाहिए। फिर भी, कविता उतना ही काम नहीं करती थी, जितना काम संगीत, नृत्य अथवा चित्र करते थे। कलाओं से कविता का मुख्य भेद यह था कि संगीत और चित्र के द्वारा सोचने का काम नहीं किया जाता था, किन्तु चिंतन और विचार का काम कविता बहुत दूर तक कर सकती थी। और यही कारण था कि कविता अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ समझी जाती थी, क्योंकि उसमें सौन्दर्य भी होता था और जीवन को प्रेरित करनेवाली कल्पना और विचार भी होते थे। इसलिए कविता कला होते हुए भी उपविद्याओं में नहीं, विद्याओं में गिनी जाने के योग्य थी।

किन्तु, पिछले सौ वर्षों से यूरोप और अमरीका के कवि कविता को विद्याओं की श्रेणी से हटा कर उपविद्याओं की श्रेणी में ले जाने का प्रयास करते रहे हैं। वे कविता को ज्ञान, विचार और उपदेश से मुक्त रखना चाहते हैं। कविता का विकास, शुद्धत, कला के रूप में करने का परिणाम यह हुआ है कि कवियों की सारी चिंता इस एक ध्येय पर केन्द्रित हो रही है कि वे 'कैसे' कहते हैं। "क्या और क्यों" पर सोचते-सोचते दर्शनों का जन्म हुआ था। "कैसे" पर सोचते-सोचते विज्ञान उत्पन्न हुआ। कथ्य दर्शन है, शैली विज्ञान है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जब से शैली को प्रमुखता मिलने लगी, कविता दर्शन से हट कर विज्ञान के समीप जाने लगी है। और तब भी यह सच है कि कविता का मित्र विज्ञान नहीं, दर्शन है तथा कविता का शत्रु भी दर्शन नहीं, विज्ञान है।

शैली की महिमा पहले के भी कवि समझते थे। किन्तु, शैली पहले साध्य नहीं, साधन समझी जाती थी। साध्य कुछ और था, जिसका, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सबंध जीवन की समस्याओं से पड़ता था। किन्तु, आज के कवि कथ्य को कोई भी महत्त्व नहीं देते। वे समझते हैं कि यदि शैली मौजूद है, तो कविता हवा की लहर पर भी तैयार की जा सकती है, अगर कला मौजूद है तो महल बिना खंभों के भी खड़े किये जा सकते हैं। इसीलिए, आधुनिक बोध की माँग है कि रचना में

प्रवृत्त लेखक और कवि अपने कथ्य की चिंता न करें, चिंता हमेशा उन्हे इस बात की करनी चाहिए कि उनकी लिखाई कैसी हो रही है, उनका शैली-तंत्र कितना कसा हुआ, ताजा और चुस्त है।

साहित्य मे आधुनिक बोध के अन्यतम प्रवर्तक फ्रासीसी कवि मलार्मे ने कहा था कि "कृति का विषय बाहर से आता है। अतएव, जो भी कलाकार अपना ध्यान विषय पर केन्द्रित करता है, वह शुद्ध कलाकार नही है। शुद्ध कलाकार तो वही हो सकता है, जिसका सारा ध्यान कृति पर केन्द्रित है, भाषा, शैली और शब्दों मे सन्निविष्ट है। जो भी उपन्यासकार जीवन का फोटो ले रहा है, वास्तविकता का अनुकरण कर रहा है, वह दूषित है, क्योकि वह अपने ग्रन्थ की सेवा न करके एक ऐसे काम मे लगा हुआ है, जो कृति के लिए बिलकुल बाह्य है। इसी प्रकार, जो कवि अपनी कृति पर ध्यानस्थ न हो कर अपनी आत्मा की आवाज सुनने मे व्यस्त है, वह शुद्ध कलाकार नही है।"

पश्चिमी देशों के कलाकार, मुख्यत, शैली के कलाकार हैं। वे पाठको को गुदगुदाते है, चौंकाते हैं, उनकी शान्ति भग करते हैं, किन्तु उन्हे ज्ञान नही देते, उपदेश नही देते, क्योकि ज्ञानदान और उपदेशवाद की गध आने से कला सोद्देश्य हो जाती है और सोद्देश्यता कला का सब से बडा अपराध है।

आधुनिक बोध का एक अन्य प्रखर लक्षण यह है कि कलाकार कर्म के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार नही करता। कर्म का त्याग सोद्देश्यता के त्याग से उत्पन्न हुआ है अथवा सोद्देश्यता का त्याग कर्म के त्याग का परिणाम है, यह स्थिति बहुत स्पष्ट नही है। केवल अनुमान होता है कि उद्देश्य का त्याग पहले किया गया, कर्म का त्याग उसके बाद आया है। ज्ञान और उपदेश कर्म के आदि सोपान हैं। जो लेखक ज्ञान या उपदेश की ओर झुकता है, निश्चय ही, वह समाज को किसी कर्म की ओर प्रेरित करना चाहता है। ज्ञान और उपदेश का एक दोष यह भी है कि वे विषय को अरूप या गौण होने नही देते। अतएव, शैली की महिमा बढ़ाने के लिए, यह जरूरी हो गया कि विषय गौण कर दिये जायँ। इसलिए, ज्ञान और उपदेश यानी सोद्देश्यता का त्याग आवश्यक समझा गया। उसके बाद कर्म कलाकार के क्षेत्र से स्वय ही निष्कासित हो गया। कुछ दिनो तक कलाकार अपनी लज्जा छिपाने को यह कहते रहे कि मनुष्य की हैसियत से कर्म करना हमारा भी कर्त्तव्य है, किन्तु, कवि की हैसियत से कर्म को हम कोई प्रेरणा नही देगे। इसी जोश मे स्पैनिश युद्ध के समय कई लेखक और कवि, सैनिक की हैसियत से, युद्ध मे लड़ने को गये थे। किन्तु, अब उनके भीतर से ऐसे लोग भी निकल आये हैं, जो यह कहते हैं कि कर्म हमारा कला की सृष्टि है। इसके अलावा और कोई कर्म हमारे वृत्त मे नही पड़ता है।

कर्म से यहाँ तात्पर्य खाने-पीने और रोजी कमाने से नहीं है, बल्कि, तात्पर्य

राष्ट्रीयता से है, युद्ध से है, समाज को परिवर्तित करने वाले आन्दोलनो से है। पश्चिमी देशो के कलाकार इन कर्मों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार नही करते। वे केवल कवि हो कर जीना चाहते हैं। कहते हैं, लडाई के समय किसी देश का एक युवक कलाकार निश्चिंत हो कर उद्यान मे घूम रहा था। ऐसे मे किसी ने उससे पूछ दिया, "क्यो भई, आप युद्ध का कोई काम नही करेंगे?" कलाकार ने उत्तर दिया, "नही। मैं तो खुद वह वस्तु हूँ, जिसकी रक्षा के लिए युद्ध लड़ा जा रहा है।"

युद्ध और राष्ट्रीयता

युद्ध और राष्ट्रीयता एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। राष्ट्रो के बीच जब तनाव आता है, तब उससे युद्ध उत्पन्न होते है और युद्ध आरभ होने के बाद राष्ट्रीयता की शक्ति मे और भी वृद्धि हो जाती है। युद्ध और राष्ट्रीयता, दोनो के दोनो राजनीति है। जब एक देश किसी दूसरे देश पर अधिकार जमाता है, तब गुलाम देश के लोगो मे शासक देश के विरुद्ध घृणा का ज्वार उमडता है। घृणा के इसी ज्वार से राष्ट्रीयता उत्पन्न होती है। राष्ट्रीयता लगभग पशु-धर्म है। भैंस अपने खूँटे पर किसी दूसरी भैंस को आने देना नही चाहती। यही भाव विकसित और परिमार्जित हो कर मनुष्यो के बीच राष्ट्रीयता कहलाता है।

जैसे राष्ट्रीयता राजनीति का एक रूप है, उसी प्रकार युद्ध भी राजनीति है। राजनीति जब सफेद लिबास मे होती है, हम उसे शान्ति कहते हैं। जब उसके कपड़े लहू से लाल हो जाते है, वह युद्ध कहलाती है। युद्धो से होने वाले विनाश से आजिज आ कर आधुनिक मनुष्य इस निष्कर्ष पर जा पहुँचा है कि युद्ध का उन्मूलन होना बहुत आवश्यक है। इसीलिए, वह राष्ट्रीयता का भी अब विरोध करता है। जब तक राष्ट्रीयता है, दुनिया देशो मे बँटी रहेगी। जब तक राष्ट्रीयता है, युद्ध होते रहेंगे। अन्तर्राष्ट्रीयता और शान्ति, ये एक ही तत्व के दो नाम हैं। जब तक शान्ति स्थापित नही होती, अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वप्न सिर्फ हवा मे मंडराता रहेगा और जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मजबूत नही होते, देशो के आपसी युद्ध चलते रहेंगे।

किन्तु, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता का यह स्वप्न कब तक आकार ग्रहण करेगा अथवा वह आकार ग्रहण करेगा भी या नही, यह बात दृढता के साथ नही कही जा सकती। धरती पर आज एक भी देश ऐसा नही है, जो पूरे अर्थों मे अन्तर्राष्ट्रीय हो। प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन आज भी वही तक करता है, जहाँ तक यह समर्थन उसके राष्ट्रीय हितो के अनुकूल है। साम्यवाद से यह आशा जरूर थी कि जो देश विचारधारा की दृष्टि से एक समान हैं, वे परस्पर एक रहेंगे। किन्तु, रूस और चीन का आपसी सबध जिस पैमाने पर खराब हुआ

हैं, उसे देखते हुए यह आशा भी क्षीण हो चली है कि विचारधारा राष्ट्रीयता को मार सकती है। गांधीजी ने कहा था कि समूचे देश के हित में जैसे एक या दो प्रान्तों का मिट जाना पुण्य का कार्य है, वैसे ही, अगर जरूरत पड़े, तो सारे ससार के हित में एक या दो देशों को नक्शे से गायब होने को तैयार रहना चाहिए। किन्तु, भारत पर जब चीन ने आक्रमण किया, गांधी जी की यह सीख भुला देने योग्य साबित हुई। नक्शे से मिटने की बात तो अलग, कोई देश एकपक्षीय नि शस्त्रीकरण के लिए भी तैयार नहीं है। खुद गांधी, बुद्ध और अशोक के देश में यह मांग की जा रही है कि परमाणु-बम बनाने का काम भारत को भी करना चाहिए।

कविता और उपन्यास राष्ट्रीय हो सकते हैं। इतिहास राष्ट्रीय हो सकता है। किन्तु विज्ञान कभी भी राष्ट्रीय नहीं होता। वह स्वभाव से ही अन्तर्राष्ट्रीय है। विज्ञान की सभी बातें सभी देशों में एक समान सही समझी जाती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में जो बात एक देश में सही और दूसरे देश में गलत मानी जाती है, वह बात अभी विज्ञान के धरातल पर नहीं पहुँची है।

विज्ञान से अन्तर्राष्ट्रीयता में बहुत बड़ी वृद्धि हुई है। विशेषतः, परमाणु भजन से जो शक्ति नि सृत हुई, उसकी घातकता का ससार पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि सभी देशों में युद्ध के विरुद्ध आवाजें एक साथ उठने लगीं। परमाणु बमों के भय से घबरा कर ससार के विभिन्न देश जितने समीप आये थे, उतने समीप वे पहले और कभी नहीं आये थे। इस अर्थ में परमाणु और हाइड्रोजन बमों ने मनुष्यता का बहुत बड़ा उपकार किया था। किन्तु, अब उसी भय से एक दूसरा भय उत्पन्न हो गया है और हर एक देश चाहता है कि, अगर वह बना सके, तो परमाणु बम उसे जरूर बनाना चाहिए। इस प्रकार, जिस चीज ने अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रेरणा दी थी, वही अब राष्ट्रीयता को उत्तेजित कर रही है। इसानियत की बीमारी सर्वत्र एक ही प्रकार की है। दर्द की दवा पायी, दर्द बेदवा पाया।

मानवता की जितनी भी बड़ी समस्याएँ हैं, वे एक समान कठिन हैं। विज्ञान का विकास अन्तिम बिन्दु तक होना चाहिए, यह सभी लोग मानते हैं। किन्तु विज्ञान जब हाइड्रोजन बम का आविष्कार करता है, तब मनुष्य घबराने लगता है, क्योंकि उसका चरित्र इतना विकसित नहीं हुआ है कि वह ऐसे बमों का उपयोग अपने विनाश के लिए न करे। मनुष्य इस कल्पना पर आसक्त हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीयता ही मनुष्य का परम धर्म है। किन्तु, यहाँ भी ज्ञान आगे है, चरित्र पीछे छूट गया है। आदमी का चरित्र इतना उदार नहीं हुआ है कि लड़ाई के समय शत्रु के पक्ष में बोलने वाले अपने राष्ट्रबन्धु को वह देशद्रोही न समझे। मनुष्य ने काफी सोचकर यह तय किया है कि कविता को दर्शन, कर्म, इतिहास, नैतिकता और समाजशास्त्र की गुलामी में न रह कर केवल कविता होना चाहिए।

किन्तु, उसकी भावना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वह ऐसी कविताओं का रस ले सके। आधुनिक मनुष्य की पीड़ा उस मनुष्य की पीडा है, जो फल तो फुनगी पर का खाना चाहता है, किन्तु वहाँ तक छलांग लगाने की शक्ति से वह हीन है। प्रत्येक क्षेत्र मे आदमी का अपराध एक ही दिखायी देता है। यानी उसकी बुद्धि अति विकास पर है, जबकि उसकी भावना और चरित्र, दोनो के दोनो पिछड़े हुए है। वह लड़ाई नही चाहता, उसका दुश्मन भी लडाई नही चाहता, मगर, लाचार हो कर दोनो को लडना पड़ता है। वह राष्ट्रीयता को दोप समझता है, किन्तु युद्ध के समय राष्ट्रीय हुए बिना वह अपनी रक्षा भी नही कर सकता। वह विज्ञान का विकास बहुत दूर तक करना चाहता है, किन्तु, विज्ञान की जितनी ही प्रगति होती है, मनुष्य के सर्वनाश की सभावना उतनी ही बढती जाती है।

एक समय था, जब युद्ध स्वर्ग का द्वार समझा जाता था। लडाई मे जाकर जो लोग अपनी जान देते थे, उनके बारे मे कल्पना यह की जाती थी कि वे स्वर्ग चले गये हैं। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्", गीता का यह वाक्य ऐसी ही धारणा से निकला था। किन्तु, अब यह धारणा सदिग्ध हो गयी है। तब भी युद्ध होते हैं, नौजवान मारे जाते हैं, और जनता की सामान्य धारणा यही होती है कि वे युवक शहीद हुए हैं और उन्हे स्वर्ग प्राप्त हुआ है। यही नही, युद्ध के समर्थन मे कविताएँ भी लिखी जाती है और वे, क्षण भर को, समाज को हिला भी डालती हैं। किन्तु, मनीषी-वर्ग जनता और जन-कवियो की इस भावुकता पर मन ही मन हँसता है, गरचे, जन-भावना के रोष के भय से वह अपने मन की बात जोर से नही बोल सकता।

युद्ध के समय सैनिको के बलिदान की प्रशसा मे, शत्रुओ की निन्दा मे और जनता के साहस को उछालने के लिए जो ढेर की ढेर कविताएँ लिखी जाती हैं, उनकी एक पृष्ठ भूमि मनोवैज्ञानिक होती है। अँधेरे और सुनसान रास्ते से चलने वाले मुसाफिर को जब भय लगता है, वह जोर-जोर से गाने लगता है। इसी प्रकार, जनता जब किसी युद्ध से भयभीत होती है, वह उग्र-उन्मादक कविताओ की माँग करने लगती है और जिस युद्ध से जितना ही अधिक आतक फैलता है, उस युद्ध के समय उतनी ही अधिक कविताएँ लिखी जाती है। चूँकि चीनी आक्रमण से फैलनेवाला आतक बहुत बड़ा था, इसलिए भारत मे उस समय कविताएँ भी अधिक लिखी गयी थी। और चूँकि पाकिस्तानी आक्रमण से जनता के भीतर आतक कम फैला था, इसलिए, उस युद्ध के समय कविताएँ भी कुछ कम लिखी गयी। कहते है, पाकिस्तानी युद्ध के समय पाकिस्तान मे लिखी गयी कविताएँ बेशुमार थी और उस सिलसिले मे पाकिस्तान के उन कवियो ने भी अपना ब्रह्मचर्य तोड़ दिया, जिनका व्रत था कि युद्ध के समर्थन मे वे कभी कुछ नहीं लिखेंगे। इससे शिक्षा निकलती है कि पाकिस्तानी युद्ध के समय घबराहट

हिन्दुस्तान मे नही, पाकिस्तान मे थी।

मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का एक स्वरूप यह भी है कि युद्ध के समय हमारे अन्तर्मन मे यह ग्लानि समायी रहती है कि हम सुरक्षित इसलिए हैं कि हमारी रक्षा करने को और लोग मोर्चे पर खतरे झेल रहे हैं, अपनी जान और जिस्म की कुर्बानी दे रहे है। अपने अन्तर्मन की इस अपराध भावना को छिपाने के लिए हम देश-भक्ति का बहाना बना कर युद्ध की जोरदार कविताएँ रचते हैं और मच पर जोर-जोर से उनका पाठ करते हैं। युवको को मृत्यु के मुख मे झोक कर खुद आराम करने मे जो एक मनोवैज्ञानिक दश है, जो कुत्सा और ग्लानि की भावना है, उसे छिपाने अथवा उससे पलायन करने के काम मे देशभक्तिपूर्ण कविताएँ जनता को सहायता पहुँचाती हैं।

युद्ध और राष्ट्रीयता के विरुद्ध आधुनिक मनुष्य की भावना कैसे-कैसे बढी है, इसका प्रमाण हम यूरोप और अमरीका की उन कविताओ मे पाते हैं, जो प्रथम और द्वितीय महायुद्धो के समय लिखी गयी थी। और उनमे भी अधिक प्रामाणिकता हम उन कविताओ की मानते हैं, जिनकी रचना उन कवियो ने की थी, जो युद्ध के मोर्चों पर खुद पक्तियो मे खड़े थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय युद्ध के साथ राष्ट्रीयता की थोड़ी भावना जरूर लिपटी हुई थी। अगरेजी मे युद्ध काव्य के अग्रणी कवि विलफ्रेड ओएन हुए है, जिनका देहान्त प्रथम विश्वयुद्ध मे, लडाई के बीच, हुआ था। वे युद्ध की कविता को करुणा की कविता मानते थे।

मेरा गेय युद्ध है और युद्ध की करुणा।
कवित्व का वास उसकी करुणा मे है।

किन्तु, अगरेज सैनिको की कुर्बानी का दर्द उन्हे कुछ ज्यादा महसूस होता था—

रँगे हुए अधरो मे वह लाली कहाँ,
जो उन धब्बेदार पत्थरो में है,
जिन्हे मरते हुए अगरेज सिपाही ने
चूमा था ?

और यही भाव रूपर्ट ब्रुक की भी कविताओ में मिलता है।

अगर मैं मर जाऊँ
तो मेरे बारे मे केवल इतना सोचना
कि विदेश की युद्ध-भूमि मे कहीं एक कोना है,
जो हमेशा इग्लैंड रहेगा।

इन दोनो उद्धरणो से यह सकेत मिलता है कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय राष्ट्रीयता स्पष्ट निन्दा की वस्तु नही थी और शहीदो के प्रति कवियो की सहानु-

भूति यह सोचकर बढ़ जाती थी कि शहीद उनके राष्ट्रबन्धु थे। किन्तु, युद्ध मे जो एक प्रकार की बेहूदगी है, एक प्रकार की विवेकहीनता और अधा जोश है, उसकी ओर कवियो की दृष्टि प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही जाने लगी थी। और उसी युद्ध के समय कवियों को यह भी दिखायी देने लगा था कि मनुष्य का जो ऊँचा धर्म है, उसका निर्वाह युद्ध मे नही किया जा सकता।

मसखरे चूहे,
अगर वे जान गये
कि तुम्हारे हृदय में सार्वभौम प्रेम है,
तो वे तुम्हें गोली मार देंगे।

—आइज़क रोजनबर्ग

खुशनसीब वे हैं,
जो कल्पना की शक्ति को खो चुके हैं,
क्योंकि बारूद वे काफी आसानी से ढो सकेंगे।
सारी चीजों को लाल देखकर
उनकी आंखो का भय निकल गया है।
अब लहू के रंग से उन्हे तकलीफ नहीं पहुँचेगी।

—विलफ्रेड ओएन

इस युद्ध मे बहुत-से ऐसे लोग
भी मरे हैं,
जिन्हे किसी विचारधारा, देश
या ईश्वर से प्यार नहीं था।

—हर्बर्ट रीड

यह अनुभूति भी प्रथम विश्व युद्ध के समय ही उत्पन्न हो गयी थी कि लड़ाई लगाने वाले लोग लड़ाई मे नहीं मरते। लड़ाई बूढे राजनीतिज्ञ लगाते हैं, लेकिन मरना नौजवानो को पड़ता है। और राष्ट्रीयता बूढ़े राजनीतिज्ञो का ढोंग है।

टांगो या आंखो के जाने की अहमियत नहीं है।
शराब पियो, भूल जाओ और खुश रहो।
लोग तुम्हे पागल नहीं समझेंगे।
वे कहेंगे, इसने देश के लिए लड़ाई लड़ी है।
तुम्हारे बारे मे उन्हे और कोई चिंता नहीं होगी।

—सिजफ्रीड सँसून

जिससे मैं लड़ता हूँ,
उससे मुझे नफरत नहीं है।

हिन्दुस्तान मे नही, पाकिस्तान मे थी।

मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का एक स्वरूप यह भी है कि युद्ध के समय हमारे अन्तर्मन मे यह ग्लानि समायी रहती है कि हम सुरक्षित इसलिए हैं कि हमारी रक्षा करने को और लोग मोर्चे पर खतरे झेल रहे हैं, अपनी जान और जिस्म की कुर्बानी दे रहे है। अपने अन्तर्मन की इस अपराध भावना का छिपाने के लिए हम देश-भक्ति का बहाना बना कर युद्ध की जोरदार कविताएँ रचते हैं और मच पर जोर-जोर से उनका पाठ करते हैं। युवको को मृत्यु के मुख मे झोक कर खुद आराम करने मे जो एक मनोवैज्ञानिक दश है, जो कुत्सा और ग्लानि की भावना है, उसे छिपाने अथवा उससे पलायन करने के काम मे देशभक्तिपूर्ण कविताएँ जनता को सहायता पहुँचाती हैं।

युद्ध और राष्ट्रीयता के विरुद्ध आधुनिक मनुष्य की भावना कैसे-कैसे बढी है, इसका प्रमाण हम यूरोप और अमरीका की उन कविताओ मे पाते हैं, जो प्रथम और द्वितीय महायुद्धो के समय लिखी गयी थी। और उनमे भी अधिक प्रामाणिकता हम उन कविताओ की मानते हैं, जिनकी रचना उन कवियो ने की थी, जो युद्ध के मोर्चों पर खुद पक्तियो मे खडे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय युद्ध के साथ राष्ट्रीयता की थोडी भावना जरूर लिपटी हुई थी। अगरेजी मे युद्ध-काव्य के अग्रणी कवि विलफ्रेड ओएन हुए हैं, जिनका देहान्त प्रथम विश्वयुद्ध मे, लडाई के बीच, हुआ था। वे युद्ध की कविता को करुणा की कविता मानते थे।

मेरा गेय युद्ध है और युद्ध की करुणा।
कवित्व का वास उसकी करुणा मे है।

किन्तु, अगरेज सैनिको की कुर्बानी का दर्द उन्हे कुछ ज्यादा महसूस होता था—

रँगे हुए अधरो मे वह लाली कहाँ,
जो उन धब्बेदार पत्थरो मे है,
जिन्हे मरते हुए अगरेज सिपाही ने
चूमा था ?

और यही भाव रूपर्ट ब्रुक की भी कविताओ में मिलता है।

अगर मैं मर जाऊँ
तो मेरे बारे मे केवल इतना सोचना
कि विदेश की युद्ध-भूमि मे कहीं एक कोना है,
जो हमेशा इग्लैड रहेगा।

इन दोनो उद्धरणों से यह सकेत मिलता है कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय राष्ट्रीयता स्पष्ट निन्दा की वस्तु नही थी और शहीदो के प्रति कवियो की सहानु-

भूति यह सोचकर बढ़ जाती थी कि शहीद उनके राष्ट्रबन्धु थे। किन्तु, युद्ध में जो एक प्रकार की बेहूदगी है, एक प्रकार की विवेकहीनता और अंधा जोश है, उसकी ओर कवियों की दृष्टि प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही जाने लगी थी। और उसी युद्ध के समय कवियों को यह भी दिखायी देने लगा था कि मनुष्य का जो ऊँचा धर्म है, उसका निर्वाह युद्ध में नहीं किया जा सकता।

मसखरे चूहे,
अगर वे जान गये
कि तुम्हारे हृदय में सार्वभौम प्रेम है,
तो वे तुम्हें गोली मार देंगे।

—आइजक रोजनबर्ग

खुशनसीब वे हैं,
जो कल्पना की शक्ति को खो चुके हैं,
क्योंकि बारूद वे काफी आसानी से ढो सकेंगे।
सारी चीजों को लाल देखकर
उनकी आँखों का भय निकल गया है।
अब लहू के रंग से उन्हें तकलीफ नहीं पहुँचेगी।

—विलफ्रेड ओएन

इस युद्ध में बहुत-से ऐसे लोग
भी मरे हैं,
जिन्हें किसी विचारधारा, देश
या ईश्वर से प्यार नहीं था।

—हर्बर्ट रीड

यह अनुभूति भी प्रथम विश्व युद्ध के समय ही उत्पन्न हो गयी थी कि लड़ाई लगाने वाले लोग लड़ाई में नहीं मरते। लड़ाई बूढ़े राजनीतिज्ञ लगाते हैं, लेकिन मरना नौजवानों को पड़ता है। और राष्ट्रीयता बूढ़े राजनीतिज्ञों का ढोंग है।

टाँगों या आँखों के जाने की अहमियत नहीं है।
शराब पियो, भूल जाओ और खुश रहो।
लोग तुम्हें पागल नहीं समझेंगे।
वे कहेंगे, इसने देश के लिए लड़ाई लड़ी है।
तुम्हारे बारे में उन्हें और कोई चिंता नहीं होगी।

—सिजफ्रीड सैसून

जिससे मैं लड़ता हूँ,
उससे मुझे नफरत नहीं है।

जिसकी हिफाजत के लिए मैं पहरा देता हूँ,
उससे मुझे कोई प्यार नहीं है।

—डब्ल्यू० बी० येट्स

युद्ध केवल ध्वंस का विस्फोट है। वह जीवन के लिए नहीं, मृत्यु के लिए लड़ा जाता है। युद्ध के समय बचता कौन है? जो शरीर से नहीं मरता, वह नैतिक दृष्टि से निष्प्राण हो जाता है। युद्ध से निर्णय किसी बात का नहीं होता। निर्णय का हर काम फिर नये सिरे से शुरू करना पड़ता है। तो क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे युद्ध जीवन नहीं, मृत्यु के खिलाफ लड़ा जाय? यह राष्ट्रीयता नहीं, अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रेरणा है और यह प्रेरणा भी प्रथम युद्ध के समय कवियों के भीतर जग गयी थी।

हम इस उम्मीद मे हँसते थे
कि एक दिन अच्छे लोग आयेंगे
और इससे भी बड़ी लड़ाई शुरू करेंगे;
जब सिपाही गर्व से कहेगा,
मैं आदमियों के खिलाफ झंडों के लिए नहीं,
मौत के खिलाफ जिन्दगी के लिए लड़ता हूँ।

—विलफ्रेड ओएन

मनुष्यता की पीडा द्वन्द्व की पीडा है, द्विधाओं की पीड़ा है। मन से मनुष्य जो कुछ चाहता है, तन से वह उसके योग्य नहीं है। युद्ध घृणित कार्य है, युद्ध विभीषिका है, युद्ध मानवता के पतन का दृश्य है। किन्तु, उससे बचा कैसे जाय? जिस शिखर पर हम पहुँचना चाहते हैं, उसके रास्ते मे अनेक हिंसक जन्तु हैं, जो तीर्थयात्रियों पर अकारण गुर्राते है, अकारण उन पर आक्रमण करते हैं। तो यात्री क्या करे? अगर वह अहिंसक रहता है, तो हिंसक जन्तु उसे खा जायेंगे। अगर वह हिंसा करता है, तो फिर युद्ध के अवरोध का क्या उपाय है?

प्रथम विश्व-युद्ध के समय युद्ध के विरुद्ध जो अनुभूतियाँ उत्पन्न हुई, वे कवियों की कल्पना और विचारकों के मस्तिष्क में प्रश्रय पाती और पलती आ रही थी कि अचानक जर्मनी मे हिटलर सर्वेसर्वा बन बैठा। फिर स्पेन मे अधिनायकवाद और प्रजातन्त्र के आदर्शों के बीच युद्ध छिड गया। उस समय कई ऐसे लेखक और कवि भी युद्ध मे सम्मिलित हुए, जो युद्ध के खिलाफ सोचते चले आये थे। इस विवशतापूर्ण स्थिति की झाँकी हमें डब्ल्यू० एच० ओडेन की स्पेन पर लिखी कविता मे मिलती है।

सितारे डूब गये;
जीवधारी उन्हें अब नहीं देखेंगे।
हम अपनी आयु के साथ अकेले रह गये हैं।

समय बहुत थोड़ा है
और जो हार गये हैं,
इतिहास उनके साथ हमदर्दी भले ही दिखाये,
मगर वह उन्हें क्षमा नहीं करेगा।

इतिहास किसी भी पराजित जाति को क्षमा नहीं करता। जो देश सभ्यता, जरूरत से ज्यादा, सीख लेते हैं, वे बार-बार हराये जाते हैं, बार-बार गुलाम बनाये जाते हैं और इतिहास हर बार तालियाँ उनकी ओर से बजाता है, जो शान्ति और न्याय का गला घोटकर विजय प्राप्त करते हैं।

तब फिर किया क्या जाय ? उत्तर आधुनिक बोध के पास नहीं है। वह आज भी परम्परा के ही पास है। वह परम्परा कृष्ण-चेतना की परम्परा थी, जिसमें आततायियों का वध और दलन निषिद्ध कर्म नहीं था। आधुनिक बोध हैमलेट और फौस्ट की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। वह चिन्तन को अधिक, कर्म को कम महत्त्व देता है अथवा कर्म के पास जाने को वह बिलकुल ही तैयार नहीं है। संसार के सामने जो असाध्य समस्याएँ खड़ी हैं, उनका समाधान आधुनिक बोध चिन्तन से करना चाहता है, अथवा इन समस्याओं के समाधान की उसे कोई चिन्ता ही नहीं है। वह शुद्ध कला-बोध का आन्दोलन है और शुद्ध कलाकार के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि घर में जब आग लगी हो, तब भी वह पानी ढोने का काम न करके केवल आग की लपटों का वर्णन करता रहे। क्योंकि कथ्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ है, वह शैली है, जो कुछ है, वे शब्द हैं और कलाकारों की आस्था शब्दों को निवेदित होनी चाहिए।

लेकिन ऐसी तटस्थ नीति का निर्वाह वे ही कर सकते हैं, जो कर्म के भीतर अथवा उसके पास नहीं गये हैं। जो कवि द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुए, वे इतने तटस्थ नहीं थे। उनके भीतर जो अनुभूतियाँ उत्पन्न हुईं, वे तटस्थ नहीं थीं। राजनीतिज्ञों के प्रति अविश्वास और राष्ट्र-भावना के प्रति सन्देह इन कवियों में भी था, किन्तु, वे किसी ठोस चीज की तलाश में थे। उनकी चिन्ता का मुख्य विषय यह था कि क्या हमारी कुर्बानी इस बार भी बेकार होने वाली है। क्या इस बार भी हमारे रक्त का फायदा राजनीतिज्ञ ही उठा ले जायेंगे ?

चार वर्षों में हम वह कुछ सीख गये,
जिसे हमारे बाप-दादों ने नहीं सीखा था।
—बीविंग

जब शरीर मरता है,
शरीर से लगी जुएँ मर जाती हैं,
पेट में पड़े कीड़े मर जाते हैं।

मगर जुम्रो के मारने का
कोई और बढ़िया तरीका निकालना चाहिए,
जिससे जुम्रों के मारने के लिए
शरीर को मारना न पड़े।

—वीचिंग

मैं इंग्लैंड के लिए जलता हूँ,
जैसे वह खुद जल रहा है।
मैं इस उम्मीद मे जलता हूँ
कि जब शान्ति का समय आये,
लोग हमारी कुर्बानी से मुनाफाखोरी न करें।

—स्टीवार्ट

चूंकि तुम सीधे-सादे आदमी हो,
दयालु और रोमांटिक जीव हो,
तुमने नेताओं का भरोसा कर लिया,
उनकी बातों मे विश्वास कर लिया।
चूंकि तुम सीधे-सादे और विनम्र हो,
तुम्हे दूसरी बार भी धोखा खाना पड़ा।
इसलिए, अब लड़ो,
बहादुर बनो,
बेरहम और बेदर्द बनो,
हत्यारे बनो
और मर्दानगी से अपने काम को अंजाम दो।
अनावश्यक युद्ध मे लड़ना पाप है।
बहादुरी पाप है, विजय भी पाप है।
लेकिन हारना उससे भी बड़ा पाप होगा।

—जेफर्स

युद्ध जिस बेवसी के कारण लड़ा जाता है, यह कविता उस बेवसी का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। आदमी युद्ध का पीछा नही करता, युद्ध ही मनुष्य का पीछा करता है। और जब वह हमे अपने दाँतो से पकड़ लेता है, हम अपनी जान बचाने को उससे संघर्ष करते हैं। आत्मरक्षा परक युद्ध को परम्परा धर्म-युद्ध मानती थी। किन्तु, आधुनिक-बोध ऐसे युद्ध से भी भागना चाहता है। वह उसकी जिम्मेदारी राजनीतिज्ञों पर डालकर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय सेना मे भर्ती होने वाले नौजवानो को सम्बोधित करके हर्बर्ट रीड ने लिखा था—

हम वहाँ गये थे, जहाँ तुम अब जा रहे हो।
हम वह सब दे चुके हैं, जो तुम्हे अब देना पडेगा
—यानी अपना दिमाग, लोहू और पसीना।
विजय हमारी पराजय निकली।
सत्ता उन्हीं के हाथो मे रह गयी,
जिन्होने उसका दुरुपयोग किया था।
और नयी पीढ़ी को यह विरासत मिली
कि आग की जो चिनगारियाँ
हमारे पाँवो के पास राख हो गयी थीं,
उन्हे वह बुहारे और साफ करे।

—हर्बर्ट रीड

और मैकलिश ने मरे हुए सिपाही की ओर से कहा था—

वे कहते हैं, हम तो अपनी जान दे चुके।
मगर जब तक लड़ाई खत्म नहीं होती,
हम यह कैसे समझें
कि हमारी मौत से तुम्हें क्या मिला ?
वे कहते हैं, हम नहीं जानते
कि हमारी जिन्दगी और मौत का
कोई अर्थ था या नहीं।
अपनी मौत मैं तुम्हे सौंपता हूँ।
ऐसा करना कि मेरी मौत मे
कोई मानी आ जाय।
मेरी मौत युद्ध के अन्त को समर्पित करना,
सच्ची शान्ति को समर्पित करना।
ऐसा करना कि मेरी मौत मे
कोई मानी आ जाय।

कर्म से दूर बैठे तटस्थ कवि की आवाज एक तरह की होती है, कर्म के अन्त-राल में खड़े कवि की आवाज दूसरी तरह की होती है। कर्म से अलग बैठा हुआ कवि यह कहकर अपने को संतोष देता है कि लड़ाई दो-चार साल तक ही चलती है। मनुष्य का औसत जीवन शान्ति का जीवन होता है। अतएव, लड़ाई को भूल-कर रंगों की दुनिया में मन को भुलाये रखना ही ठीक है। मगर, लड़ाई जब आती है, शान्ति की सदियों की कमाई को क्षण मात्र में ध्वस्त कर देती है। ओवेन अंग्रेज कवि थे, जिन्हें युद्ध में जाना पड़ा था। उन्होंने युद्ध की विभीषिका का वर्णन करके मनुष्य को उसका सही रूप दिखाया और संसार भर के राजनीतिज्ञों का

यह सलाह दी कि किसी प्रकार युद्ध के रोकने का उपाय सोचो। युद्ध के कवियो ने जो कुछ लिखा, वह रगीन पोलेपन की कविता नही है। उसमे अर्थ है, भावाकुलता है, कर्म की प्रेरणा और मानवता के लिए निश्चित सन्देश है। कविता जब कर्म के अन्तराल से फूटती है, तब वह ऐसी ही प्रेरणामयी होती है। आधुनिक बोध की मुख्य बाधा यह है कि उसे ऐसे कलाकार नही मिल रहे हैं, जिनका कर्मठ जीवन के बीच प्रमुख स्थान हो।

वैयक्तिकता और साम्यवाद

किन्तु, सम्यवादी देशो की मान्यता पश्चिम के आधुनिक बोध के ठीक विपरीत है। इलियट ने लिखा है कि कवि की आवाजें तीन प्रकार की होती हैं। एक आवाज वह होती है, जब कवि अपने आपको सम्बोधित करता है। दूसरी आवाज वह है, जब वह दूसरो को सम्बोधित करता है। और तीसरी आवाज वह है, जब उसे नाटक के पात्रो के मुख से बोलना पड़ता है। पश्चिम के कवियो का स्वर मुख्यत', अपने-आपको सम्बोधित करनेवाला स्वर है और साम्यवादी देशो मे कवि प्राय दूसरो को सम्बोधित करके लिखते हैं। यह ठीक है कि दूसरो को सम्बोधित कविताएँ पश्चिम मे भी लिखी जा रही हैं और अपने आपको संबोधित करनेवाले कवि अब रूस मे भी पैदा होने लगे हैं, किन्तु, आधुनिक बोध के जो दो रूप ससार मे आज प्रचलित हैं, उनके बीच यह भी एक भेद है।

जब तक साम्यवाद का आविर्भाव नही हुआ था, संसार भर के साहित्य का स्वभाव एक था, परम्परा एक थी। तीन प्रकार की आवाजें काव्य और नाटक मे तब भी चलती थी, किन्तु, उस समय कवि जब अपने आपको सम्बोधित करता था, तब भी वह यह ध्यान रखता था कि उसकी कृतियाँ केवल उसी के लिए नही हैं, उन्हे और लोग भी पढ़ेंगे। किन्तु, पश्चिम के कलाकार अब इस चिन्ता को कोई महत्त्व नही देते। यह चिन्ता अगर प्रमुखता से कही काम करती है, तो साम्यवादी देशो के कलाकारो मे काम करती है।

इस पर से यह अनुमान, स्वभावत ही, उत्पन्न होता है कि स्थिति यदि ऐसी है, तो साम्यवादी कला परम्परा का पालन मात्र है। वह उन अनुभूतियो पर कोई ध्यान नही देती, जो अनुभूतियाँ बोदलेयर, मलार्मे, रेम्बू, रिल्के, काफका—यहाँ तक कि रूसी कवि ब्लाक और रूसी उपन्यासकार दोस्तावास्की मे उत्पन्न हुई थीं। साम्यवादी कला उस दर्द को नहीं समझती, जिसकी ऐंठन और टीस से घबरा कर पश्चिम में कला ने अन्तर्मुखी यात्रा आरम्भ की है। साम्यवाद को कला की उस उमग पर भी सन्देह है, जिसकी प्रेरणा मे भर कर वह वैयक्तिकता के उच्चतम शिखर पर चढ़ना चाहती है अथवा उसके गहनतम अन्धकार मे विचरण करना चाहती है।

चित्रवाद और अभिव्यजनावाद से साम्यवाद को परहेज नहीं है, क्योंकि इन आन्दोलनों का सम्बन्ध कारीगरी और पच्चीकारी से पड़ता है और साम्यवादी कला अगर अपने को आकर्षक बनाना चाहे, तो कारीगरी की जरूरत उसे कम नहीं, कुछ ज्यादा ही महसूस होगी। किन्तु, प्रतीकवाद साम्यवाद को तनिक भी पसन्द नहीं है, क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल कारीगरी से न होकर, दृष्टि की अन्तर्भेदिनी शक्ति से भी है, अध्यात्म और धर्म से भी है। साम्यवाद कलात्मक आन्दोलनों के उन सारे उपकरणों को स्वीकार करता है, जिनसे अभिव्यक्ति की वेधकता में वृद्धि होती है, कारीगरी में खूबसूरती आती है और साहित्य अधिक सुन्दर तैयार होता है। किन्तु, वह कला की ऐसी सभी व्याप्तियों के विरुद्ध है, जिनसे वैयक्तिकता की वृद्धि होती हो, मनुष्य के भीतर आध्यात्मिक तृषा को प्रोत्साहन मिलता हो और आदमी का ध्यान उस लोक की ओर जाता हो, जो धर्म और रहस्यवाद का लोक है।

पश्चिमी आधुनिक-बोध ने नैतिकता के पारपरीण मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया को तेज कर दिया है, किन्तु, साम्यवाद, एक हद तक, पवित्रतावाद का समर्थन करता है। वह अपने कलाकारों को ऐसा साहित्य लिखने की छूट नहीं दे सकता, जिसके प्रचार से नैतिक मूल्य ढीले होते हैं तथा समाज में कदाचार की वृद्धि होती है।

पश्चिम के आधुनिकतावादी वैयक्तिकता की साधना में इतनी दूर चले गये हैं कि अब वहाँ वैयक्तिक बहक भी कला की वस्तु मानी जाती है। किन्तु, साम्यवादी देशों में ऐसी बहक के लिए छूट नहीं है। साम्यवादी देशों के कलाकार एक खास विचारधारा के अधीन काम करते हैं, जिसका नाम 'समाजवादी वस्तुवाद' चलता है। अभिव्यक्ति की सफाई और पूर्णता वे भी चाहते हैं, किन्तु, अभिव्यक्ति, शैली, रूपक और बिम्ब, ये उनकी दृष्टि में साहित्य के साध्य नहीं, साधन हैं। शैली की सारी खूबियाँ इसलिए ग्राह्य हैं कि उनसे कथ्य के निरूपण में सहायता मिलती है।

साम्यवादी कलाकार केवल अपने लिए नहीं लिखते। उनका उद्देश्य पाठकों को साथ ले चलना है। साहित्य का सृजन वे इस आशय से करते हैं कि उससे समाजवादी व्यवस्था मजबूत होगी यानी लोग उससे यह प्रेरणा लेंगे कि समाज के गुट से अलग अपने वैयक्तिक सुख की खोज करना पाप है। जितना सुख समाज के औसत सदस्य को प्राप्त है, हमें उससे अधिक सुख पाने का नैतिक अधिकार नहीं है। जो लोग साम्यवाद के विरुद्ध हैं, साम्यवादी लेखक उनके विरोध में भी साहित्य तैयार करते हैं। प्रचार का सिद्धान्त पाश्चात्य देशों में निन्दित हो गया है। लेकिन, साम्यवादी लेखक और कवि प्रचार को निन्दित सिद्धान्त नहीं मानते।

साम्यवाद वैसे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है और राष्ट्रीयता के विरुद्ध उसका

प्रचार काफी जोर से चलता है। किन्तु, रूस पर जब हिटलर ने आक्रमण किया, तब रूसी वीर पूरे राष्ट्रीय जोश के साथ शत्रु के खिलाफ लड़े थे और उस समय रूस के कवियों ने उन्मादक राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी थीं।

पाश्चात्य देशों के चिन्तकों का ख्याल है कि साम्यवादी देशों के लेखक और कवि ठीक उसी तरह से लिखना नहीं चाहते, जैसे सरकार के भय से उन्हें लिखना पड़ता है। पूरे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के बिना कोई भी लेखक या कवि वह चीज नहीं लिख सकता, जिसमें उसकी अपनी आत्मा का पूरा सन्तोष हो। लेकिन चूँकि यह स्वातन्त्र्य साम्यवादी देशों के कलाकारों को सुलभ नहीं है, इसलिए वे जो कुछ लिखते हैं, उसमें उनकी आत्मा की आवाज नहीं होती, वह बेगार की लिखाई होती है।

कई बार रूस के लेखकों ने इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया है कि लिखने के मामले में हम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं और जो कुछ हम लिखते हैं, अपने ही विश्वास के अनुसार लिखते हैं। किन्तु, इस उत्तर से पाश्चात्य देशों के मनीषियों को सन्तोष नहीं होता। वे मानते हैं कि यह उत्तर भी किसी भय के ही अधीन दिया जा रहा है।

किन्तु, ऐसा भी नहीं है कि साहित्य में सामाजिक भावनाओं को महत्त्व केवल साम्यवादी देशों में दिया जाता है और वैयक्तिक भावना वाले कवि केवल पाश्चात्य देशों में जन्म लेते हैं। इंग्लैण्ड के डब्ल्यू० एच० ओडेन और जर्मनी के बर्टोल्ट ब्रेक्ट ऐसे कवि हैं, जो रूस में पैदा होते, तो वहाँ भी खप सकते थे। इसी प्रकार, रूस के दो कवि पास्तरनेक और एन्तेशेंकू ऐसे कवि हैं, जो पाश्चात्य देशों की आत्मा के बहुत समीप हैं। आर्थर कोसलर, जो पहले साम्यवादी थे और अब साम्यवाद के विरोधी हो गये हैं, प्रचार उसी सिद्धान्त का करते हैं, जो पाश्चात्य साहित्यकारों का स्वीकृत सिद्धान्त है। किन्तु, कोसलर की अपनी रचनाएँ सोद्देश्य ही होती हैं।

इसी प्रकार, जार्ज आरवेल ने जो कुछ लिखा, उसमें प्रचार स्पष्ट रूप से विद्यमान था, गरचे सिद्धान्त के स्तर पर वे भी यही मानते थे कि साहित्यकार की वैयक्तिकता अगर स्वतन्त्र नहीं रही, तो उच्च साहित्य का सृजन वह नहीं कर पायेगा। हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन के अधिनायकवादी तन्त्र से मनुष्य की वैयक्तिकता जिस भयानक रूप से आहत हुई थी, उससे आरवेल को भारी चोट पहुँची थी और उन्होंने साहित्यकारों को चेतावनी दी थी कि मानवता पर होने वाले इस भयानक अत्याचार का विरोध अगर साहित्यिकों ने प्रतिबद्ध होकर नहीं किया, तो मानवता के सारे ऊँचे मूल्य विनष्ट हो जायेंगे और मानव समाज, जो अपनी वैयक्तिकता पर इतना नाज करता है, केवल भैंसों का बथान (एनिमल फार्म) बनकर रह जायेगा, जहाँ भैंसें दूध देती हैं और चरवाहे उसे पीकर भैंसों पर राज

करते हैं।

प्रचार को आरवेल भी साहित्य मे स्थापित करना चाहते थे, किन्तु, इसे वे धर्म नही, आपद्धर्म मानते थे। युद्ध धर्म नही, आपद्धर्म है। जो देश युद्ध लड़ना नही चाहते, युद्ध उनके ऊपर भी थोपे जाते हैं, क्योकि शान्ति की स्थापना दो के मेल के बिना नही हो सकती, लेकिन युद्ध एक पक्ष भी शुरू कर सकता है। और जब युद्ध आ गया, तो फिर उसे भी लडना ही पड़ता है, जो युद्ध से सच्चे मन से घृणा करता है। आरवेल की चिन्तन-पद्धति यह थी कि साहित्य सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र कला है और साहित्यिको का व्यक्तित्व बिलकुल अनूठी, बिलकुल अद्वितीय वस्तु है। किन्तु, अधिनायकवादी तन्त्र ने अनेक देशो मे साहित्यकारों के व्यक्तित्व पर अपने टँक चढ़ा दिये हैं और उनकी योजना है कि धीरे-धीरे यह तन्त्र सारे ससार मे फैल जाय और ससार भर के लेखक, कवि और कलाकार, उसी प्रकार राजनीति की दासता स्वीकार कर लें, जैसे साम्यवादी देशो के साहित्यकारो ने स्वीकार कर ली है। यह बहुत बडा खतरा है और उससे जूझने को ससार भर के साहित्यिको को सजग हो जाना चाहिए।

यह बहुत कुछ वैसा ही दृश्य है, जैसा दृश्य हम भारत मे देख रहे हैं। भारत बुद्ध, अशोक और गांधी का देश है। अहिंसा को वह परम धर्म मानता है। किन्तु, हिंसक पडोसियो के आतक से विचलित होकर उसे भी अब वही कुछ करना पड़ रहा है, जो काम वे देश करते हैं, जिनका अहिंसा की महिमा मे कोई भी विश्वास नहीं है।

प्रचार साहित्य का गुण नही, अवगुण है। किन्तु, प्रचार को साहित्य का गुण समझनेवाले लोग प्रचार को साहित्य का अवगुण समझनेवालो पर इस जोर से चढे आ रहे हैं कि शुद्धतावादियो के शिविर मे हडकप मच गया है और दुश्मन मे भिड़ने के लिए वे भी उस शस्त्र का उपयोग करने की मजबूरी महसूस करने लगे हैं, जो विरोधियो का शस्त्र है। बुद्ध और गांधी की रक्षा बुद्ध और गांधी के मार्ग से करना असभव प्रतीत हुआ। अतएव, भारतवासी बुद्ध और गांधी की रक्षा के लिए बुद्ध और गांधी से भाग खडे हुए। जार्ज आरवेल का भी विचार था कि साहित्य की शुद्धता की रक्षा शुद्धतावादी उपायों से नही की जा सकती। उसकी रक्षा के लिए हमें प्रचार का अवलब लेना चाहिए। क्योकि अधिनायकवादी अभियान को रोकने मे अगर मानवता असफल हो गयी, तो नुकसानी उनकी नहीं होगी, जो खेती, नौकरी या व्यवसाय से अपनी जीविका चलाते हैं, बल्कि मानवता की पराजय का दण्ड उन्हें भोगना पडेगा, जो बौद्धिक शक्तियों तथा चिंतन की स्वतन्त्रता को अपना असली असबाब समझते हैं।

किन्तु, आरवेल और कोसलर के विचारो का लेखको और कवियो पर कोई खास प्रभाव पड़ा हो, ऐसा नहीं दीखता है। शुद्धतावादी लेखक और कवि शुद्धता

की मीनार से उतरने को तैयार नहीं हैं। उनकी मान्यता यह हो गयी है कि लड़ाई ठंडी हो या गर्म, वह साहित्य के लड़ने की चीज नहीं है। साहित्य तो खुद वह सपदा है, जिसकी रक्षा के लिए युद्ध लड़े जाते हैं। कर्म साहित्यकार के लिए वर्जित क्षेत्र है और जिन विचारों से कर्म को प्रेरणा मिलती है, वे विचार भी साहित्य के लिए वर्जनीय हैं। साहित्यकार को न तो सैनिक बनना चाहिए, न उन्हें प्रेरित करना उसका काम है, जो सैनिक बनकर युद्ध क्षेत्र में जा रहे हैं।

किन्तु, शुद्धतावाद को खतरा क्या केवल साम्यवाद से है? जिन कारणों से साम्यवाद लेखकों का नियत्रण करने में सफल हुआ है, वे कारण सभी देशों में मौजूद हैं और जहाँ वे आज मौजूद नहीं हैं, वहाँ वे कल मौजूद हो जायेंगे। शुद्धतावाद को असली खतरा यत्र से है, असली खतरा विज्ञान से है। विज्ञान ने राज्य के हाथ में अपरिमित शक्तियाँ रख दी हैं। इन शक्तियों के सुनियोजित प्रयोग से राजा जैसा भी नागरिक चाहे, तैयार कर सकता है, जैसी भी विचारधारा चाहे, फैला सकता है और अगर राज्य के आशय बुरे हो जायँ, तो वह साहित्यकारों की अकड़ को भी तोड़ सकता है।

यह सत्य है कि मनीषी मानवता के अकल्याण की बात तभी तक नहीं सोचता, जब तक वह स्वावलबी और स्वाधीन है। ज्यों ही वह सरकार या सेठ का आश्रय लेता है, यह सभावना उत्पन्न हो जाती है कि सारी बातें वह मानवता के कल्याण के लिए नहीं सोचेगा। उसे कुछ ऐसी बातें भी सोचनी पड़ सकती हैं जिनसे सेठ या सरकार का तो भला होगा, मगर उनसे सारी मानवता का भला नहीं होगा। सेठों या सरकारों के साथ मिलकर काम करने में वैसे कोई बुराई नहीं दीखती। बुराई तब पैदा होती है, जब सरकार के आशय बुरे हो जाते हैं। प्रत्येक सरकार अपनी प्रजा का कल्याण और शत्रु देश का अकल्याण चाहती है। इसीलिए, वैज्ञानिक जब से सरकारों के अधीन काम करने लगे हैं, तब से बड़ी ईजादें घातक शक्तियों की हुई हैं। जब वे सरकार से अलग अपने घरों में काम करते थे तब तक आविष्कार उन्होंने ग्रामोफोन का किया था, दूरभाष और वायुयान का किया था, बिजली और भाप की ताकतों का किया था। किन्तु, जब से वे सरकार की मुट्ठी में गये हैं, आविष्कार उन्होंने परमाणु बम और हाइड्रोजन बम का किया है, राकेट और मिसाइल का किया है। पाप विज्ञान का नहीं है। पापी वे सस्थाएँ हैं, जो आविष्कार तो शत्रु के दमन के लिए करती हैं, लेकिन बाद को खुद भी उन्हीं आविष्कारों का शिकार हो जाती हैं।

उम्मीद करता है, जिस उम्मीद के कारण स्टालिन बदनाम हुआ। राजनीतिज्ञो की आदत है कि लोक-मच से अभिनन्दन वे गांधी का करते हैं, किन्तु, दफ्तर की कुर्सी पर जाते ही प्रयोग वे मैकियावेली का करने लगते है। और विज्ञान की अपरिमित शक्तियो पर अधिकार होने के कारण, आज के शासक वे सारे काम आसानी से कर सकते है, जिन कामो को पहले के शासक अजाम नही दे सके थे।

अधिनायकवादी व्यवस्था जितनी ही मजबूत होती जाती है, शुद्धतावादी कलाकारो का आतक उतना ही बढता जाता है, उनका आत्मविश्वास उतना ही क्षीण होता जाता है। अधिनायकवादी और प्रजातत्री देशो मे मनुष्य की वैयक्तिकता पर राजनीति का दबाव जैसे-जैसे फैलता है, शुद्धतावादी कलाकार वैसे ही वैसे अपनी वैयक्तिता से और भी जोर से चिपके जाते है। अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की चिन्ता लेखको मे आज जितनी प्रखर है, उतनी प्रखर वह सारे इतिहास मे और कभी दिखायी नही पड़ी थी। सभ्यता के सभी मूल्यो मे अविश्वास की घोषणा, प्रचलित नैतिकता का मुँह चिढाने का जोश और रह-रह कर जन-रुचि को धक्के देने की प्रवृत्ति, उसी चिन्ता की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ है। सार्त्र ने लिखा है कि बोदलेयर पाप इसलिए भी करते थे कि वे अपने-आपको यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं जो चाहूँ, कर सकता हूँ। आधुनिक लेखक और कवि भी बहुत से काम केवल इस भाव से करते है, जिससे उन्ह विश्वास हो कि उनका व्यक्तित्व अक्षुण्ण है तथा उनकी स्वतन्त्रता की भावना इतनी प्रबल है कि वह राजा तो क्या, प्रजा की भी परवाह नही करती।

कवि के व्यक्तित्व को लेकर साम्यवादी और प्रजातत्री देशो के कलाकारो के बीच जो मतभेद है, उसे हम अतिरजित मानते हैं। मार्क्सवादी आलोचको की यह स्थापना गलत नही है कि राजनीति की तरह साहित्य भी समाज से प्रभावित होता है। किन्तु, जो बात मार्क्सवादी आलोचक भूल जाते हैं, वह यह है कि साहित्य पर समाज का यह प्रभाव कवियो के व्यक्तित्व के माध्यम से पडता है। समाज का जीना उसके सदस्यो का ही जीवित रहना है। जब हम यह कहते हैं कि समाज दुखी है, तब उसका अर्थ यही होता है कि समाज मे रहने वाले व्यक्ति दुखी हैं। इसी प्रकार, समाज का सुखी होना भी उसके व्यक्तियो का ही सुखी होना है। व्यक्तियो से अलग समाज की कोई कल्पना नही की जा सकती और जहाँ समाज नियन्त्रित किया जाता है, वहाँ भी नियत्रण, असल म, व्यक्तियो का ही होता है।

जैसे श्रेष्ठ कवियो मे समाज और व्यक्ति का सघर्ष भयानक रूप नही लेता, उसी प्रकार, परपरा और व्यक्ति के बीच भी श्रेष्ठ कवि सामजस्य खोज लेते हैं। कदम-कदम पर परपरा की दुहाई देना विकास की स्वाभाविक प्रगति मे अवरोध डालना है। कट्टर से कट्टर समाज के भीतर भी ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो परपरा

की सीमा के अतिक्रमण की अनिवार्यता अनुभव करते हैं। युग परपरावादी हो, तब भी कवि, व्यक्ति के रूप मे नयी अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। ये अनुभूतियाँ परपरा के विरुद्ध पड सकती हैं, किन्तु, उनका चित्रण आवश्यक होता है। अगर ये अनुभूतियाँ न लिखी जायँ, तो साहित्य मे ताजगी नही रहेगी और स्वय कलाकार का व्यक्तित्व गतानुगतिक, एकरस और नि स्वाद हो जायगा।

वैयक्तिकता की समस्या का एक रूप यह भी है कि पुराने समय की कविताएँ उस चेतना से उपजी थी, जिसमे व्यक्ति और समाज की चेतनाएँ एकाकार थी। जब व्यक्ति और समाज की चेतना एक थी, उस समय साधारणीकरण का कार्य कवि के लिए कठिन नही होता था। किन्तु, अब वैयक्तिक चेतना समाज की चेतना से अधिक बलशालिनी हो गयी है और वह उसके दबाव को फेंक कर अपनी स्वतत्र सत्ता के साथ ऊपर आ गयी है। यही नही, अब वैयक्तिक चेतना आक्रमणकारी ढग से काम करने लगी है। परिणाम यह हुआ है कि कवि अपने भावो का साधारणीकरण या तो जान बूझ कर नही करता अथवा साधारणीकरण की प्रक्रिया उसके वश के बाहर हो गयी है। शायद पिछला विकल्प ही ज्यादा सही है। कवि की वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना से इतनी विभक्त हो गयी है कि साधारणीकरण के लिए अब कही कोई आधार नही है। स्पष्ट ही, जिस देश के कवि और लेखक एक नये स्वप्न को आकार देने के लिए काम कर रहे हैं, वे अगर आधुनिकता के इस दुर्गुण को अपनायेंगे, तो उनका उद्देश्य पूरा नही होगा। जिस साहित्य का साधारणीकरण का आधार टूटा हुआ अथवा लुप्त है, वह कभी भी जनता के बीच प्रसार नही पायेगा। साहित्य के एक अन्यतम चिंतक कॉलरिज ने कहा था, "जिसे हम निखालिस वैयक्तिक स्थिति कहते हैं, उसे लेकर श्रेष्ठ कविता नहीं लिखी जाती है।" अर्थात् जो स्थितियाँ साधारणीकरण के वृत्त मे आने से इन्कार करें, उन्हे अलिखित ही छोड देना चाहिए।

विज्ञान का प्रभाव

आधुनिक साहित्य आधुनिक इसलिए नही है कि उसके सारे के सारे विषय नवीन हैं। आधुनिक वह इसलिए है कि उसके पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति नवीन है, मनोदशा, मानसिकता और दृष्टि नवीन है। लेखक की दिलचस्पी विषय मे न हो कर उसे देखने वाली नयी दृष्टि मे है और पाठक भी उसी नवीन दृष्टि का प्रेमी होने के कारण इस साहित्य की ओर उन्मुख होता है।

लेकिन, इस नयी दृष्टि के लक्षण क्या हैं? शैली के पक्ष मे इस दृष्टि का प्रधान लक्षण विज्ञान के अनुकरण का भाव है। चूँकि विज्ञान आवेशमयी भाषा का प्रयोग नही करता, नये लेखक और कवि भी आवेशमयता से बचे रहना चाहते हैं। चूँकि विज्ञान शब्दो के मामले मे मितव्ययी होता है,

अतएव, नवलेखन भी शब्दों की मितव्ययिता बरतना चाहता है। और चूंकि विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन होता है, अतएव, नये लेखक और कवि भी कल्पना की लगाम हमेशा अपने हाथ में रखते हैं और बराबर सतर्क रहते हैं कि उनका वर्णन अतिरंजित न हो जाय। वैज्ञानिक का एक लक्षण यह भी है कि वह दूसरों को प्रभावित करने को न तो एक शब्द लिखता है, न एक शब्द बोलता है। अगर वह दूसरों पर प्रभाव जमाने की कोशिश करे तो जनता वैज्ञानिक पर सन्देह करने लगेगी। इसका प्रभाव साहित्य पर यह पड़ा है कि अब साहित्यकार भी श्रोताओं को प्रभावित करना नहीं चाहते। प्रभावित करने वाले गुण को वे "रेटारिक" कहते हैं और रेटारिक अथवा आतंकारिता साहित्य में अब दोष मानी जाती है।

प्रभाव जमाने की चिन्ता उस कवि को होती है, जिसके सामने कोई उद्देश्य है और जिसकी ओर वह समाज को मोड़ना चाहता है। किन्तु, जिस कवि के सामने कोई भी उद्देश्य नहीं है, वह प्रभाव जमानेवाली शक्ति का उपयोग क्यों करेगा? वह अपनी अनुभूतियों के चित्र दिखा कर पाठकों की शान्ति भंग कर सके, तो इतनी उपलब्धि उसके लिए काफी है।

किन्तु, विज्ञान की एक विशेषता और है जिसका अनुकरण साहित्यकार नहीं कर रहे हैं। वह यह कि वैज्ञानिक एक शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में करता है, जब कि कविता में प्रयुक्त शब्दों से अक्सर अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं। जब तक यह नहीं होता, कविता वैज्ञानिक सुनिश्चितता का दावा नहीं कर सकती और कहीं शब्दों की एकार्थक सुनिश्चितता कविता में भी आ गयी, तो फिर कविता का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, क्योंकि तब जो कुछ होगा, विज्ञान होगा, कविता की आवश्यकता मनुष्य को नहीं रहेगी।

किन्तु, कवियों को यह चिंता जरूर है कि प्रत्येक भाव-भंगिमा के लिए एक अलग शब्द होता, तो बात बहुत अच्छी होती। माँ का प्रेम, बहन का प्रेम और सखी का प्रेम, ये सभी प्रेम एक ही नहीं हैं। किन्तु, शब्द-कोष की दरिद्रता के कारण हमें एक ही शब्द से प्रेम के अनेक रूपों को व्यंजित करना पड़ता है। यह चिंता बताती है कि कवि वैज्ञानिक सुनिश्चितता के लिए बेचैन है, किन्तु, भाषा में शब्दों की कमी होने के कारण वे लाचार हो जाते हैं। विज्ञान कविता का विरोधी शास्त्र है, इस सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त की ओर से नये कवियों की दृष्टि हट गयी है और वे आँख मूंद कर विज्ञान का अनुकरण उतनी दूर तक करने लगे हैं, जितनी दूर तक यह अनुकरण किया जा सकता है।

विज्ञान से निकली हुई दूसरी शिक्षा बुद्धिवाद की है, जिसका प्रभाव साहित्य पर बड़े जोर से पड़ा है। जो बात बुद्धि में नहीं समाती, उसका वर्णन साहित्य में भी नहीं किया जाना चाहिए। इस मान्यता के कारण धर्म और पुराण के का

को सीमा के अतिक्रमण की अनिवार्यता अनुभव करते है। युग परपरावादी हो, तब भी कवि, व्यक्ति के रूप मे नयी अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। ये अनुभूतियाँ परपरा के विरुद्ध पड सकती हैं, किन्तु, उनका चित्रण आवश्यक होता है। अगर ये अनुभूतियाँ न लिखी जायँ, तो साहित्य मे ताजगी नही रहेगी और स्वय कलाकार का व्यक्तित्व गतानुगतिक, एकरस और नि स्वाद हो जायगा।

वैयक्तिकता की समस्या का एक रूप यह भी है कि पुराने समय की कविताएँ उस चेतना से उपजी थी, जिसमे व्यक्ति और समाज की चेतनाएँ एकाकार थी। जब व्यक्ति और समाज की चेतना एक थी, उस समय साधारणीकरण का कार्य कवि के लिए कठिन नही होता था। किन्तु, अब वैयक्तिक चेतना समाज की चेतना से अधिक बलशालिनी हो गयी है और वह उसके दबाव को फेंककर अपनी स्वतन्त्र सत्ता के साथ ऊपर आ गयी है। यही नही, अब वैयक्तिक चेतना आक्रमणकारी ढग से काम करने लगी है। परिणाम यह हुआ है कि कवि अपने भावो का साधारणीकरण या तो जान बूझ कर नही करता अथवा साधारणीकरण की प्रक्रिया उसके वश के बाहर हो गयी है। शायद पिछला विकल्प ही ज्यादा सही है। कवि की वैयक्तिक चेतना सामाजिक चेतना से इतनी विभक्त हो गयी है कि साधारणीकरण के लिए अब कही कोई आधार नही है। स्पष्ट ही, जिस देश के कवि और लेखक एक नये स्वप्न को आकार देने के लिए काम कर रहे हैं, वे अगर आधुनिकता के इस दुर्गुण को अपनायेंगे, तो उनका उद्देश्य पूरा नही होगा। जिस साहित्य का साधारणीकरण का आधार टूटा हुआ अथवा लुप्त है, वह कभी भी जनता के बीच प्रसार नही पायेगा। साहित्य के एक अन्यतम चिंतक कॉलरिज ने कहा था, "जिसे हम निखालिस वैयक्तिक स्थिति कहते हैं, उसे लेकर श्रेष्ठ कविता नहीं लिखी जाती है।" अर्थात् जो स्थितियाँ साधारणीकरण के वृत्त मे आने से इन्कार करें, उन्हे अलिखित ही छोड देना चाहिए।

विज्ञान का प्रभाव

आधुनिक साहित्य आधुनिक इसलिए नही है कि उसके सारे के सारे विषय नवीन हैं। आधुनिक वह इसलिए है कि उसके पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति नवीन है, मनोदशा, मानसिकता और दृष्टि नवीन है। लेखक की दिलचस्पी विषय मे न हो कर उसे देखने वाली नयी दृष्टि मे है और पाठक भी उसी नवीन दृष्टि का प्रेमी होने के कारण इस साहित्य की ओर उन्मुख होता है।

लेकिन, इस नयी दृष्टि के लक्षण क्या हैं? शैली के पक्ष मे इस दृष्टि का प्रधान लक्षण विज्ञान के अनुकरण का भाव है। चूंकि विज्ञान आवेशमयी भाषा का प्रयोग नही करता, नये लेखक और कवि भी आवेशमयता से बचे रहना चाहते हैं। चूंकि विज्ञान शब्दो के मामले मे मितव्ययी होता है,

अतएव, नवलेखन भी शब्दों की मितव्ययिता बरतना चाहता है। और चूँकि विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन होता है, अतएव, नये लेखक और कवि भी कल्पना की लगाम हमेशा अपने हाथ में रखते हैं और बराबर सतर्क रहते हैं कि उनका वर्णन अतिरंजित न हो जाय। वैज्ञानिक का एक लक्षण यह भी है कि वह दूसरों को प्रभावित करने को न तो एक शब्द लिखता है, न एक शब्द बोलता है। अगर वह दूसरों पर प्रभाव जमाने की कोशिश करे तो जनता वैज्ञानिक पर सन्देह करने लगेगी। इसका प्रभाव साहित्य पर यह पड़ा है कि अब साहित्यकार भी श्रोताओं को प्रभावित करना नहीं चाहते। प्रभावित करने वाले गुण को वे "रेटारिक" कहते हैं और रेटारिक अथवा आलंकारिकता साहित्य में अब दोष मानी जाती है।

प्रभाव जमाने की चिन्ता उस कवि को होती है, जिसके सामने कोई उद्देश्य है और जिसकी ओर वह समाज को मोड़ना चाहता है। किन्तु, जिस कवि के सामने कोई भी उद्देश्य नहीं है, वह प्रभाव जमानेवाली शक्ति का उपयोग क्यों करेगा? वह अपनी अनुभूतियों के चित्र दिखा कर पाठकों की शान्ति भंग कर सके, तो इतनी उपलब्धि उसके लिए काफी है।

किन्तु, विज्ञान की एक विशेषता और है जिसका अनुकरण साहित्यकार नहीं कर रहे हैं। वह यह कि वैज्ञानिक एक शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में करता है, जब कि कविता में प्रयुक्त शब्दों से अक्सर अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं। जब तक यह नहीं होता, कविता वैज्ञानिक सुनिश्चितता का दावा नहीं कर सकती और यदि शब्दों की एकार्थक सुनिश्चितता कविता में भी आ गयी, तो फिर कविता का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, क्योंकि तब जो कुछ होगा, विज्ञान होगा, कविता की आवश्यकता मनुष्य को नहीं रहेगी।

किन्तु, कवियों को यह चिंता जरूर है कि प्रत्येक भाव-भंगिमा के लिए एक अलग शब्द होता, तो बात बहुत अच्छी होती। माँ का प्रेम, बहन का प्रेम और सखी का प्रेम, ये सभी प्रेम एक ही नहीं हैं। किन्तु, शब्द-कोष की दरिद्रता के कारण हमें एक ही शब्द से प्रेम के अनेक रूपों को ध्वनित करना पड़ता है। यह चिंता बताती है कि कवि वैज्ञानिक सुनिश्चितता के लिए बेचैन हैं, किन्तु, भाषा में शब्दों की कमी होने के कारण वे लाचार हो जाते हैं। विज्ञान कविता का विरोधी शास्त्र है, इस सुपरीक्षित सिद्धान्त की ओर से नव कवियों की दृष्टि हट गयी है और वे आँख मूँद कर विज्ञान का अनुकरण उतनी दूर तक करने लगे हैं, जितनी दूर तक यह अनुकरण किया जा सकता है।

विज्ञान से निकली हुई दूसरी शिक्षा बुद्धिवाद की है, जिसका प्रभाव साहित्य पर बड़े जोर से पड़ा है। जो बात बुद्धि में नहीं समाती, उसका वर्णन साहित्य में भी नहीं किया जाना चाहिए। इस मान्यता के कारण धर्म और पुराण के कम

साहित्य मे बदल गये हैं। कर्ण के रथ के चक्के अगर धरती मे धँस गये थे, तो यह बात खोलकर कहनी होगी कि वहाँ दलदल था। कौरवो की सभा मे यदि कृष्ण ने विराट रूप दिखाया था, तो यह बात पाठको को समझा देनी होगी कि भगवान के विराट होने पर छतें नही फटी थी, दीवारें टूट कर नही गिरी थी। और कच-देवयानी की कथा कहनी हो, तो इसका उल्लेख नही करना चाहिए कि कच ने शुक्राचार्य से सजीवनी विद्या कैसे सीखी थी। उस कहानी मे कच और देवयानी का प्रेम ही सार है।

पुरानी कविता मे शयन-कक्ष मे मणियो के दीप वलते थे और नायिकाओ को जब सकोच होता था, वे मुट्ठी भर पुष्परेणु फेंक कर दीपक की ज्योति को छिपा देती थी। अब नायिकाओ को सकोच कम होता है और सकोच हो भी, तो बिजली का बटन दबाना प्रकाश से बचने का सुगम उपाय है। जैसे विज्ञान ने खोज-खोज कर उन सभी रहस्यो को रहस्यहीन कर दिया, जिन्हे देखकर पहले लोग आश्चर्य करते थे, उसी प्रकार, साहित्य के भी बहुत-से रहस्य-कुज विज्ञान के प्रभाव से उजाड़ हो गये। अब उनका आश्रय लेकर कविताएँ नही लिखी जा सकती।

धर्म पर जो अश्रद्धा विज्ञान के प्रभाव से बढी है, उसका प्रभाव भी साहित्य पर काफी पडा है। ईश्वर को आलवन मान कर पहले जो प्रेम और श्रद्धा निवेदित की जाती थी, साहित्य मे अब वह मजाक की चीज है और सारे के सारे रहस्यवादी कवि अब बौद्धिक पगले यानी 'इनटेलेक्चुअल क्रिटीन' समझे जाते हैं। रहस्यवाद की धूमिलता साहित्य से तब भी नही मिटी, क्योकि अब उसका निवास वहाँ पडता है, जहां कवि किसी अनुभूति की स्पष्ट व्याख्या नहीं दे पाता है अथवा जहां भाषा असमर्थ हो जाती है अथवा जहाँ मनोविज्ञान की किसी ऐसी गहराई की बात की जाती है, जिसका वर्णन स्वभाव से ही दुष्कर कार्य है।

विद्या के रूप मे मनोविज्ञान का आविर्भाव बिल्कुल हाल की घटना है, किन्तु, प्रक्रिया के रूप मे मनोविज्ञान उतना ही प्राचीन है, जितना प्राचीन स्वय मनुष्य है। यह वैसी ही बात है, जैसे रक्त-चाप की बीमारी पहले भी होती थी, किन्तु, उसका पता मनुष्य को नहीं था। इस बीमारी का नाम तब से सुनायी देने लगा, जब से रक्तचाप-मापक यत्र का आविष्कार हुआ। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का ज्ञान शेक्सपियर को भी था और कालिदास को भी। लेकिन, वे इस शास्त्र का नाम नहीं जानते थे। इस शास्त्र का जन्म उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुआ और बीसवी सदी मे आकर उसने इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली कि उपन्यासकार और कवि भी उसका अनुसरण करने को ललचाने लगे। प्राउस्ट और जेम्स ज्वायस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को ही शैली मानकर लिखते हैं। ज्वायस की शैली का नाम ही चेतना-प्रवाह की शैली पड़ गया है। और सुररियलिस्ट कवियो की तो साधना ही एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की साधना है।

जब तक आधुनिकता का विकास नही हुआ था, मनुष्य सृष्टि की कल्पना उस रूप मे करता था, जिस रूप मे उसकी कल्पना धर्माचार्यों, नबियो और पैगम्बरो ने की थी। यह ईसा के जन्म से एक हजार वर्ष पूर्व की बात है। ससार के सभी द्रष्टा ई० पू० से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही जन्म ले चुके थे और उसी समय मनुष्य के सृष्टि-सबधी सभी विचार निरूपित हो चुके थे। बाद की शताब्दिया मे इन्ही विचारो का पल्लवन होता रहा है। यह सभ्यता टेक्नालाजी से नहीं, कल्पना और विचार से बनी थी और तक्नीक के अभाव मे इस सभ्यता के भीतर जो रिक्तता रह गयी थी, आदमी ने आदर्शों से युक्त वातावरण तैयार करके उस रिक्तता को भर दिया था। इसीलिए, यह सुखी कम, सतुष्ट अधिक था। प्रकृति को जीतने की चिंता उसे कम थी, अपने आप पर विजय पाने का जोश अधिक था। सृष्टि का विषय जैसे आज के वैज्ञानिको की समझ मे नही आता है, वैसे ही यह उस समय के आदमियो की भी समझ मे नही आता था। किन्तु, प्राचीन मनुष्य यह मानकर बैठ गया था कि सृष्टि लीला है, रहस्य है, वह जानने नहीं, विस्मित होने की चीज है। चूंकि हम इसे जान नही सकते, इसलिए अपने आप पर खेद या खीझ हमे नही होनी चाहिए। हम तो इस रहस्य पर सोचेंगे और आनन्द से पुलकित होगे।

इस मनुष्य का विश्वास यह था कि आदमी को ईश्वर ने पैदा किया है। कही-कही यह कल्पना भी थी कि ईश्वर ने उसे अपने, अधिक से अधिक, अनुरूप बनाया है। भारतवासी मानते थे कि आत्मा और परमात्मा एक हैं तथा जीव जन्म-जन्मान्तर के बाद ईश्वर-कोटि को पहुँच सकता है। सामी सभ्यता वालो का यह भी विश्वास था कि आदमी पहले देवता था। एक छोटे-से पाप के कारण वह लुढ़ककर आदमी बन गया है। तब भी, वही सृष्टि का सिर-मुकुट है और वह फिर से देवता बन सकता है। पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र मानी जाती थी और मनुष्य उसका सबसे सुन्दर, सबसे विलक्षण और सबसे अलौकिक जीव। और इस मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ कर्म पाप से बचना तथा पुण्य की आराधना करना था, जिससे वह निर्मल रहकर ईश्वरत्व को प्राप्त कर सके।

किन्तु, जैसे-जैसे विज्ञान का विकास हुआ, मनुष्य की सृष्टि-विषयक पुरानी धारणा छूंछी पडने लगी। विज्ञान का पहला सास्कृतिक प्रभाव यह हुआ कि सृष्टि यन्त्र समझी जाने लगी, जिसके पुर्जे गणित और यन्त्र-विज्ञान के अनुसार काम करते हैं। इस मान्यता से, स्वभावत ही, यह अनुमान निकल आया कि सृष्टि यदि यन्त्र है, तो इसके निर्माण के लिए ईश्वर की कल्पना अनिवार्य नही है। फिर खगोलवादियो ने यह स्थापना रखी कि पृथ्वी गोल है और असख्य गोल नक्षत्रो की तरह वह भी शून्य मे लटकी हुई है। इससे मनुष्य की यह कल्पना नष्ट हो गयी कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र है तथा ईश्वर की योजना में उसका कोई खास स्थान

साहित्य मे बदल गय हैं। कर्ण के रथ के चक्के अगर धरती मे धँस गये थे, तो यह बात खोलकर कहनी होगी कि वहाँ दलदल था। कौरवो की सभा मे यदि कृष्ण ने विराट रूप दिखाया था, तो यह बात पाठको को समझा देनी होगी कि भगवान के विराट होने पर छतें नही फटी थी, दीवारें टूट कर नही गिरी थी। और कच-देवयानी की कथा कहनी हो, तो इसका उल्लेख नही करना चाहिए कि कच ने शुक्राचार्य से सजीवनी विद्या कैसे सीखी थी। उस कहानी मे कच और देवयानी का प्रेम ही सार है।

पुरानी कविता मे शयन-कक्ष मे मणियो के दीप बलते थे और नायिकाओ को जब सकोच होता था, वे मुट्ठी भर पुष्परेणु फेंक कर दीपक की ज्योति को छिपा देती थी। अब नायिकाओ को सकोच कम होता है और सकोच हो भी, तो बिजली का बटन दबाना प्रकाश से बचने का सुगम उपाय है। जैसे विज्ञान ने खोज-खोज कर उन सभी रहस्यो को रहस्यहीन कर दिया, जिन्हे देखकर पहले लोग आश्चर्य करते थे, उसी प्रकार, साहित्य के भी बहुत-से रहस्य-कुज विज्ञान के प्रभाव से उजाड हो गये। अब उनका आश्रय लेकर कविताएँ नही लिखी जा सकती।

धर्म पर जो अश्रद्धा विज्ञान के प्रभाव से बढी है, उसका प्रभाव भी साहित्य पर काफी पडा है। ईश्वर को आलबन मान कर पहले जो प्रेम और श्रद्धा निवेदित की जाती थी, साहित्य मे अब वह मजाक की चीज है और सारे के सारे रहस्यवादी कवि अब बौद्धिक पगले यानी 'इनटेलेक्चुअल निटीन' समझे जाते हैं। रहस्यवाद की धूमिलता साहित्य से तब भी नही मिटी, क्योकि अब उसका निवास वहाँ पडता है, जहाँ कवि किसी अनुभूति की स्पष्ट व्याख्या नही दे पाता है अथवा जहाँ भाषा असमर्थ हो जाती है अथवा जहाँ मनोविज्ञान की किसी ऐसी गहराई की बात की जाती है, जिसका वर्णन स्वभाव से ही दुष्कर कार्य है।

विद्या के रूप मे मनोविज्ञान का आविर्भाव बिल्कुल हाल की घटना है, किन्तु, प्रक्रिया के रूप मे मनोविज्ञान उतना ही प्राचीन है, जितना प्राचीन स्वय मनुष्य है। यह वैसी ही बात है, जैसे रक्त-चाप की बीमारी पहले भी होती थी, किन्तु, उसका पता मनुष्य को नही था। इस बीमारी का नाम तब से सुनायी देने लगा, जब से रक्तचाप-मापक यत्र का आविष्कार हुआ। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का ज्ञान शेक्सपियर को भी था और कालिदास को भी। लेकिन, वे इस शास्त्र का नाम नहीं जानते थे। इस शास्त्र का जन्म उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुआ और बीसवी सदी मे आकर उसने इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली कि उपन्यासकार और कवि भी उसका अनुसरण करने को ललचाने लगे। प्राउस्ट और जेम्स ज्वायस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को ही शैली मानकर लिखते हैं। ज्वायस की शैली का नाम ही चेतना-प्रवाह की शैली पड गया है। और सुररियलिस्ट कवियो की तो साधना ही एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की साधना है।

जब तक आधुनिकता का विकास नही हुआ था, मनुष्य सृष्टि की कल्पना उस रूप मे करता था, जिस रूप मे उसकी कल्पना धर्माचार्यों, नबियो और पैगम्बरो ने की थी। यह ईसा के जन्म से एक हजार वर्ष पूर्व की बात है। ससार के सभी द्रष्टा ई० पू० से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही जन्म ले चुके थे और उसी समय मनुष्य के सृष्टि-सबधी सभी विचार निरूपित हो चुके थे। बाद की शताब्दियो मे इन्ही विचारो का पल्लवन होता रहा है। यह सभ्यता टेकनालाजी से नही, कल्पना और विचार से बनी थी और तकनीक के अभाव मे इस सभ्यता के भीतर जो रिक्तता रह गयी थी, आदमी ने आदर्शों से युक्त वातावरण तैयार करके उस रिक्तता को भर दिया था। इसीलिए, वह सुखी कम, सतुष्ट अधिक था। प्रकृति को जीतने की चिता उसे कम थी, अपने आप पर विजय पाने का जोश अधिक था। सृष्टि का विषय जैसे आज के वैज्ञानिको की समझ मे नही आता है, वैसे ही वह उस समय के आदमियो की भी समझ मे नही आता था। किन्तु, प्राचीन मनुष्य यह मानकर बैठ गया था कि सृष्टि लीला है, रहस्य है, वह जानने नहीं, विस्मित होने की चीज है। चूंकि हम इसे जान नही सकते, इसलिए अपने आप पर खेद या खीझ हमे नही होनी चाहिए। हम तो इस रहस्य पर सोचेंगे और आनन्द से पुलकित होगे।

इस मनुष्य का विश्वास यह था कि आदमी को ईश्वर ने पैदा किया है। वही-कही यह कल्पना भी थी कि ईश्वर ने उसे अपने, अधिक से अधिक, अनुरूप बनाया है। भारतवासी मानते थे कि आत्मा और परमात्मा एक हैं तथा जीव जन्म-जन्मान्तर के बाद ईश्वर-कोटि को पहुँच सकता है। सामी सभ्यता वालो का यह भी विश्वास था कि आदमी पहले देवता था। एक छोटे-से पाप के कारण वह लुढककर आदमी बन गया है। तब भी, वही सृष्टि का सिर-मुकुट है और वह फिर से देवता बन सकता है। पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र मानी जाती थी और मनुष्य उसका सबसे सुन्दर, सबसे विलक्षण और सबसे अलौकिक जीव। और इस मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ कर्म पाप से बचना तथा पुण्य की आराधना करना था, जिससे वह निर्मल रहकर ईश्वरत्व को प्राप्त कर सके।

किन्तु, जैसे-जैसे विज्ञान का विकास हुआ, मनुष्य की सृष्टि-विषयक पुरानी धारणा छूंछी पड़ने लगी। विज्ञान का पहला सास्कृतिक प्रभाव यह हुआ कि सृष्टि यन्त्र समझी जाने लगी, जिसके पुर्जे गणित और यन्त्र-विज्ञान के अनुसार काम करते हैं। इस मान्यता से, स्वभावत. ही, यह अनुमान निकल आया कि सृष्टि यदि यन्त्र है, तो इसके निर्माण के लिए ईश्वर की कल्पना अनिवार्य नही है। फिर खगोलवादियो ने यह स्थापना रखी कि पृथ्वी गोल है और असख्य गोल नक्षत्रो की तरह वह भी शून्य मे लटकी हुई है। इससे मनुष्य की यह कल्पना नष्ट हो गयी कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र है तथा ईश्वर की योजना मे उसका कोई खास स्थान

है। तब डारविन (१८०९-१८८२) का 'जीवों की उत्पत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमे उन्होने यह स्थापना रखी कि आदमी ईश्वर का पुत्र नही है, वह बन्दर से बढकर आदमी हुआ है। और सब के बाद फ्रायड (१८५६-१९३९) का मनोविज्ञान आया, जिसने यह कहा कि आदमी का जप-तप, योग और वैराग्य, सब ऊपरी बातें हैं। वह अपने किसी भी कार्य मे स्वाधीन नही है। उसके भीतर अपनी और समग्र मनुष्य जाति की युगो की अगणित अदम्य वासनाएँ दबी पडी हैं और आदमी के कर्म इन्ही अज्ञात वासनाओ की प्रेरणा का अनुगमन करते हैं। सच तो यह है कि हम इन वासनाओ का उपभोग नही करते, ये वासनाएँ ही हमारा उपभोग करती हैं, हम उन्हें नही जीते, हमी उनके द्वारा जिये जाते हैं। हम मनुष्य अवश्य बन गये हैं, किन्तु, हमारे भीतर वे वासनाएँ अभी भी काफी शक्तिशालिनी हैं, जो हमे उस समय उद्वेलित रखती थी, जब हम पशु थे। मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा आचरणवाद (बिहेवियरिज्म) ने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य अपने आचरण मे स्वतन्त्र नही है। परिस्थितियाँ जैसी होती है, मनुष्य का आचरण भी वैसा ही होता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान की सभी खोजो से मनुष्य यह मानने को विवश होता गया कि वह तनिक भी विलक्षण जीव नही है। पेड पौधो और पशुओ के समान वह भी एक सजीव पदार्थ है और जो नियम अन्य पशुओं पर लागू होते हैं, वह उनका अपवाद नही है। इस विवशता-ज्ञान में अगर कही कोई कमी रह गयी थी, तो उसे मार्क्स (१८१८-१८८३) ने पूरा कर दिया। उन्होने स्थापना यह रखी कि धर्म, नैतिकता, कला और अध्यात्म के क्षेत्र मे मनुष्य ने जो भी मूल्य निरूपित किये है, वे लोकोत्तर मूल्य नहीं है। इन मूल्यो का विकास समाज की अर्थव्यवस्था के अनुसार हुआ है। अतएव, धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता तथा पाप और पुण्य की भावनाओ को लोकोत्तर चेतना से सपृक्त मानना कोरा अन्ध-विश्वास है। आदमी अपना कोई भी निर्णय लेने मे स्वतन्त्र नही है। सभी निर्णय वह उस अर्थ-व्यवस्था के अनुसार लेता है, जिसमे उसका जन्म और विकास हुआ है।

इन सारी खोजो और स्थापनाओ का फल यह हुआ कि आदमी का गौरव चूर्ण-चूर्ण हो गया। मनुष्य पशु से भिन्न किसी उत्तम योनि का जीव है, यह कल्पना टूक-टूक हो गयी। आदमी लुढककर जानवरो के बीच जा मिला और वहाँ भी यह चिन्ता उसे सताने लगी कि वह निर्णय लेने मे भी स्वतन्त्र नही है। स्वतन्त्रता उसे न तो काम के क्षेत्र मे है, न अर्थ के क्षेत्र मे। परिस्थितियाँ जैसे उसे चलाती हैं, उसी प्रकार उसे चलना पडता है।

पशु कोई भी अनुपयोगी काम नही करते। वे जो कुछ भी करते है, उपयोग के भाव से प्रेरित होकर करते हैं, स्वार्थ से प्रेरित होकर करते हैं। तो क्या मनुष्य भी जो कुछ करता है, स्वार्थ की ही प्रेरणा से करता है? उपयोग की ही

भावना से करता है? तो फिर आदमी सन्त और फकीर क्यो हो जाता है ? दूसरो के लिए वह अपनी जान क्यो देता है ? भोगो को छोड़कर वह तपश्चर्या मे क्यो प्रवृत्त होता है ? प्रेम के लिए वह मुकुट को लात क्यो मार देता है ? वह रहस्य-वादी क्यो हो जाता है ?

ये और ऐसे अनेक प्रश्न विज्ञान के आक्रमण के बाद भी उठे हैं, किन्तु, ऐसे प्रश्नो को महत्त्व वे लोग देते हैं, जिनके भीतर प्राचीनता के प्रति थोड़ा पक्षपात है। बाकी लोग इन प्रश्नो की महत्ता से अपरिचित हैं। वे हर सवाल का महीन जवाब, कही-न-कही, काम के पातालगामी लोक से खोज लाते है। मगर इन उत्तरो से सबका समाधान नही होता। साम्यवादियो और नास्तिको को छोडकर मानवता का बहुत बडा भाग आज भी इन स्थापनाओ को मानने को तैयार नही है।

अदृश्य पर सोचते-सोचते दर्शन की उत्पत्ति हुई थी। दृश्य पर सोचते-सोचते विज्ञान का आविर्भाव हुआ। किन्तु, दृश्य और अदृश्य, दोनो पर एक समान चिन्तन करने वाले महात्मा मुश्किल से मिलते है। वर्त्तमान सभ्यता इस पीड़ा से बेहाल है। जो कम जानते थे, उन्होने यह कहकर सन्तोष कर लिया था कि ससार लीला है। जो अधिक जान गये हैं, वे कहते है, ससार रहस्य है। लीला है या रहस्य, इस विचिकित्सा मे पडने से कुछ भी हमारे हाथ नही लगेगा। लीला और रहस्य, दोनो ही अव्याख्येय है। जो चीज दिखलायी पड़ती है, वह यह है कि जब ससार लीला था, मनुष्य मे विनम्रता थी। जब से वह रहस्य बन गया है, आदमी उद्धत और अधीर है।

स्पेंगलर का विश्लेषण

आधुनिक बोध का दर्शन कितना भी निराशाजनक क्यो न हो, किन्तु, वह दो-चार या दस-पाँच बहके हुए मनीषियों के मन की उपज नही है। वह उस सभ्यता का स्वाभाविक परिपाक है, जिसमे हम जी रहे है। वह आधुनिक मनुष्य की अगली नियति का क्रम है, जिसे कोई रोक नही सकता।

स्पेंगलर के अनुसार पेड-पौधे और मनुष्य के समान सस्कृति भी जैव (आर्गेनिक) नियमो के अधीन है। जैसे आर्गेनिक चीजें बढ़कर बडी होती हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है, उसी प्रकार, सस्कृति भी पेड़-पौधे और मनुष्य के समान बढती है और बढकर उन्हीके समान एक दिन नाश को प्राप्त हो जाती है।

बचपन, जवानी, प्रौढता और बुढापा, इन चार अवस्थाओ से होकर सस्कृति को भी गुजरना पड़ता है। प्रत्येक सस्कृति का इतिहास इन्ही चार अको का नाटक होता है। सस्कृति का आविर्भाव वसन्त ऋतु मे होता है, जब समाज मे प्रधानता

कृषि और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की होती है। यह काल बर्बर शक्तियो का काल होता है, उच्छल प्रवृत्तियो का समय होता है। इस समय सस्कृति के भीतर नफासत कम, ताकत ज्यादा होती है।

सस्कृति का ग्रीष्म-काल तब आरम्भ होता है, जब नगर बसने लगते हैं, मगर, महानगर उत्पन्न नही होते तथा नगरो पर भी प्रभाव ग्रामीण जीवन का ही रहता है।

सस्कृति की शरद ऋतु तब आती है, जब राज्य की केन्द्रीय सत्ता मजबूत होने लगती है, नगरों के बीच से महानगर उत्पन्न होने लगते है, वाणिज्य का महत्व बढता है, कलाएँ उर्वर और बुद्धि आलोचनात्मक होने लगती है तथा बुद्धिवाद नास्तिकता और भ्रान्ति के बीज बोने लगता है।

और शरद के बाद जब शीत ऋतु आती है, प्राचीन परम्परा, धर्म और श्रद्धा का विघटन आरम्भ हो जाता है तथा नैतिकता के ढाँचे टूट जाते हैं एव पुराने रस्म-रिवाज और मूल्य हवा मे उड जाते है।

स्पेंगलर ने कई सस्कृतियो के उदाहरण दिये है और बताया है कि प्रत्येक सस्कृति इन चार अवस्थाओ से गुजरकर, अन्त मे, मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। भारत मे वैदिक काल को स्पेंगलर ने वसन्त ऋतु, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रो के आविर्भाव-काल को ग्रीष्म, बुद्ध के जन्म-काल एव सूत्र, वेदान्त और योग के समय को शरद तथा बौद्धमत के प्राधान्य वाले काल को शीत ऋतु कहा है। बौद्ध मत समाजवादी विचारधारा का भारतीय सस्करण था। जब अशोक ने बौद्ध मत को स्वीकार किया, हिन्दू सस्कृति की उद्दामता समाप्त हो गयी और सस्कृति के एक युग का अन्त हो गया।

स्पेंगलर के अनुसार सस्कृति का विकास उसकी आध्यात्मिक शक्ति के कारण होता है। जब सस्कृति अपने पूर्ण विकास पर पहुँचती है, उसकी आध्यात्मिक प्रगति का सिलसिला खत्म हो जाता है। उसके बाद वह जमने लगती है और जमते-जमते बर्फ हो जाती है। फिर वह पिघलती नही, उसके भीतर से विस्फोट होता है और आन्तरिक विकास को छोडकर वह बाहर की ओर फैलने लगती है।

प्रत्येक सस्कृति का पर्यवसान सभ्यता मे होता है। सस्कृति जीवन की धारा है, सभ्यता मृत्यु का घाट है। सस्कृति कृषि-सस्कार से जन्म लेती है और उसी से वृद्धि भी पाती है। सभ्यता महानगरो के सस्कारो को कहते हैं। जब महानगर बनते हैं, आदमी चालाक ज्यादा, ईमानदार कम हो जाता है। प्रत्येक सस्कृति पुष्ट होने पर अपने अनुरूप सभ्यता को जन्म देती है, क्योकि प्रत्येक सस्कृति पूर्ण विकास पर पहुँचकर मरने लगती है। जब उसकी आन्तरिक शक्ति चुक जाती है, सस्कृति भीतरी दुनिया को छोडकर बाहर की ओर फैलने लगती है। सस्कृति का

हो गयी है।"

स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक आधुनिकता की निन्दा करने को नही लिखी थी। किन्तु, तब भी उससे आधुनिक बोध की जो निन्दा ध्वनित होती है, उसे इस ग्रंथ का गुणीभूत व्यग्य समझना चाहिए।

ओस्वाल्ड स्पेंगलर जर्मन थे। उनकी मृत्यु सन् १९३६ ई० मे हुई। सन् १९१८ ई० मे उनकी पुस्तक 'डिक्लाइन आव् द वेस्ट' (पश्चिम का पतन) की पहली जिल्द प्रकाशित हुई और उस पुस्तक के निकलते ही सारे यूरोप मे तहलका मच गया। उस ग्रन्थ की दूसरी जिल्द सन् १९२२ ई० मे निकली और परिणामत विचारको के बीच और भी बेचैनी छा गयी। ऐसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ बीसवी सदी मे शायद कोई और नही निकला है। इस ग्रन्थ का प्रभाव इतना भयानक हुआ कि दस साल तक लोग उसकी चर्चा करते रहे। किन्तु, धीरे-धीरे लेखको ने स्पेंगलर के विचारो का खण्डन करना आरम्भ किया और, अन्त मे, यह सोचकर वे आश्वस्त हो गये कि स्पेंगलर का कहना झूठ था और हमने उसे दफनाकर सही जगह पर पहुँचा दिया है।

किन्तु, स्पेंगलर मरे नही,न वे कब्र मे ढकेले जा सके। उनकी भविष्यवाणियाँ सच होती जा रही हैं। उनका भूत यूरोप के सभी लेखको के माथे पर चढकर बोल रहा है। डी० एच० लारेंस और फ्राज काफ्का, टी० एस० इलियट और अलडूस हक्सले तथा जार्ज आरवेल और एच० जी० वेल्स और कुछ नही, ओस्वाल्ड स्पेंगलर के प्रेत है। स्पेंगलर ने पाश्चात्य सभ्यता के पतन का जो दृश्य कल्पना म देखा था, वही दृश्य इन लेखको और कवियो की रचनाओ मे आकार लेता रहा है। ये सभी लेखक यूरोपीय सस्कृति की आध्यात्मिक क्लान्ति के चित्रकार हैं। स्पेंगलर की भविष्यवाणियाँ सबको अप्रिय लगी थी और सबने चाहा था कि भविष्यवाणियाँ झूठी हो जायें। किन्तु, वे भविष्यवाणियाँ झूठी होती नही दिखायी देती है। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है, स्पेंगलर की बात सत्य होती जा रही है और चिन्तक मन ही-मन अनुभव करते हैं कि हम सचमुच ही उतार के सोपान पर है। रग और खुशबू से, कविता और उपन्यास से अथवा शराब और औरत से हम चाहे जितना भी जी बहला लें, मगर, यह निश्चित है कि शकट के पहिये धँस रहे हैं और क्षण क्षण हम नीचे जा रहे है।

स्पेंगलर की पुस्तक जब निकली थी, उसका प्रभाव गांधीजी पर भी पडा था। 'यग इंडिया' के १९२५-२६ तक के अको मे स्पेंगलर के हवाले गांधीजी ने कई बार दिये थे। स्पष्ट ही, गांधीजी स्पेंगलर के सभी विचारो से सहमत नही थे, किन्तु 'डिक्लाइन आव् द वेस्ट' मे आधुनिक सभ्यता के जो दोष दिखाये गये थे, उन्हें गांधीजी भी सामान्यत सत्य मानते थे। और प्रोफेसर ट्वायनबी ने जब स्पेंगलर की किताब देखी, उनके मुँह से अचानक यह सूक्ति निकल पडी कि

"हाय, इसने तो वह सब कुछ लिख डाला, जिसे मैं लिखना चाहता था।" तब से स्पेंगलर का खण्डन ट्वायनबी ने भी किया है, किन्तु, विद्वानो मे सामान्य धारणा यह रही है कि ट्वायनबी ने स्पेंगलर को ग्रहण तो तत्त्ववाद के धरातल पर किया, किन्तु, व्यवहार के धरातल पर वे उन्हें चट कर गये है।

जिसे हम आधुनिक काल कहते है, स्पेंगलर के अनुसार वह सभ्यता की उन्नति नही, अवनति का युग है, आरोह नही, अवरोह का काल है। और अवरोह का यह सिलसिला यन्त्रो के उत्थान के साथ ही शुरू हुआ है। औद्योगिक क्रान्ति वह महाघटना थी, जिसने आधुनिकता और अवरोह, दोनो का प्रवर्तन एक साथ किया। जब मशीनो का बोलबाला हुआ, किसान और अमीर खत्म हो गये, यानी समाज का जो निम्नतम आधार और उच्चतम शिखर था, वे दोनो के दोनों विनष्ट हो गये। बच गये केवल महानगर, जिनमे कारखाने गडगडाते है, उखडे हुए सर्वहारा मजदूर मशीन के पुरजो की तरह काम करते है और जहाँ कुसस्कृत धनियो का राज है।

प्राचीन काल के लोग ज्ञान को पुण्य का पर्याय मानते थे। आधुनिक मनुष्य ज्ञान को पुण्य नही, शक्ति का साधन समझता है और शक्ति का निवास कचन मे है। अतएव, कंचन आता है और शान्ति चली जाती है। शरीर के सुखो मे वृद्धि होती है, किन्तु आत्मा की शक्ति क्षीण हो जाती है।

व्यापारी, उद्योगपति और व्यवसाय मे धन लगाने वाले लोग किसी भी वस्तु का सृजन नही करते। वे धन जमा करते है और उसी का आदान-प्रदान भी करते हैं। जब भी कोई सस्कृति मरणासन्न होती है, राज ईश्वर का नही चलता। ईश्वर के स्थान पर धन का दानव खडा हो जाता है। जहाँ भी सत्ता सिमटकर धनियों के हाथ मे पहुँची है, सस्कृति को मरने से रोकना असम्भव हो गया है।

यान्त्रिक सभ्यता के आविर्भाव के साथ देश का समस्त जीवन दो-एक महानगरों मे केन्द्रित हो जाता है और ससार भर के देहातो मे रहने वाले लोग अपने भाग्य का निपटारा आप नही कर सकते। निपटारा वे लोग करते हैं, जो दुनिया के मशहूर नगरो (न्यूयार्क, वाशिंगटन, लन्दन, पेरिस, मास्को आदि) मे रहते हैं। फिर तो महानगरो की समस्याएँ सारे ससार की समस्याएँ बन जाती हैं, महानगरो के विचार सारे ससार के विचार बन जाते हैं। रेडियो, टेलिविजन, राजनैतिक पैंतरे, युद्ध और शान्ति, समाजवाद, डारविन, फ्रायड, कीर्केगार्द, इब्सेन, काफका, दाँ और जेम्स ज्वायस का देहातो से क्या सरोकार है?

ससार के किसी भी महानगर मे अपना नाम की चीज नही होती। महानगर बुद्धिमान होते है, चालाक होते हैं, सन्देहवादी और शकालु होते हैं, व्यावहारिक और अधार्मिक होते हैं इसीलिए, वे अनुर्वर और बाँझ भी होते हैं। यह अनुर्वरता केवल दिमाग तक ही सीमित नहीं रहती, वह जीवन को भी प्रभावित करने लगती

हो गयी है।"

स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक आधुनिकता की निन्दा करने को नहीं लिखी थी। किन्तु, तब भी उससे आधुनिक बोध की जो निन्दा ध्वनित होती है, उसे इस ग्रंथ का गुणीभूत व्यंग्य समझना चाहिए।

ओस्वाल्ड स्पेंगलर जर्मन थे। उनकी मृत्यु सन् १९३६ ई० में हुई। सन् १९१८ ई० में उनकी पुस्तक 'डिक्लाइन आव् द वेस्ट' (पश्चिम का पतन) की पहली जिल्द प्रकाशित हुई और उस पुस्तक के निकलते ही सारे यूरोप में तहलका मच गया। उस ग्रन्थ की दूसरी जिल्द सन् १९२२ ई० में निकली और परिणामतः विचारकों के बीच और भी बेचैनी छा गयी। ऐसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ बीसवीं सदी में शायद कोई और नहीं निकला है। इस ग्रन्थ का प्रभाव इतना भयानक हुआ कि दस साल तक लोग उसकी चर्चा करते रहे। किन्तु, धीरे-धीरे लेखकों ने स्पेंगलर के विचारों का खण्डन करना आरम्भ किया और, अन्त में, यह सोचकर वे आश्वस्त हो गये कि स्पेंगलर का कहना झूठ था और हमने उसे दफनाकर सही जगह पर पहुँचा दिया है।

किन्तु, स्पेंगलर मरे नहीं, न वे कब्र में ढकेले जा सके। उनकी भविष्यवाणियाँ सच होती जा रही हैं। उनका भूत यूरोप के सभी लेखकों के माथे पर चढ़कर बोल रहा है। डी० एच० लारेंस और फ्राज काफ्का, टी० एस० इलियट और अलडूस हक्सले तथा जार्ज आरवेल और एच० जी० वेल्स और कुछ नहीं, ओस्वाल्ड स्पेंगलर के प्रेत हैं। स्पेंगलर ने पाश्चात्य सभ्यता के पतन का जो दृश्य कल्पना में देखा था, वही दृश्य इन लेखकों और कवियों की रचनाओं में आकार लेता रहा है। ये सभी लेखक यूरोपीय संस्कृति की आध्यात्मिक क्लान्ति के चित्रकार हैं। स्पेंगलर की भविष्यवाणियाँ सबको अप्रिय लगी थीं और सबने चाहा था कि भविष्यवाणियाँ झूठी हो जायें। किन्तु, वे भविष्यवाणियाँ झूठी होती नहीं दिखायी देती हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, स्पेंगलर की बात सत्य होती जा रही है और चिन्तक मन ही-मन अनुभव करते हैं कि हम सचमुच ही उतार के सोपान पर हैं। रंग और खुशबू से, कविता और उपन्यास से अथवा शराब और औरत से हम चाहे जितना भी जी बहला लें, मगर, यह निश्चित है कि शकट के पहिये धँस रहे हैं और क्षण-क्षण हम नीचे जा रहे हैं।

स्पेंगलर की पुस्तक जब निकली थी, उसका प्रभाव गांधीजी पर भी पड़ा था। 'यंग इंडिया' के १९२५-२६ तक के अंकों में स्पेंगलर के हवाले गांधीजी ने कई बार दिये थे। स्पष्ट ही, गांधीजी स्पेंगलर के सभी विचारों से सहमत नहीं थे, किन्तु 'डिक्लाइन आव् द वेस्ट' में आधुनिक सभ्यता के जो दोष दिखाये गये थे, उन्हें गांधीजी भी सामान्यतः सत्य मानते थे। और प्रोफेसर ट्वायनबी ने जब स्पेंगलर की किताब देखी, उनके मुँह से अचानक यह सूक्ति निकल पड़ी कि

"हाय, इसने तो वह सब कुछ लिख डाला, जिसे मैं लिखना चाहता था।" तब से स्पेंगलर का खण्डन ट्वायनबी ने भी किया है, किन्तु, विद्वानो मे सामान्य धारणा यह रही है कि ट्वायनबी ने स्पेंगलर को ग्रहण तो तत्त्ववाद के धरातल पर किया, किन्तु, व्यवहार के धरातल पर वे उन्हे चट कर गये है।

जिसे हम आधुनिक काल कहते है, स्पेंगलर के अनुसार वह सभ्यता की उन्नति नही, अवनति का युग है, आरोह नही, अवरोह का काल है। और अवरोह का यह सिलसिला यत्रो के उत्थान के साथ ही शुरू हुआ है। औद्योगिक क्रान्ति वह महाघटना थी, जिसने आधुनिकता और अवरोह, दोनो का प्रवर्तन एक साथ किया। जब मशीनो का बोलबाला हुआ, किसान और अमीर खत्म हो गये, यानी समाज का जो निम्नतम आधार और उच्चतम शिखर था, वे दोनो के दोनो विनष्ट हो गये। बच गये केवल महानगर, जिनमे कारखाने गडगडाते है, उखडे हुए सर्वहारा मजदूर मशीन के पुरजो की तरह काम करते हैं और जहाँ कुसस्कृत धनियो का राज है।

प्राचीन काल के लोग ज्ञान को पुण्य का पर्याय मानते थे। आधुनिक मनुष्य ज्ञान को पुण्य नही, शक्ति का साधन समझता है और शक्ति का निवास कचन मे है। अतएव, कचन आता है और शान्ति चली जाती है। शरीर के सुखो म वृद्धि होती है, किन्तु आत्मा की शक्ति क्षीण हो जाती है।

व्यापारी, उद्योगपति और व्यवसाय मे धन लगाने वाले लोग किसी भी वस्तु का सृजन नही करते। वे धन जमा करते है और उसी का आदान-प्रदान भी करते है। जब भी कोई सस्कृति मरणासन्न होती है, राज ईश्वर का नही चलता। ईश्वर के स्थान पर धन का दानव खडा हो जाता है। जहाँ भी सत्ता सिमटकर धनियों के हाथ मे पहुँची है, सस्कृति को मरने से रोकना असम्भव हो गया है।

यान्त्रिक सभ्यता के आविर्भाव के साथ देश का समस्त जीवन दो-एक महा-नगरो मे केन्द्रित हो जाता है और ससार भर के देहातो मे रहने वाले लोग अपने भाग्य का निपटारा आप नही कर सकते। निपटारा वे लोग करते है, जो दुनिया के मशहूर नगरो (न्यूयार्क, वाशिंगटन, लन्दन, पेरिस, मास्को आदि) मे रहते हैं। फिर तो महानगरो की समस्याएँ सारे ससार की समस्याएँ बन जाती हैं, महानगरो के विचार सारे ससार के विचार बन जाते हैं। रेडियो, टेलिविजन, राजनैतिक पैंतरे, युद्ध और शान्ति, समाजवाद, डारविन, फ्रायड, कीर्केगार्द, इब्सेन, काफका, शॉ और जेम्स ज्वायस का देहातो से क्या सरोकार है?

ससार के किसी भी महानगर मे आत्मा नाम की चीज नही होती। महानगर बुद्धिमान होते है, चालाक होते है, सन्देहवादी और शकालु होते हैं, व्यावहारिक और अधार्मिक होते है इसीलिए, वे अनुर्वर और बाँझ भी होते हैं। यह अनुर्वरता केवल दिमाग तक ही सीमित नही रहती, वह जीवन को भी प्रभावित करने लगती

है और लोग गम्भीरता से इस बात की छान-बीन करने लगते है कि सन्ततियो को जन्म लेने देना चाहिए या नही। जब सन्ततियो के जन्म को लेकर शास्त्रार्थ होने लगे, तभी समझ लो कि चौराहा आ गया है, और संस्कृति पतन की ओर जाने वाली है। गर्भ-निरोध की प्रथा के आरम्भ होते ही, नारियो का माता और गृहिणी वाला रूप खत्म हो जाता है और विवाह का उद्देश्य सन्तान की प्राप्ति न होकर काम का किलोल बन जाता है। फिर औरतें ऐसे रोजगार खोजने लगती है, जो उनके स्वभाव के विपरीत हैं, जिनसे उनका समय भले ही कट जाय, लेकिन आत्मा को तृप्ति नहीं मिलती। और तब ऐसा होता है कि जो नारी पहले साहित्य का शृंगार थी, वह नये साहित्य की समस्या बन जाती है और उसके विश्लेषण के लिए ज़ोला और प्राउस्ट, इब्सेन और शॉं को जन्म लेना पड़ता है। साहित्य वह नहीं रहता, जिसमे समस्त जाति के हृदय की धडकन सुनायी देती है। वह उनकी भावनाओ का कोष बन जाता है, जो गाँवो और नगरो मे नही रहते, जो महा-नगरो के निवासी हैं और असख्य जनता के जीवन से अपरिचित और अपने देश की मिट्टी से दूर हैं।

प्रतिभाएँ, साधारणत, गाँवो मे जन्म लेती है, महानगरो मे आकर विकास पाती है और एक पीढी के बाद फिर नष्ट हो जाती है, क्योकि जाति की असली ऊर्जा का निवास महानगरो मे नही होता। महानगर वह स्थान है, जहाँ शक्ति और प्रतिभा की दूकान चलायी जाती है, ये शक्तियाँ वहाँ पैदा नही होतीं। किन्तु, जैसे-जैसे देहातो के लोग रेले मे बहकर महानगरो की ओर आते हैं, जाति का रुधिर कमजोर होने लगता है। लोगो की कष्ट सहने की शक्ति क्षीण होने लगती है, उनकी आराम-तलबी बढने लगती है। वे तन और मन से मुलायम होने लगते हैं। वे युद्ध और सघर्ष से डरने लगते हैं और उनकी विपरीत परिस्थितियो से जूझने की शक्ति, जो पौरुष का असली गुण है, समाप्त हो जाती है।

जातियो के रक्त-दौर्बल्य का प्रभाव कला पर पड़ता है। जैसे-जैसे जातियो का स्वभाव छिछला और शकालु होता जाता है, जैसे-जैसे वे अपनी ऊर्जा के प्राकृतिक कोष से दूर होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनकी कला की लौ भी मद्धिम पडती जाती है। धीरे-धीरे साहित्य का स्थान पत्रकारिता ले लेती है और लेखक कलाओ का सृजन छोडकर उनकी शैलियो के बौद्धिक विवेचन मे लग जाते है। नाटक और उपन्यास पहले तो उपदेश छाँटते है, किन्तु, उससे ऊबकर वे अनैतिक शृंगार की चाशनी बाँटने लगते हैं। फिर साहित्य मे प्रभाववादी शैली प्रवेश करती है, जो पाशविकता को सूक्ष्म परिमार्जन से सजाकर उसे सुरुचि-ग्राह्य बना देती है। "आज जिस कला का सृजन हो रहा है, वह नपुसकता की कला है, अवास्तविकता का शृगार है। गीत नकली है। चित्र नकली है। उनमे सिर्फ दिखावट और आडम्बर की प्रधानता है और उनकी शैलियाँ हर दस वर्ष के बाद

परिवर्तित हो जाती है। और तब भी, इन्ही निर्जीव शैलियो को लेकर हम मन को उबा देने वाला नकली खेल खेल रहे है और यह सब अपने आपको यह समझाने के लिए कि हम जिसे कला कहते है, वह सचमुच कोई जीवित वस्तु है।"

स्पेंगलर का विचार है कि जब भी सस्कृति मरणासन्न होती है, उसकी कला उसके विज्ञान के सामने आत्म-समर्पण कर देती है, वह विज्ञान का अनुकरण करने लगती है। इसका कारण यह है कि सस्कृति को जब अपनी आन्तरिक शक्तियो का भरोसा नही रहता, वह अपनी गरदन सभ्यता के हाथ मे सौंप देती है और सभ्यता उसे मोडकर विज्ञान की ओर प्रेरित कर देती है। कलाएँ सस्कृति है, सभ्यता विज्ञान है। अगर विज्ञान अनुकरणीय है, तो अनुकरण उसका पूरा होना चाहिए। किन्तु, विज्ञान के सम्पूर्ण अनुकरण से कलाएँ समाप्त हो जायेंगी। सभ्यता यही चाहती भी है। वह सस्कृति के वध के लिए उत्पन्न होती है। विज्ञान का उद्देश्य कुछ और, कलाओ का उद्देश्य कुछ और है। जो काम विज्ञान करता है, उसे कलाएँ नही कर सकती। जो काम कलाएँ करती हैं, वह विज्ञान के वश के बाहर की बात है। तब भी, जब सस्कृति के विनाश का समय आता है, कला के सेवक मतिभ्रम में पड जाते है और वे शत्रु को इज्जतदार देखकर उसी का अनुकरण करने लगते है।

साहित्य की भूमि मे कर्म और चिन्तन के बीच जो खाई खुद गयी है, स्पेंगलर उसे भी सस्कृति की पतनशीलता का लक्षण मानते थे। यह हमारा ही समय है, जिसमे चिन्तन का काम वे करते हैं, जिन्हे कर्म का न तो कोई अनुभव है, न ज्ञान। पहले के दार्शनिक ऐसे नही थे। कनफ्यूसियस कई राजाओ के मन्त्री रहे थे। पिथेगोरस मे सगठन की अद्भुत क्षमता थी। सुकरात से पहले ऐसे कई दार्शनिक यूनान मे हुए थे, जो पशे से सौदागर अथवा राजनीतिज्ञ थे। लेबनिज चौदहवें लुई के शिक्षक थे, मगर, राजकाज का हाल वे राजा से अधिक समझते थे। और गेटे के लिए तो कर्म का कोई भी क्षेत्र अपरिचित नही था। हर जगह वे कारगर अधिकारी सिद्ध हुए थे। "हमारे समय के चिन्तको का सबसे बडा अभाव यह है कि वास्तविक जीवन मे उनका कोई स्थान नही है।'

बलशाली ज्ञान का युग समाप्त हो गया। जिन विचारो से मनुष्य बडे काम करने की प्रेरणा पाता था, उन्हे सन्देहवाद ने खोखला कर दिया। शापनहार ने जिस निराशा और सन्देह का प्रवर्तन किया था, वही निराशा और सन्देहवाद सभ्यता का अब दर्शन बन गया है। रोमाटिक उद्दामता और निराशा से जगने वाली आशा की एक झलक नीत्से मे जरूर दिखायी पडी थी, लेकिन वह विजयी नही हुई। शापेनहार की मनोदशा ने नीत्से की मनोदशा को परास्त कर दिया और परिणामत यूरोप के दिमाग पर कुहासे की बदली छा गयी।

ज्ञान का दर्प चूर्ण हो गया। वह अब सुकरात के पास जाकर स्वीकार

करता है कि मुझे कुछ भी मालूम नही है। दुनिया की हर चीज देश और काल मे हमेशा घूम रही है। इसलिए, किसी भी वस्तु का सम्यक् ज्ञान हम प्राप्त नही कर सकते। सभी सत्य सापेक्ष्य हैं, क्योकि हम जिसे सत्य कहते है, वह देश के एक खास विन्दु पर, समय के एक खास क्षण मे, देखी हुई घटना के ज्ञान के सिवा और कुछ नही है। "आइन्स्टीन का अर्थ सर्वान्त है। आइन्स्टीन के बाद आदमी के लिए यह असम्भव हो गया है कि वह गम्भीरता के साथ अपने आप के बारे मे कोई गौरव की बात सोच सके। स्वय जीवन समस्याओ का पुज बन गया है। अब विचारक इस बात पर भी शका करने लगे हैं कि जीवन जीने योग्य है अथवा नही।"

जब सस्कृति मरने लगती है, पवित्रता अपना गठबन्धन नास्तिकता के साथ कर लेती है। ऊपरी तबको के लोग नास्तिक हो जाते हैं और निचले तबको के लोगो मे आस्तिकता पहले से भी अधिक हास्यास्पद रूप लेने लगती है। "सस्कृति के ऋतुराज मे दर्शन धर्म के साथ रहता है, ग्रीष्म के आने पर वह धर्म से छिन्न हो जाता है। वसन्त ऋतु मे दर्शन धर्म की व्याख्या करता है, जाडे के मौसम मे वह धर्म को नष्ट कर डालता है।"

सस्कृति का अति विकास सभ्यता को जन्म देता है। सस्कृति, असल मे, कृष्टि का नाम है। वह निश्चित रूप से कृषि से उत्पन्न होती है, धरती से जन्म लेती है, आत्मा के भीतर से पैदा होती है। किन्तु, सभ्यता महानगरो की वस्तु है। वह आत्मा नही, शरीर का उपकरण है। अँगरेजी का कल्चर शब्द एग्रिकल्चर यानी कृषि की याद दिलाता है, जैसे सिविलिजेशन से सिटी शब्द का आभास मिलता है, जिसका अर्थ महानगर होता है। सस्कृति हमेशा धार्मिक होती है, इसलिए सभ्यता के साथ अधार्मिकता का मेल रोका नही जा सकता। आज की कला सभ्यता की कला है, इसीलिए वह अधार्मिक है। प्रभाववाद रगो मे नास्तिकता का पर्याय है। "जो आध्यात्मिकता अपनी पूर्णता पर पहुँच चुकी है, जिसकी सारी की सारी धार्मिक सम्भावनाएँ खत्म हो चुकी हैं और अब जो सजीव से निर्जीव के धरातल पर जा रही है, उसकी भाषा नास्तिकता के सिवा और कुछ हो ही नही सकती।"

अगर सारी जनता नास्तिक हो गयी, तो राष्ट्र का विनाश अवश्यभावी है। जब लोगो को यह ज्ञान होता है कि जीवन से परे वाले जीवन का कोई अर्थ नही है, तब उनके भीतर से वह आशा विदा हो जाती है, जिससे मनुष्य बडे-बडे काम करने का साहस पाता है। तब आदमी यह भी सोचने लगता है कि अगर जिन्दगी मे दु ख निश्चित और सुख क्षणस्थायी है, अगर ज्ञान की वृद्धि से केवल शोक बढता है और सारे सघर्षों का एक परिणाम पराजय है, तो फिर ऐसी जिन्दगी के लिए सततियाँ उत्पन्न करना बेवकूफी की बात है। और कहीं गर्भ-निरोध का रिवाज भी चल पडा, तो बाकी सारी बातें आपसे आप हो जाती है। जाति को

नेतृत्व देने वाले लोग कमजोर हो जाते है, उनकी सख्या घट जाती है और अन्त मे जाति की मृत्यु, शिखर से ही, आरम्भ हो जाती है।

धर्म की मृत्यु के मानी ये नही है कि धर्म की बात समाज मे कोई नही करता। उसका अर्थ यह है कि धर्म प्रेरणा का उत्स नही रह जाता है। ऊपर के तबके के लोग धर्म से विमुख हो जाते हैं, किन्तु, नीचे की जनता धर्म के मिथ्या रूपो मे फँस जाती है। और जब मशीनो की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वत्र विद्यमानता से ऊब और घबराहट फैलती है, तब ऊपर के तबके वाले भी किसी प्रकार के रहस्यवाद का रास्ता खोजने लगते हैं, किसी ऐसे दिवा-स्वप्न मे फँस जाते हैं, जो उन्हे दिलासा दे सके।

धर्म और रहस्यवाद की भावना मनुष्य से छीनी नही जा सकती। आदमी ज्ञान के रास्ते से चले या विज्ञान के रास्ते से, वह अन्त मे एक ऐसी जगह पहुँचकर रहता है, जहाँ बुद्धि काम नही करती, जहाँ की अनुभूतियो को हमारी भाषा आसानी से नही उठा सकती। विज्ञान जितना ही आगे बढेगा, वह धर्म से दूर होता जायगा, किन्तु- एक दिन वह भी उस विन्दु पर पहुँचने वाला है, जहाँ आधि-भौतिकता मे आकर्षण नही रहेगा और आदमी एक प्रकार की मानसिकता अथवा अन्तर्मुखी वृत्ति की सत्ता स्वीकार कर लेगा। ' धर्म का दूसरा दौर बुद्धिवाद की निस्सहायता की अनुभूति से उत्पन्न होगा।" वह बारी-बारी से कई रूपो से होकर गुजरेगा और तब पश्चिम के लोग, विज्ञान का उपयोग करते हुए भी, उसे अपना मार्ग-दर्शक नही मानेंगे। मार्गदर्शन के लिए वे शायद किसी पैगम्बर या अवतार की इन्तजारी करेंगे और, अन्त मे, उनकी अपनी ही इच्छाओ और आशाओ से एक या अनेक पैगम्बर उत्पन्न होगे, जो उस सस्कृति का पथप्रदर्शन करेंगे।

आज राजनीति मे जो कुछ हो रहा है, स्पेगलर ने उसे भी पतनशीलता का लक्षण अथवा अवरोध का सोपान माना है। "पतनशीलता का अन्तिम सोपान राजनीति का सोपान है। इसका आरभ शक्ति-प्राप्ति की इच्छा के त्याग से होता है, लड़ाइयो से भागने की प्रवृत्ति से होता है।" लोग सघर्ष और खतरो से बचना चाहते हैं, इसीलिए, वे शान्ति और सुरक्षा की बातें करने लगते हैं। "शान्ति और सुरक्षा की यह मीठी भावना सस्कृति के ह्रास का अत्यन्त सुस्पष्ट प्रमाण है।"

ससार के राजनैतिक इतिहास से जो असली नियम या असली शिक्षा निकलती है, वह यह है कि ताकतवर देश कभी भी गलती नही करते। गलती वे करते है, जो कमजोर है। दुनिया का इतिहास दुनिया की असली अदालत है। उसका फैसला उन लोगो के खिलाफ कभी नही गया है, जो ज्यादा ताकतवर और ज्यादा पूरे मर्द थे, जिनकी कर्म-भावना अत्यन्त प्रखर थी, जिनका आत्मविश्वास अदम्य था। इस अदालत ने बराबर शक्ति और नस्ल की मजबूती पर सचाई और और इसाफ को कुर्बान किया है। और इस अदालत ने उन जातियो को हमेशा

सजा दी है, जो सत्य को कर्म से तथा न्याय को शक्ति से अधिक महत्त्व देती थी। गेटे ने कहा था, "कर्मठ पुरुष विवेकशून्य होते हैं। विवेकशून्यता उन सभी लोगों का गुण है, जो लडाई मे भाग लेते हैं। अच्छे बुरे का ज्ञान सिर्फ तमाशबीनों को होता है, जो निरापद और लडाई से दूर है।"

पुरानी चेतना मैकबेथ की चेतना थी। कर्म की प्रेरणा होने पर मैकबेथ ज्यादा ऊँचा-नीचा नही सोचता। जो कुछ उसे करना है, वह सीधे कर डालता है। कर्म के पूर्व उसमे जो द्विधा उठती है, वह द्विधा नैतिक नही, कानूनी है। मैकबेथ को भय यह नही है कि जो कुछ वह करने जा रहा है, वह अनैतिक कर्म है। चिंता उसे केवल यह है कि अगर सत्य प्रकट हो गया, तो क्या होगा। किन्तु, नयी चेतना हैमलेट की चेतना है। हैमलेट कर्म की प्रेरणा आने पर भी कर्म नही करता। वह चिन्तन के ऊहापोह मे ग्रस्त हो जाता है। इसी स्थिति को रेखांकित करने को गेटे ने कहा था, कार्यकारी व्यक्ति मे विवेक का अभाव होता है और जिनमे विवेक होता है, वे काम नहीं कर पाते। वे या तो तमाशबीन होते हैं या मारे जाते हैं। और इसी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए दोस्तावास्की ने कहा था कि कार्यकारी मनुष्य अथवा वे लोग जो, सीधे तीर की तरह, कर्म पर पहुँच जाते हैं, अक्सर, बेवकूफ होते हैं। उनकी चेतना सीमित होती है। कर्म पर सीधे वे इसलिए पहुँच जाते है कि उनमे ऊहापोह की योग्यता नही होती, द्विधा मे फँसने की प्रवृत्ति का उनमे अभाव होता है और वे चीजो के एक ही पक्ष को देखते हैं।

दोस्तावास्की मे मनीषी के प्रति पक्षपात है। वे चिन्तक को कार्यकारी मनुष्य से श्रेष्ठ समझते है। स्पेंगलर भी मानते है कि साहित्य मे आधुनिक युग मैकबेथ नही, हैमलेट और फौस्ट का है। किन्तु, हैमलेट और फौस्ट की प्रधानता को वे सभ्यता का अभिशाप समझते है। "आदमी दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जो नियति मे विश्वास करके चलते है। दूसरे वे, जो कारण कार्य के सम्बन्धों का पता लगाये बिना कुछ भी करना नही चाहते। कर्मी की दुनिया और, तथा चिन्तक की दुनिया और होती है। किसान और योद्धा, राजपुरुष और जेनरल, व्यापारी और उद्योग-निर्माता, बहादुर और जुआबाज, ये लोग अपने भाग्य के नक्षत्र मे विश्वास करनेवाले होते है। स्थिति को सही-सही भाँप लेने की उनमे अपरिमित शक्ति होती है। वे इस दुविधा मे नही पडते कि जो कदम वे उठाना चाहते है, वह सही है या नही। रक्त की आवाज विवेक और बुद्धि की आवाज से ज्यादा ताकतवर है। कार्यकारी मनुष्य फैसले जल्दी इसलिए कर डालते है कि रक्त की आवाज को बुद्धि और विवेक की आवाजो से अलग करके वे पहचान सकते है। लेकिन, जिसका रक्त कमजोर होता है और जिसमे सोचने की शक्ति बडी तेज होती है, वह कार्यकारी न होकर बौद्धिक और चिन्तक हो जाता है। कार्यकारी और चिन्तक मनुष्यो का भेद दूर से ही दिखायी देता है। सितारो मे विश्वास करनेवाले कार्यकारी

मनुष्य की पदचाप भारी होती है। चिन्तकों की मद्धिम पदचापों के बीच कार्यकारी मनुष्यों के पैरों की आहट भी दूर से ही सुनायी देती है।"

इतिहास की दुनिया में आदर्श नाम की कोई चीज नहीं होती, वहाँ केवल तथ्य होते हैं, सत्य नाम की कोई चीज नहीं होती, वहाँ केवल तथ्य होते हैं। इतिहास में न तो कोई तर्क है, न इन्साफ है, न ईमानदारी है, न अन्तिम ध्येय नाम की कोई चीज है। जो लोग इस स्थिति को नहीं समझते, वे राजनीति की किताबें भले लिखा करें, किन्तु, राजनीति के निर्माण की ओर उन्हें नहीं बढ़ना चाहिए। *"जातियों का स्वाभाविक पारस्परिक सम्बन्ध युद्ध का सम्बन्ध होता है। शान्ति तो वह क्लान्त उच्छ्वास है, जिसे हम जय और पराजय के प्रवाह में बहते हुए आराम के समय छोड़ते हैं।"*

जातियाँ आपस में जब धक्कामुक्की करती हैं, उनके व्यक्तित्व का आन्तरिक विकास होता है। युद्ध की कठोर वास्तविकताएँ मजबूत इन्सान को जन्म देती हैं। नीत्से सही था, शान्तिवादी गलत हैं। शान्ति का प्रेम जातियों को ले डूबता है। जिस जाति का शान्ति-प्रेम उसका धर्म बन जाता है, उसपर बार-बार चढ़ाइयाँ होती हैं, वह बार-बार हरायी जाती है और, अन्त में, वह इतिहासहीन बन जाती है। जातियों के सामने विकल्प युद्ध और शान्ति के नहीं होते। विकल्प यह होता है कि हम अपने घर के स्वामी बनकर जियेंगे या अपने ही घर में हम दास हो जायेंगे। "जब सन् १४०१ ई० में मंगोलों ने मेसोपोटामिया को जीता, अपना विजय स्तंभ उन्होंने एक लाख नरमुंडों से खड़ा किया था—यानी बगदाद के उन एक लाख आदमियों के मुण्ड, जिन्होंने अपनी रक्षा में तलवार नहीं उठायी थी।" एक-तरफा शान्ति कायरता है, अपनी संघर्ष विमुखता को रेशम की चादर से ढँकने का प्रयास है। जब तक दोनों पक्ष नहीं चाहते, लड़ाई कभी भी नहीं रुकती है।

स्पेंगलर के मतानुसार प्रजासत्ता और समाजवाद, दोनों अवरोह के सोपान हैं, क्योंकि दोनों ही बली व्यक्तियों को शंका से देखते हैं। जो लोग अपनी जमीन से उखड़कर फकत रोजी कमाने को कारखानों की भीड़ में शामिल हो गये हैं, समाजवादी दर्शन की अपील उन्हीं के लिए है। और प्रजासत्ता को मतदान का दूध मुख्यतः वे पिलाते हैं, जिन्हें पाठशालाओं में केवल साक्षरता सिखायी गयी है, लेकिन अपनी बाकी सारी शिक्षा जिन्होंने अखबारों की सुर्खी से ग्रहण की है। "प्रजातंत्र जनता का राज्य नहीं है, चुने-चुनिन्दे सर्वश्रेष्ठ लोगों का भी राज नहीं है। वह केवल रुपयों का राज है।"

स्पेंगलर के सभी विचार सही नहीं हैं। खास कर लड़ाई और अमीर के बारे में उनकी दृष्टि बहुत ही एकांगी मालूम होती है। शान्ति अब उतनी निरर्थक वस्तु नहीं रह गयी है, जितनी निरर्थक वह परमाणु-भंग के पूर्व दिखायी दे सकती थी। और सभी अच्छी बातें केवल लड़ाइयों से ही पैदा नहीं होतीं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति

शस्त्रो से नहीं, विचारो से उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार, अमीरो के लिए की गयी स्पेंगलर की वकालत फालतू मालूम होती है। सृजनशीलता के काम अमीर नही करते। उन्हें करने वाले लोग अक्सर साधारण स्थितियो मे जन्म लेते हैं। और देशो की तो बात ही क्या, खुद जर्मनी मे जो भी बडे लोग हुए, वे सबके सब गरीबी की स्थिति मे उत्पन्न हुए थे। लूथर, लेबेनिज, काण्ट, शापेनहार, हाइने और नीत्से अमीर नही, गरीब थे। गेटे का ठाट-बाट पीछे जैसा भी बना हो, किन्तु, जन्म उनका भी अमीर खान्दान मे नहीं हुआ था।

एरिक हेलर ने लिखा है कि स्पेंगलर का दोष यह नहीं है कि अपने इतिहास मे उन्होने गलत बातें लिखी हैं। उनका दोष यह है कि इतिहास को उन्होने एक विचित्र दृष्टि से देखा है। यह सत्य है कि स्पेंगलर की दृष्टि तीखी, दिमाग बहुत तेज और विद्वत्ता अगाध है। किन्तु, जिस मस्तिष्क ने उनके इतिहास मे घटनाओ का पर्यवेक्षण किया है, वह शिष्ट और कोमल नहीं, उग्र और कठोर है। सब से बुरी बात शायद यह है कि मानवीय स्वातन्त्र्य की स्पेंगलर की अवधारणा अधूरी दिखायी देती है। उनकी यह मान्यता भी अनगढ़ और कुरूप है कि नियति की ओर से ही यह हुक्म है कि, कालक्रम मे, हम आध्यात्मिक मूल्यों को छोड़ दें और आँख मूँद कर उस शिविर मे चले जायँ, जो आध्यात्मिकता के शत्रुओ का शिविर है। कवि नही, इजीनियर बनो; दार्शनिक नही, राजनीतिज्ञ बनो; यह उपदेश आध्यात्मिकता का विरोधी उपदेश है।

यही वह तिलमिलाहट है, जिसे स्पेंगलर के खिलाफ ससार के अनेक चिंतकों ने महसूस किया है। मगर, इस तिलमिलाहट से होता क्या है ? आधुनिक सभ्यता तो अधिकतर वही रूप धारण करती जा रही है, जिसका सकेत स्पेंगलर ने दिया था। स्पेंगलर पैगम्बर नही, केवल इतिहासकार थे। किन्तु, जिस इतिहासकार की दृष्टि काफी पैनी होती है, वह भविष्य की उन बातो को भी देख लेता है, जिन्हे पहले केवल पैगम्बर देखा करते थे।

स्पेंगलर ने आधुनिक सभ्यता का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था, आधुनिक-बोध की प्रक्रिया उससे बहुत बेमेल नही है। इस बोध का एक लक्षण यह है कि उसने देहातो मे रहनेवाले असख्य मानवो की उपेक्षा कर दी है और अपने को उन समस्याओ से बाँध लिया है, जो मुख्यत महानगरो मे बसनेवाले लोगो की समस्याएँ हैं। उसका दूसरा लक्षण यह है कि वह उन लोगो का बोध बन गया है, जिन्हे जीवन मे कही कोई आध्यात्मिक केन्द्र दिखायी नही देता और जो इस विचिकित्सा से बेहाल हैं कि अगर सारा का सारा जीवन निरर्थक है, तो फिर आत्महत्या अनैतिक कार्य कैसे हो सकती है।

नास्तिक तो साम्यवादी देशो के भी लोग हैं। किन्तु, नास्तिकता उनके भीतर आध्यात्मिक पीड़ा नही उत्पन्न करती। वे खाते-पीते और डटकर काम करते हैं

तथा नाटक, नृत्य और सगीत को आध्यात्मिक चेष्टा कहकर अपनी पारलौकिक तृषा की तृप्ति कर लेते है। किन्तु, पश्चिम के कलाकार नास्तिकता की घूँट पीकर भी सुखी और सतुष्ट नही हैं। बाहर से तो उन्होने खुली घोषणा कर दी है कि ईश्वर मर गया, किन्तु, उसकी मृत्यु से जो सिंहासन खाली हो गया है, वह उनके चित्त को साल रहा है। इसी दृष्टि से हम बीटनिक कवियो के दर्द को धार्मिक स्नायुघात का दर्द समझते हैं। ये कवि नास्तिक इसलिए नही हैं कि ईश्वर की उन्हे आवश्यकता नही है, बल्कि, इसलिए कि बुद्धि से ईश्वर सिद्ध नही किया जा सका है। बुद्धि से ईश्वर-सिद्धि न तो हुई है, न आगे होगी। किन्तु, जब भी बुद्धि-वाद से नैराश्य फैलेगा अथवा विज्ञान किसी ऐसी गहराई मे पहुँचेगा, जहाँ उसे 'नेति' कहने की विवशता अनुभूत होगी, तभी ये सभी लोग, नयी शब्दावली के साथ, आस्तिकता के वृत्त मे वापस आने वाले है। अभी भी पश्चिम के नास्तिक लेखकों में कम ही ऐसे लोग हैं, जो नास्तिकता के केन्द्र मे हो। ज्यादा लोग ऐसे ही हैं, जो परिधि पर घूम रहे हैं और, बारी-बारी से, वे आस्तिकता और नास्तिकता, दोनो की ओर देखते हैं।

सुख विश्वास से उत्पन्न होता है। सुख जडता से भी उत्पन्न होता है। पुराने जमाने के लोग सुखी इसलिए थे कि ईश्वर की सत्ता मे उनका विश्वास था। उस जमाने के नमूने आज भी हैं, मगर, वे महानगरो मे कम मिलते है। उनका जमघट गाँवो, कसबो या छोटे-छोटे नगरो मे हैं। इनके बहुत अधिक असतुष्ट न होने का कारण यह है कि जो चीज उनके बस म नही है, उसे वे अदृश्य की इच्छा पर छोड कर निश्चित हो जाते हैं। इसी प्रकार सुखी वे लोग भी होते है, जो सच्चे अर्थों मे जडतावादी हैं, क्योकि उनकी आत्मा पर कठखोदी चिडियाँ चोच नही मारा करती। किन्तु, जो न तो जडता को स्वीकार करता है, न ईश्वर के अस्तित्व को, साथ ही पूरे मन से जो न तो जडता का त्याग करता है, न ईश्वर के अस्तित्व का, असली वेदना उसी सदेहवादी मनुष्य की वेदना है। पश्चिम का आधुनिक बोध इसी पीडा से ग्रस्त है। वह न तो भैंस की तरह खा-पीकर सतुष्ट रह सकता है, न अदृश्य का अवलब लेकर चिन्तामुक्त हो सकता है। इस अभागे मनुष्य के हाथ में न तो लोक रह गया है, न परलोक। लोक इसलिए नही कि वह भैंस बनकर जीने को तैयार नही है, और परलोक इसलिए नही कि विज्ञान उसका समर्थन नही करता। निदान, सदेहवाद के झटके खाता हुआ यह आदमी दिन-रात विपण्ण रहता है और रह-रह कर आत्म-हत्या की कल्पना करके अपनी व्याकुलता का रेचन करता है।

जब तक धर्म और बुद्धि के बीच सौहार्द था, मनुष्य की बेचैनी भी थोडी थी। बुद्धि से मनुष्य शक्ति अर्जित करता था और धर्म को पूछ कर वह उसका उपयोग करता था। गलतियाँ तब भी होती थी, किन्तु, वे आज की अपेक्षा छोटी थी, क्योकि बुद्धि की क्षमता पहले बहुत विशाल नही थी। किन्तु, आज बुद्धि अथाह

विज्ञान बन गयी है और धर्म बुद्धिवाद से समर्थित न होने के कारण त्यक्त हो गया है। परिणाम यह है कि मनुष्य ने परमाणु को तो तोड डाला, किन्तु, परमाणु-भग से जो शक्ति नि सृत हुई है, वह आदमी की सबसे भयानक समस्या बन गयी है। मनुष्य को शक्ति भी चाहिए और शिवत्व भी। विज्ञान ने उसे अपरिमित शक्ति दे रखी है, किन्तु, शिवत्व के अभाव मे वह बेहाल है। शक्तियो से सवलित हो कर मनुष्य देवता बनना चाहता था, किन्तु, शक्ति प्राप्त करके वह भस्मासुर बन गया है।

इस दर्द से निकलने की राह है, लेकिन, आदमी उधर मुड़ने को अपनी अगति समझता है। यह पीड़ा, असल मे, विज्ञान के दर्प की पीड़ा है। अथवा दर्प कहना भी बेतुकी बात है। विज्ञान अपने स्वभाव से लाचार है। वह ऐसे किसी भी पचड़े मे पड़ना नही चाहता, जो बुद्धि से समझा नही जा सकता हो। धर्म एक ऐसा विषय है, जिसकी अन्तिम व्याख्या बुद्धि नही दे सकती। अतएव, विज्ञान धर्म से तटस्थ रहता है। कसूर विज्ञान का नही, आदमी का है। चूंकि धर्म विज्ञान का क्षेत्र नही है, इसलिए आदमी ने यह समझ लिया कि तब धर्म बेकार है। जो वर्ताव आधुनिक बोध ने धर्म के साथ किया है, लगभग, वही बर्ताव वह कविता के साथ भी कर रहा है। धर्म और काव्य, दोनो के दोनो विज्ञान के शिकार बनाये जा रहे हैं। निरी बुद्धि के आधार पर न तो धर्म ठहरेगा, न कविता कविता बन कर जी सकेगी। लेकिन आदमी अपने बुद्धिवाद की अकड़ को छोड़ने को तैयार नही है।

इसीलिए वह अपनी समस्याओ का समाधान नही पा रहा है। इलियट के भीतर से यह आकुल पुकार आयी थी कि गति को छोड कर अब स्थिरता का सधान करो, शब्दो को छोड कर नीरवता की खोज करो, किन्तु, इलियट यही कहने के कारण परपरावादी करार दिये गये। जो भी नास्तिक नही है, वह आधुनिकता से दूर है, इस अमान्य सिद्धान्त के मानने से मनुष्य और भी घबराहट मे पड़ गया है।

जब भी काव्य विज्ञान के सामने घुटने टेकता है, स्पेगलर कहते है कि सस्कृति का विनाश उसी समय आरम्भ हो जाता है। यह स्थापना हमे ठीक मालूम होती है और हमारा ख्याल है कि आधुनिक-बोध का प्रवाह हमे भावनाओ से उखाड़ कर विज्ञान नहीं, विनाश की ओर ले जा रहा है। अगर कवित्व नही रहा, भावनाएँ नही रही, तो आदमी 'रोबोट' के सिवा और रह क्या जायेगा? साहित्य के भीतर विज्ञान की प्रतिष्ठा को, जरूरत से ज्यादा, महत्त्व दे कर हमने उस कार्य का श्रीगणेश कर दिया है, जो अगर चलता रहा, तो एक समय मनुष्य को मनुष्यता से उखाड़ कर 'रोबोट' की श्रेणी मे पहुँचा देगा।

स्थिति अभी भी ऐसी नही है, जो चिंता से बिलकुल निर्मुक्त हो। विज्ञान के सत्य का खडन कोई नही करता, किन्तु, मूल्यो की हर स्थापना विरोध को जन्म

देती है। विज्ञान की बनायी हुई तस्वीर तकरार की चीज नहीं है, किन्तु, मूल्यो के आधार पर निरूपित चित्र केवल काल्पनिक समझे जाते हैं। लोग या तो समझ कर भी उन्हे नही समझते अथवा सापेक्ष्य कह कर वे उन्हे टाल देते हैं। दो चित्रकारो के द्वारा बनाये गये दो चित्र अगर हमारे सामने लाये जायँ, तो उनके परीक्षण की विधियाँ दो हो सकती हैं। एक तो यह कि कौन चित्र लबाई या चौडाई मे किससे कितना बडा या कितना छोटा है। यह परीक्षण का वैज्ञानिक तरीका है और, माप-जोख के बाद, विज्ञान इस बारे मे जो कुछ भी कहेगा, उसे सभी लोग आँख मूंद कर स्वीकार कर लेंगे। किन्तु, इस प्रकार से क्या चित्रो का मूल्याकन किया जाता है ? लेकिन, विपद की बात यह है कि जभी यह चर्चा शुरू की जायगी कि कौन चित्र किससे अधम अथवा श्रेष्ठ है, तभी मतभेद खडे हो जायेंगे और ऐसा शास्त्रार्थ आरभ हो जायेगा, जिसका अन्त कभी होता ही नहीं है।

अब ऐसे दार्शनिक भी निकल आये हैं, जो कहते हैं कि चूंकि मूल्य-विषयक निर्णय अथवा जाँच के किसी भी वैज्ञानिक तरीके का आविष्कार असभव है, अतएव सभी मूल्यो को त्याज्य समझ कर छोड देना चाहिए। यही वह खतरा है, जो हमे साहित्यकारो की विज्ञान-आराधना मे दिखायी देता है। लेकिन यहाँ भी अपराध विज्ञान का नहीं, बल्कि उन पडितो का है, जो मूल्य-बोध-जैसी भावनात्मक प्रक्रिया का सपूर्ण विश्लेषण विज्ञान के फारमूलो से करना चाहते हैं। मूल्य-बोध के कार्य मे विज्ञान की सहायता सीमित ही हो सकती है। अगर आधुनिक पडित यह मानते हो कि कविता, कला और धर्म की सारी बातें, आदि से अत तक, वैज्ञानिक होनी ही चाहिए, तो और कलाओ का हश्र चाहे जो भी हो, किन्तु, कविता नही बचेगी, धर्म नही बचेगा।

सभी युगो मे मनुष्य मूल्य और मान्यता के किसी न किसी सर्वसम्मत आधार मे विश्वास करता था। किन्तु, अब वह ऐसे किसी भी आधार मे विश्वास करने को तैयार नही है, जिसका समर्थन विज्ञान नही करता हो। यह चिंतन की उसी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसने मनुष्य को यह बताया था कि चूंकि शरीर के चीर-फाड से आत्मा नामक तत्त्व का पता नही चलता, इसलिए उसका अस्तित्व ही नही है। इस पद्धति का अनुकरण करके यह भी कहा जा सकता है कि विटामिन कोई चीज नही है, क्योकि लहू और मास मे वह कही भी दिखायी नही देती।

किन्तु, उन मनीषियो के लिए यह कोई असभव बात नहीं है, जो कविता को सोद्देश्यता से हटाते-हटाते अब वहाँ पहुँच गये हैं, जहाँ दृष्टिबोध अथवा वेल्टअनशाऊग भी लेखको की हीनता का सूचक बन गया है। किसी अतिम आदर्श अथवा दृष्टिबोध के अभाव को हम निम्नतम कोटि की नास्तिकता समझते हैं।

वह मनुष्य अभागा है, जिसने अपने जीवन भर मे पूर्णता की कभी कोई झलक नही देखी, जिसने किसी भी नाटक, कविता या उपन्यास की रचना के क्रम मे कभी भी यह अनुभव नही किया कि मैं जिस चीज की तलाश में था, उसकी एक झाँकी मुझे प्राप्त हो गयी है।

विज्ञान से जो माप्य है और विज्ञान से जो मापा नही जा सकता, इन दोनो तत्वो के बीच थोडा-बहुत द्वन्द्व सभी कालो मे रहता आया था। किन्तु, पहले के कवि और कलाकार उन दोनो के बीच सतुलन खोजते थे, सामजस्य बिठाते थे। किन्तु, नये कवि उन दोनो से पलायन कर रहे हैं। माप्य से पलायन वे इसलिए करते हैं कि वह ठोस, वास्तविक अथच कुरूप है। और अमाप्य से वे इसलिए भागते है कि विज्ञान उसका समर्थन नही करता। यह विज्ञान की विजय और कला की पराजय का दृश्य है। माप्य और अमाप्य के त्याग से जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसमे लिखने को कोई विषय कही रह ही नही जाता है। अतएव, स्वभावतः ही, नये कवि माप्य और अमाप्य के बीचवाले भेद को नाटकीयता प्रदान करते हैं, शब्दो के द्वारा उसे अभिनेय बनाते है। यह बड़ा ही महीन काम है और जो लोग सफलतापूर्वक उसे सपन्न कर रहे हैं, उनकी बौद्धिक शक्ति की सराहना करनी ही पडेगी। लेकिन यह हवा पर चित्रकारी करने के समान निरर्थक कार्य है। मगर, धरती जिसकी छूट गयी, वह हवा मे न उड़े, तो उसे अवलम्ब भी कहाँ मिलेगा ?

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

कोयला और कवित्व

—कला पर पद्यात्मक निबन्ध

(एक विदुषी को लिखा गया पत्र इस विषय में कि कला फलाशा से युक्त होती है या वियुक्त और कोयले का उत्पादन बढ़ाने को यदि गीत लिखे जायँ, तो वैसा रहे।)

देवि! 'कला के लिए कला' से आप व्यर्थ चिढ़ती हैं।
कर्म, विकर्म, अकर्म एक ही आरोहण के पद हैं।
एकमात्र आश्रय अकर्म ही है समस्त कर्मों का।
और जानती ही होगी, दुर्लभ अकर्म यह क्या है।

प्रेरित किसी लोभ से अथवा भीत किसी शंका से
कोयले की उत्पत्ति बढ़ाने को हम जब लिखते हैं,
वह लेखन की क्रिया कर्म होती है, और क्रिया यह
सीमित नहीं मानवों तक, पशु भी उसको करते हैं
प्रेरित क्षुधा, भीति या जैविक किसी अन्य चिन्ता से।

उपयोगिता जहाँ तक सम्मुख, जब तक हम कहते हैं,
वे ही कर्म-कलाप विहित हैं, जिनके सम्पादन से
हमें अन्न, धन, वस्त्र या कि कोयला प्रभूत मिलता है,
तब तक मानव किसी भाँति भी पशु से भिन्न नहीं है।
और कहीं कुछ है भी, तो गुण नहीं, मात्र गणना में।

सच है, मनुज बहुत ऊपर उठ आया है पशुता से;
किन्तु, मात्र जैविक ध्येयों पर जब भी वह अड़ता है,
पशुता आती उभर, शुद्ध मानवता दब जाती है।

देख जाइये आँख खोलकर, सारे जीव-जगत् मे
जो कुछ भी हो रहा, सभी जैविक आवश्यकता है।
जो भी कृत्य अनावश्यक है या कि अनुपयोगी हैं,
सब निसर्ग-वर्जित है पशु को। यह क्या कभी सुना है,
कोई मदकल द्विरद आत्महत्या कर कही मरा हो
प्रणय-निराशा से विपण्ण या जीवन से घबरा कर ?

यह तो मानव ही है, जो उपयोगो की सीमा से
बाहर निकल नाचता है, जब घर की चुल्लि बुझी हो,
करता है मगीत सिद्ध सचित सम्पत्ति लुटाकर,
और प्रेम के लिए महा साम्राज्य छोड देता है।

ज्ञान ज्ञान के लिए नही होता, तो क्यो उत्तर से
आविष्कार चमक उठता उस समय, ज्ञानयोगी जब
किसी बात के लिए जमा दक्षिण को देख रहा हो ?

उपयोगिता समग्र सत्य है, तो रहस्य यह क्या है ?
लोग दूसरो के निमित्त क्यो प्राण दिया करते है ?
और छोड धन, धाम, रूपसी प्रिया, पुत्र, परिजन को
क्यो मनुष्य वन का फकीर, सन्यासी बन जाता है ?

गहराई मे उतर देखिये तो यह साफ दिखेगा,
उसी बिन्दु से मानव का मनुजत्व शुरू होता है,
जिसके इधर जगत् उपयोगी, उधर अनुपयोगी है।

उपयोगिता समग्र सत्य थी, जब मनुष्य बर्बर था।
पर, ज्यो-ज्यो सभ्यता बढी, त्यो त्यो मनुष्य के मन मे
उन तत्त्वो के लिए प्रेम पग-पग बढता आया है,
जिनका कोई स्थूल या कि जैविक उपयोग नही है।

विवरो का वासी मनुष्य अब महलो मे रहता है।
और महल भी कैसे ? जो अम्बर को चूम रहे हो;
नही मात्र आश्रय देने को वर्षा, धूप, तुहिन से,
पर, ऐसे, जिनमे सुरम्यता, शोभा हो, सुषमा हो;

सोयी हो कल्पना दूधिया चूने की आभा में
और खिड़कियों पर सुरंग में सपने झूल रहे हों।

बाहर जब से चला मनुज उपयोगों के घेरों से,
तब से उसके हाव-भाव, ढब-ढांचे बदल गये हैं।
पशुओं में जो काम, मात्र, कारण भर था प्रजनन का,
वही मनुष्यों में आकर अब कितना बिफर गया है!

पशु कह पाते नहीं भेद जो मन का कूद, रँभा कर,
वही भेद नारी-नर अनबोले ही कह जाते हैं
केवल आंखों से निहार चोरी चोरी आंखों में।

और काम अब राज रहा है कितनी व्यापकता से!
ध्यानमग्न किस भांति बारहों मास विकल रहते हैं
नर नारी के लिए और नारियां नरों को लेकर!
कहां गयी ऋतु की मर्यादा, वह देशना प्रकृति की?

लगता है, मानो, छिपकर ली चुरा पुष्पधन्वा ने
ताली ही सम्भ्रान्त, सभ्य, शिक्षित समाज के मन की।
एक काम से अब अनेक उलझनें जन्म लेती हैं।

देख लिया यदि आज किसी ने आसव-भरे नयन से,
कल ही से युवती के सारे भाव बदल जाते हैं!
स्वयं खोज लेती अनन्त आकर्षण के स्रोतों को,
नयी भंगिमा भर लाती है चितवन और हँसी में,
रंग चढ़ा लेती कपोल पर, भँवों और अधरों पर,
चलने में अनुकरण हंस, गज का करने लगती है।

और प्रेम की प्रकृतियों से जगे हुए मानव की
त्वचा नहीं सन्तुष्ट देर तक रहती रक्ष वसन में,
बहुत शीघ्र कामना मृदुलता की करने लगती है।
जीभ मांगती स्वाद, नयन खोजते लोक फूलों का,
मन मादकता की तरंग पर उड़ा-उड़ा फिरता है

गहन, गुह्य, निस्सीम गगन मे, जहाँ पहुँच जाने पर
कनक नही, केवल अन्तर्मन का प्रसार मिलता है।

यह सौभाग्य कहाँ था, जब हम शाखामृग बर्बर थे ?
इतनी विपद कहाँ थी, जब मानव पशु का भाई था ?

मात्र स्वास्थ्य ही नहीं, सभ्यता मे कोई रुज भी है,
जिसको भी यह रोग भयानकता से लग जाता है,
शक्ति न रहती शेष देह मे बाघो से लडने की,
वृक, शृगाल भी आसानी से उसे फाड खाते हैं।
अघ पात है हुआ अमित देशा, व्यक्तियो, जनो का,
नही लोभ या निर्दयता से, पर, इससे कि उन्होने
करुणा, दया, त्याग, यानी सभ्यता बहुत सीखी थी।

तो क्या हो ? सभ्यता छोड फिर वापस लौट चलें हम
नीचे वहाँ, जहाँ दन्तासुर डाढें पजा रहा है ?
और पहन लें हम भी फिर फौलादी व्याघ्रनखो को ?
अथवा बढते चलें लक्ष्य की ओर सोच यह मन मे,
अभी शृंग चढते चढते बलिदान बहुत देना है,
नही मात्र तन के शोणित का, मन के भी सपनो का ?

उपयोगा पर अडे रहे हम, तो यह बात सही है,
अन्न, वस्त्र, धन, धाम, प्रचुरताओ को कमी न होगी।
पर, उड्डयनशील, चिंतन लाभी मन का क्या होगा,
वह मन जो अब भी पशुआ मे बहुत सरल, सीमित है,
पर, मनुष्य मे आ असीम अबर सा फैल गया है ?

इन्द्रधनुष, तारे, हरीतिमा और गुप्त जगती वह,
जो अदृश्य म उडने का आमत्रण भेज रही है,
ये, सच ही, हैं त्याज्य, क्योकि इनका उपयोग नही है ?

खा-पीकर सो जाय, हाय, इतना ही मनुज नही है।
निद्रा के वन म भी वह सपना देखा करता है
उन अभुक्त छवियो का, जो जीवन म नही मिली हैं,

या उनका, जो दौड रही हैं अभी रक्त के कण मे
अनाख्यात, अव्यक्त, राह देखती हुई भाषा की।

बडा भाग्य उस पशु का, जिसके मन का पख नही है
बडे सुखी वे लोग जिन्होंने चिता से रचने को
अपने मन के पख नोच कर बाहर फेंक दिये हैं,
सुख से जो कर काम, तृप्त खा-पीकर सो जाते हैं,
जैसे पशु कुछ नही खोजते भोजन पा लेने पर।

पर, पशु को क्यो हँसें ? अभी भी बहुत भाव पशुता के,
सत्य कहूँ तो, ज्यो के त्यो, मानव मे भरे हुए हैं।
वन मे थी जो आग, बहुत जीवित है राजपुरी म,
दाहकता है एक, मात्र वाचक भर बदल गया है।

टिकने देती भैंस नही बाहरवाली भैंसो को,
अपने खूँटे से ढकेल कर बाहर कर देती है।
यही भाव विकसित, प्रशस्त हो कर नर की भाषा मे
राष्ट्र, राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र का गौरव कहलाता है।

पर, इसलिए कि वे मनुष्य हैं और सभी मनुजो मे
निरुद्देश्य आनन्द पान करने की सहज तृषा है।

और श्रमिक ही क्यो ? समेट मुरली, फावडे उठा कर
कवि-गायक क्यो नही जायेंगे कोयले के खानों मे ?
मात्र लेखनी ही लिखती है नहीं काव्य जीवन का,
लिखा जा रहा, महा रोर मे, वह पन्ने-पन्ने पर
हल की नोको से, कुदाल से और ट्रैक्टरो से भी।

गीतो की फुहियां पडने से स्वेद सूख जाते है।
और पसीनो के जल मे जब ज्ञान स्नान करता है,
नयन शुद्ध होते, दर्शन की रीढ सुधर जाती है।

सिद्ध गीत, जो रचा गया हो करघो की घर्घर मे,
सिद्ध पुरुष जो नानाविध कर्मों मे लगा हुआ है,
बरबस नही, सहर्ष, स्वय प्रेरित अपनी इच्छा से,
क्योंकि कर्म श्रम नही, कर्म मुदिता, आनन्द, पुलक है।

धन्य मनुज वह, जिसे कर्म निज मे रत कर लेता है
जैसे प्रिया कान्त प्रेमी को, कला कलाकारो को,
धन्य पुरुष, जो निरुद्देश्य निज कर्म किया करते है,
जैसे उगता सूर्य, समय पर सदा सिर्फ उगने को,
इस चिता मे नही, न जानें, कितना तम हरता है।
जैसे बहती वायु, विचारे बिना बात यह मन मे,
जानें, शीतलता बिखेरनी होगी आज कहाँ पर।
जैसे खिलते कुसुम, कर्म-रत बिना किसी आशा के,
आज कुतलो मे गुँथना या मन्दिर मे चढना है।

सविता, पुष्प, समीर, चाँदनी, इन सुन्दरताओ का,
जो भी हो परिणाम, किन्तु, कोई उद्देश्य नही है।
तब भी ये अवयव निसर्ग के कितने कर्म-निरत हैं ?
और आइये, अब अकर्म, कर्मों की बात करें हम।

या उनका, जो दौड़ रही हैं अभी रक्त के कण मे
अनाख्यात, अव्यक्त, राह देखती हुई भाषा को।

बडा भाग्य उस पशु का, जिसके मन को पंख नही है,
बड़े सुखी वे लोग जिन्होंने चिंता से बचने को
अपने मन के पख नोच कर बाहर फेंक दिये हैं,
सुख से जो कर काम, तृप्त खा-पीकर सो जाते हैं,
जैसे पशु कुछ नही खोजते भोजन पा लेने पर।

पर, पशु को क्यो हँसें ? अभी भी बहुत भाव पशुता के,
सत्य कहूँ तो, ज्यो के त्यो, मानव मे भरे हुए हैं।
वन मे थी जो आग, बहुत जीवित है राजपुरी मे,
दाहकता है एक, मात्र वाचक भर बदल गया है।

टिकने देती भैंस नही बाहरवाली भैंसो को,
अपने खूँटे से ढकेल कर बाहर कर देती है।
यही भाव विकसित, प्रशस्त हो कर नर की भाषा मे
राष्ट्र, राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र का गौरव कहलाता है।

और आपको विदित नही क्या, राष्ट्रवाद यह कैसे,
विश्व-मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है ?
कारण ? राष्ट्रवाद उपयोगी भाव, निरी पशुता है।
विश्व-पुरुष पाशविक धरातल पर कैसे जनमेगा ?
वह जनमेगा जब निहीन उपयोगो के घेरो को
अतिक्रमित कर हम असीम उस जग मे चरण धरेंगे,
जहाँ न होगा ज्वलन-ताप जैविक आवश्यकता मे,
काम प्रेम से और लोभ अपरिग्रह से हारेगा,
जहाँ पहुँच कर मनुज विरत होगा सब सग्रामो से,
नही भीत इससे कि शान्ति की मुट्ठी बड़ी प्रबल है,
पर, इसलिए कि मार-पीट करना ही बहुत बुरा है।

जहाँ गीत श्रमिको की श्रुतियो मे रस बरसायेंगे
नही मात्र इस हेतु, काम से वे थक कर आये हैं
और श्रान्ति को मिटा काम पर फिर उनको जाना है;

पर, इसलिए कि वे मनुष्य हैं और सभी मनुजों में
निरुद्देश्य आनन्द पान करने की सहज तृषा है।

और श्रमिक ही क्यों ? समेट मुरली, फावड़े उठा कर
कवि-गायक क्यों नहीं जायेंगे कोयले के खानों में ?
मात्र लेखनी ही लिखती है नहीं काव्य जीवन का,
लिखा जा रहा, महा रोर में, वह पन्ने पन्ने पर
हल की नोकों से, कुदाल से और ट्रैक्टरों से भी।

गीतों की फुहियाँ पड़ने से स्वेद सूख जाते हैं।
और पसीनों के जल में जब ज्ञान स्नान करता है,
नयन शुद्ध होते, दर्शन की रीढ़ सुधर जाती है।

सिद्ध गीत, जो रचा गया हो करघों की घर्घर में,
सिद्ध पुरुष जो नानाविध कर्मों में लगा हुआ है,
बरबस नहीं, सहर्ष, स्वयं प्रेरित अपनी इच्छा से,
क्योंकि कर्म श्रम नहीं, कर्म मुदिता, आनन्द, पुलक है।

धन्य मनुज वह, जिसे कर्म निज में रत कर लेता है
जैसे प्रिया कान्त प्रेमी को, कला कलाकारों को,
धन्य पुरुष, जो निरुद्देश्य निज कर्म किया करते हैं,
जैसे उगता सूर्य, समय पर सदा सिर्फ उगने को,
इस चिंता में नहीं, न जानें, कितना तम हरना है।
जैसे बहती वायु, विचारे बिना बात यह मन में,
जानें, शीतलता बिखेरनी होगी आज कहाँ पर।
जैसे खिलते कुसुम, कर्म-रत बिना किसी आशा के,
आज कुंतलों में गुँथना या मन्दिर में चढ़ना है।

सविता, पुष्प, समीर, चाँदनी, इन सुन्दरताओं का,
जो भी हो परिणाम, किन्तु, कोई उद्देश्य नहीं है।
तब भी ये अवयव नित्तर्ग के कितने कर्म निरत हैं ?
और आइये, अब अकर्म, कर्मों की बात करें हम।

जब भी मनुज कर्म करता है फल की आस लगा कर,
जब भी करते हुए कर्म वह यह सोचा करता है,
यह तो बहुत-बहुत अप्रिय है, पर, क्या हाय, करें हम ?
इसे छोड भागें तो घर पर जा कर क्या खायेंगे ?
अथवा यह कि गीत होने पर भी ये गीत नहीं हैं,
तब भी लिखो, क्योंकि, अपने मे ये कुछ भले नहीं हों,
पर, क्या बुरा, वृद्धि हो यदि कोयले के उत्पादन मे ?
तभी कर्म से मानव की ग्रन्थियाँ जन्म लेती है,
तभी कर्म नर के जन्मों का बन्धन बन जाता है।
यही कर्म है वह, जिसके निष्प्राण भार के नीचे
चूर्ण-चूर्ण हो गिर जाता है शिखर मनुज के मन का।
यह कुछ वैसा ही है, जैसे कोई मृदुल जुही को
उठा चांदनी से रख दे भट्ठी के पास सटा कर;
या जैसे अप्रिय नर के नीरस, बलात् चुम्बन से
बार-बार कुठिता, व्यग्र रमणी कुम्हला जाती है।

किन्तु, कर्म जब छा जाता कर्मी के पूरे मन मे,
जबकि कर्म के सम्पादन मे नहीं हाथ ही केवल,
पर, सारा अस्तित्व, प्राण, तन, मन, सब लग जाते हैं,
तभी कर्म के भीतर से आनन्द फूट पडता है।
कर्त्ता सहज प्रसन्न पहुँचते ही समाधि की स्थिति मे
जाता भूल, कर्म यह क्या है, और कौन फल होगा।

कर्म कर्म-पद छोड़ धर्म बन जाता तब कर्मी का,
जैसे शीतलता जल का, दाहकता धर्म अनल का,
जैसे बहना धर्म वायु का, सूरज का उगना है।

जहाँ कर्म बदला स्वधर्म मे, फिर तो कर्त्ता नर की,
कर्म छोडकर और अन्य गति ही न शेष रहती है।

ऐसी कुछ रसदशा प्राण की, मन की हो जाती है,
न तो भाग सकता स्वकर्म से, न तो कभी थकता है।

कभी श्रान्त होते देखा है कही किसी ने रवि को
बार-बार के उगने या निशदिन चलते रहने से ?
जब स्वधर्म मिल गया मनुज को, फिर विक्लान्ति नही है।
और थकेगा मानव क्यो अपने प्रिय कर्त्तव्यो से ?

प्रेम-सिन्धु मे डूब गया जो, फिर उसके जीवन मे
श्रान्ति और विश्रान्ति-बीच की रेखा मिट जाती है।
रहता निरत अनिद्र, सजग दिन भर जिसकी रचना मे,
सो जाता है उसी कर्म का ध्यान स्वप्न मे लेकर।
कवि लिखता जब नही, काव्य तब भी चलता रहता है।

कवि का ही दृष्टान्त दिया क्यो ? निखिल महीमडल मे
कवि प्रतीक है उस अजस्र, मनमोहक कर्मठता का,
जो कर्मो का भार नही, आनन्द, निदिध्यासन है।
और छूट सारे प्रलोभनो, सारी आशाओ से
कवि हो रहता जिस प्रकार एकान्त-लीन रचना मे
किसी लाभ के लिए नही, केवल अदृश्य मे धँसकर,
जो अरूप है भाव, पकड़कर उन्हे रूप देने को,
केवल मन का ताप बहाने को प्रगीत-छन्दो मे;
केवल अपना मेघ प्राण से बाहर कर देने को;
केवल स्वय श्रवण करने को, युग के मूक हृदय मे
कौन गन्ध छटपटा रही है, पवन कौन चलता है;
केवल क्रुद्ध गरज उठने को जब निरीह गो-शिशु को
कोई वृक हो लिये जा रहा अपने अन्ध विवर मे;
केवल जल उठने को जब चारो दिशि आग बुझी हो,
करता हो प्रतिकार नही कोई दुर्दान्त अनय का;
वैसे ही, कोयला निकालने वालो के भी मन मे
एकनिष्ठ साधना चाहिए कोयला उत्पादन की,
किसी लाभ के लिए नही, केवल इस शुभ्राशय से,
है स्वधर्म ही सबसे उज्ज्वल धर्म कर्मसाधक का,
कोयला-उत्पादन से बढकर कोई काम नही है।

यही कर्म की वह स्थिति है, जिसको विकर्म कहते हैं।
यह विकर्म वाचक है दूषित नही, विशिष्ट क्रिया का।

कर्मी वह, जो कर्म-निरत है किसी लोभ या भय से,
किन्तु, विकर्मी वह, जिसमें शंका, भय लोभ नही है;
पर, तब भी, जो लगा हुआ है अपने कर्त्तव्यो मे,
क्योकि धर्म का त्याग कभी सम्भव या साध्य नहीं है।
देह कूद कर कभी निकल सकती है बाह्य त्वचा से?
दाहकता को छोड कभी क्या पावक जी सकता है?

ठहर गया जिसका विकर्म, उस सहज कर्मयोगी के
सारे कर्म अकर्म-भाव मे स्वय बदल जाते हैं।
यह अकर्म सन्यास नही है, न तो त्याग कर्मों का;
चरम-बिन्दु पर चढ़े प्राण की यह एकायन स्थिति है,
जब कर्मातिरेक के कारण कर्म नही दिखते हैं।
चक्र दीखता स्थिर, जब वह तेजी से घूम रहा हो।

कला कर्म का चरम रूप है; जिस एकान्त लगन से
कलाकार अपनी रचनाओ मे खोया रहता है,
वही आत्म-विस्मृति मिलती है कहाँ अन्य कर्मी मे?
और मिले, तो वह मनुष्य भी श्रमिक नही, स्रष्टा है।

जब तक नही सुई ध्रुव-सम्मुख, कुछ भी इधर-उधर है,
सभी कर्म तब तक श्रम होते और श्रान्तिकारी भी।
पर, जब सुई खड़ी हो जाती ठीक सामने ध्रुव के,
रचना का आनन्द निर्झरो-सा झरने लगता है।
श्रम हो जाता सृजन, श्रमिक तब स्रष्टा बन जाता है।

श्रम की करके बात लोग जो कवियों को हँसते हैं,
कहिये उन्हें कि दूर अभी दिल्ली है मानवता की।
जिस दिन श्रम मे श्रमिक लगेंगे कवि की तन्मयता से,
यह धरती उस रोज, सत्य ही, सुरपुर हो जायेगी।
भेद नही रह जायेगा कोई कवित्व-कोयले मे,
सभी करेंगे बात सृजन की, श्रम का नाम न होगा।

'कला कला के लिए' कहे, तो इससे क्यो जीवन का
मुख मलीन होता, मन मे कुछ चोट कही लगती है?

कला-पुष्प खिलता जिस द्रुम पर, उसकी मूल-शिराएँ
जीवन मे यदि नही, कहाँ पर और गड़ी होती हैं ?

कला नही वह फेन, हवा मे जो उड़ता फिरता है
डरा हुआ सूखी जमीन की धूलो से, ज्वाला से।
कला नही वह रग-बिरगा फलक रिक्त, जिस पर से
सपने का पंछी केवल मँडरा कर भाग गया हो।

कला नही वह गान, सितारे जिसे शुरू करते हैं,
बडे नाज से, बडी अदाओ से आकाशी सुर मे,
पर, देते हैं छोड़ बीच मे ही, मानो, आगे की
बातें उनको याद नही या कड़ियाँ भूल गये हो।

कला नही वह स्पर्श, (बात क्या गहन प्राण-गगा की ?)
बाहर की भी त्वचा नही जिससे कपित होती है।
शोणितहीन, विपण्ण चित्र ये, जो भी उतर रहे है,
आभिजात्य के रोग, कुलीनो की मानस-क्रीड़ा हैं।

सच है, कला निसर्ग-मुक्त है नियति-रचित नियमो से,
न तो नीति-सेविका, न तो चटिका किसी दर्शन की;
किन्तु, कौन है ज्ञान, नही सौरभ जिसके फूलो का
कला-लोक पर घिरे व्योममडल मे मँडराता है ?

कला बैठती वहाँ, जहाँ से सभी ज्ञान चलते हैं,
और वहाँ भी, जहाँ सभी ज्ञानो का लय होता है।
आदि-अत के बीच तार जितने भी लगे हुए हैं,
सब उठते झनझना, कला जब उन्हे कभी छूती है।

जितने भी हैं ज्ञान, ऊर्मियाँ हैं अगाध सागर की।
कला सगिनी उस वडवानल की, जो बैठ अतल मे
अपनी लौ से महासिन्धु के मन को औट रहा है।

इसीलिए, जब कला बोलती, सिन्धु गरज उठता है,
अ[illegible]ास से म[illegible]शैल की छाती [illegible] जाती है;

परिशिष्ट—२

पुरानी और नयी कविताएँ

"नो, हिज़ फर्स्ट वर्क वाज़ द बेस्ट।"

—एज़रा पोण्ड

दोस्त मेरी पुरानी ही कविताएँ पसन्द करते है;
दोस्त, और खासकर, औरतें।

पुरानी कविताओं मे रस है, उमग है;
जीवन की राह वहाँ सीधी, बे-कटीली है;
सरिताएँ जितनी हैं, फूलो की छाँह मे हैं;
सागर मे नीलिमा है, चचल तरग है।

पुरुष वड़े ही पुरज़ोर है;
या तो बड़े कोमल है अथवा कठोर है।
क्रोध मे कभी जो नर-नाहर ये बोलते है;
भूमि काँपती है, कोल-कमठ कलमल होते,
दिग्गज दहाड़ते, समस्त शैल डोलते है।

नारियाँ बड़ी ही अनमोल है;
नख-सिख तक नपी-तुली,
ठीक-ठीक साँचे मे ढली हुई;
चन्दन, कदम्ब और कदली की छाया मे
दूध और घी पर पली हुई।
भगिमा स्वरूप को सँवारती है;
वृत्त की गोलाई, जो भी देखे, उसे मारती है।

तेजी है अनोखी काम-वाण में ।
घाव जो लगेंगे कभी प्राण मे,
रेखा मे कहूँ तो 'राय जामिनी' की तूलिका की
चित्रकारी के वे प्रतिमान होंगे ।
छन्द मे कहूँ तो रोला-छप्पय के समान होंगे ।

चर्म को न छीलता, न छाँटता हूँ ।
काम का पुराना बाण
गोदता नही है प्राण,
दोहों के समान नपे तुले व्रण काटता हूँ ।

किन्तु, नयी कविता ? गणेशजी का नाम लो ।
बुद्धि और कल्पना के चौक पं खडी हुई
कहती है, बुद्धि ही कशा है, इसे तेज रखो,
कल्पना बढे जो, तो लगाम जरा थाम लो ।

कविता न गर्जन, न सूक्ति है ।
वीर का न घोप, न तो वाणी खर चिन्तकों की,
चौंके हुए आदमी की उक्ति है ।

कविता न पूर्त्ति है, न माँग है ।
सीढियाँ नही हैं कि हरेक पाँव सीधा पडे,
'लाजिक' नही है, ये छलाँग है ।

अर्थ नही, काव्य शब्द-योग है ।
वासना का कीर्तन नही है, खुद वासना है,
रागो का ये कागजी बखान नही, भोग है ।

तन्तुओं के जाल शब्द को जो कही बाँधते हो,
सारे बन्धनों के तार तोड दो;
अर्थ से बचो कि अर्थ बेडी है परम्परा की,
अर्थ को दबाने से ही शब्द बडा होता है ।
निश्चित-अनिश्चित का सगम जहाँ है सूक्ष्म,
कविता का सद्म निरालम्ब खड़ा होता है ।

और वे तरंगमयी नारियाँ ?
पुष्ट देह वाली सुकुमारियाँ ?
सोची गयी इतनी कि सोच में समा गयी।
स्थूल से निकल सूक्ष्म कल्पना में छा गयी।
नारी अब स्वप्न है, विचार है।
बाहु-पाश में जो कभी दामिनी-सी नाचती थी,
'साइक' में करती विहार है।

नारी शक्ति, नारी धूप-छाँव है।
जानना हो विश्व को, तो नारियों के प्राण पढो,
भागना हो विश्व से, तो नारी तेज नाव है।

और नर भी न नर ठेठ है।
शंकित, सजग, स्याद्वादी, अनेकान्तवादी,
कोई 'फौस्ट', कोई 'हैमलेट' है।

आखिर, मनुष्य और क्या करे ?

जितना ही ज्यादा हम जानते हैं,
लगता है, आप अपने को उतना ही कम,
उतना ही कम पहचानते हैं।

जितनी ही झाँकी बुद्धि लाती दूर पार की,
उतने ही जोर से गुफाएँ बन्द गूँजती हैं,
चीखती हैं कुंजी अनजाने, बन्द द्वार की।

केवल कवित्व ही समर्थ है।
सीढियाँ नहीं हैं जहाँ, सारा तर्क व्यर्थ है।
तब भी समस्या बडी गूढ है।
हम दोनो मे से, राम जानें, कौन मूढ है।

भूले भी न मेरी विपदाएँ चाहते हैं दोस्त,
केवल पुरानी कविताएँ चाहते हैं दोस्त,
दोस्त, और खास कर, औरतें।

परिशिष्ट—३

सादृश्य

(चार्ल्स बोदलेयर की उस कविता का अनुवाद,
जिसे प्रतीकवादियों ने अपना घोषणा-पत्र माना था।)

प्रकृति-मन्दिर के हर सजीव स्तम्भ से,
समय-समय पर, धुंधले शब्द निकलते हैं।
मनुष्य प्रतीकों के वन-कुंजों से होकर चलता है—
प्रतीकों के वन-कुंज,
जो अपरिचित भी हैं और गम्भीर भी,
फिर भी आंखों में परिचय की आभा लिये
जो मनुष्य के पीछे-पीछे चलते हैं।

दूर से खिंचकर आने वाली प्रतिध्वनियां
आपस में मिल जाती हैं,
एक दूसरी में सक्रमण करती हैं
और फिर गहरे, अन्धकारपूर्ण
आलिंगन में मूर्च्छित हो जाती हैं।
इसी तरह खुशबू, रंग और आवाज
आपस में मिलकर एक हो जाते हैं।

खुशबुएं बच्चों के बदन-सी शीतल हो सकती हैं;
सारंगी की तरह मधुर
और चरागाह की तरह
हरी और ताजी हो सकती हैं।

उलझी हुई, तीव्र और विजयिनी गन्ध
रेले में आती है
और सभी असीम वस्तुओं के प्रसार के साथ
मिलकर एक हो जाती हैं।
अम्बर, मश्क, धूप और चन्दन में से हर एक
आत्मा और इन्द्रियों के
अतीन्द्रिय अभियान का गीत गाता है।

●